चतुर्थ परिच्छेद

व्याकरणशास्त्र
का
इतिहास

(१) पाणिनि पूर्व वैयाकरण
(२) उत्कर्ष-काल
(३) व्याख्या-काल
(४) प्रक्रिया-काल
(५) खिल ग्रन्थ
(६) पाणिनि से इतर वैयाकरण सम्प्रदाय
(७) पालि—प्राकृत व्याकरण

व्याकरण प्रशस्तिः

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ ११ ॥

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्द एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ १२ ॥

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ १३ ॥

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ॥ १४ ॥

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमार्गाणाम् अजिह्मा राजपद्धतिः ॥ १५ ॥

—वाक्यपदीय—आगमकाण्ड

व्याकरण शास्त्र

व्याकरण शास्त्र वेदपुरुष का मुखस्थानीय है—मुखं व्याकरणं स्मृतम् । मुख होने के कारण ही वेदाङ्गों में यह मुख्य है । शब्द तथा अर्थ के विश्लेषण पर आधारित इस विद्या का उदय भूतल पर भारतवर्ष में ही सम्पन्न हुआ । व्याकरण का साक्षात् सम्बन्ध वेद के साथ है । क्योंकि वेद में अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं[1] जो व्याकरण की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती हैं । पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन बतलाने वाली पाँच ऋचाओं को उद्धृत किया है[2] तथा उनका व्याकरण शास्त्रपरक अर्थ भी दिया है । फलतः प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में व्याकरण वेद का ही अंग है । इस शास्त्र का उदय पदपाठों से प्राचीनतर है । पदपाठ में प्रकृति का प्रत्यय से, धातु का उपसर्ग से तथा समस्त पदों में पूर्व का उत्तर पदों से विभाग पूर्णतया प्रदर्शित किया जाता है और यह विभाजन-पद्धति व्याकरण शास्त्र के अनुशीलन पर पूर्णतः आधृत है । इतना ही नहीं, व्याकरण के अन्तर्गत प्रतिपादिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय आदि प्रख्यात पारिभाषिक पदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२४) में किया गया है । अन्य ब्राह्मणों में भी ऐसे पारिभाषिक शब्द यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं । फलतः व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता, वेदनिर्दिष्टता तथा वेदाङ्गमुख्यता स्पष्टतः प्रमाणित होती है ।

व्याकरण का प्रयोजन—पतञ्जलि पश्पशाह्निक में व्याकरण के प्रयोजनों का विशद वर्णन किया है और अनेक वैदिक मन्त्रों को इस प्रसंग में उद्धृत किया है । कात्यायन ने भी **'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'** अपने वार्तिक में इसका निर्देश किया है । इसका अभिप्राय है (क) **वेद का रक्षण**—लोप, आगम तथा वर्ण के विकारों का ज्ञाता ही वेद का रक्षण कर सकता है । (ख) **ऊह**—यज्ञ में मन्त्रों की

---

1. ऐसी व्युत्पत्तियों का दृष्टान्त देखिये—
   (क) ये सहांसि सहसा सहन्ते ऋ० ६।६६।९
   (ख) धान्यमसि धिनुहि देवान् यजु० १।२०
   (ग) येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुमते सदा । साम० उ० ५।२।८।५
   (घ) तीर्थैस्तरन्ति अथर्व० १८।४।८
2. चत्वारिश्रृंगा० (ऋ० ४।५८।३), चत्वारि वाक् (ऋ० १।१६४।४५) चत्वारि वाक् का व्याकरणपरक अर्थ यास्क ने भी प्राचीन काल में किया था (निरुक्त १३।२—नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणाः)।

विभक्तियों का कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। (ग) **आगम**—वेद स्वयं व्याकरण के अध्ययन पर आग्रह रखता है। (घ) **लघु**—शब्दों का लघु उपाय से ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। (ङ) **असन्देह**—मन्त्रों के उच्चारण तथा अर्थों के परिज्ञान में सन्देह का निराकरण व्याकरणज्ञ ही कर सकता है। फलतः लौकिक शब्दों की रूपसिद्धि तथा प्रयोगक्षमता का भी कार्य व्याकरण के ज्ञाता द्वारा ही सम्पन्न होता है। वेद के संरक्षण के साथ तो व्याकरण का प्रधान सम्बन्ध है।

संस्कृत व्याकरण के निर्माता महर्षि पाणिनि हैं और उनका शब्दानुशासन अष्टाध्यायी के नाम से विश्वविश्रुत हैं। वे इसके आदि व्याख्याता नहीं हैं, प्रत्युत उनसे प्राचीनतर आचार्यों का समुल्लेख प्रातिशाख्यों में, पाणिनि के सूत्रों में तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होकर व्याकरण की विपुलता का स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि का व्याकरण संक्षिप्त रूप में वर्तमान है। उनसे पूर्व इस शास्त्र का विशेष अभ्युदय तथा विस्तार परिलक्षित होता है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद के मन्त्रों, छन्दों तथा पदपाठ के साथ साक्षात् है। अष्टाध्यायी में शब्द के स्वरूप का विश्लेषण है। संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पाणिनीय सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वशाली तथा प्रमुख है। कातन्त्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम, चान्द्र आदि व्याकरण सम्प्रदायों का भी कालान्तर में उदय हुआ। इन सबका संक्षिप्त परिचय इस परिच्छेद में दिया जावेगा।

महर्षि पाणिनि से भी पूर्वकाल में अनेक वैयाकरण हो गये हैं जिनके मत का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में किया गया है। इस प्रकार हम पाणिनीय व्याकरण के इतिहास को चार युगों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) पूर्व पाणिनीय-काल
(२) उदय-काल (ई० पू० ६००—ई० पू० ३००)
(३) व्याख्या-काल (पञ्चम शतक—१४ शतक)
(४) प्रक्रिया-काल (१५ शतक—वर्तमान काल)

इन विभिन्न युगों की विशिष्टता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रथम युग में हम व्याकरण शास्त्र के विभिन्न आचार्यों के नाम से परिचय रखते हैं। उनकी कृतियों के कतिपय अंश ही इधर-उधर बिखरे मिलते हैं, पूरे ग्रन्थ का पता अभी तक नहीं चलता। उदय काल इस शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह इस शास्त्र का सर्जनात्मक युग है जिसमें पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपनी रचनाओं से व्याकरण के मौलिक तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत किया। व्याकरण शास्त्र में महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की मुख्यता **'त्रिमुनि व्याकरणं'** की उक्ति का मुख्य आधार है। पाणिनि ने **अष्टाध्यायी** में व्याकरण के तथ्यों को सूत्रबद्ध किया।

कात्यायन ने अपने वार्तिकों की रचना की और इसीलिए वे 'वार्तिककार' के नाम से प्रख्यात हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा वार्तिकों के ऊपर भाष्य लिखकर पाणिनीय व्याकरण को प्रौढ़ता के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। व्याख्याकाल से अभिप्राय उस युग से है जिसमें अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के ऊपर टीकाग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इस युग के महनीय आचार्य हैं—जयादित्य, वामन, हरदत्त, कैयट आदि। प्रक्रियाकाल में व्याकरण को सुगम बनाने की भावना से प्रेरित होकर अष्टाध्यायी के क्रम को छोड़कर प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से सूत्रों का नवीन क्रम नियत किया गया तथा इन सूत्रों के ऊपर सरल वृत्तियाँ भी बनायी गयीं। इस काल के प्रधान वैयाकरण हैं—रामचन्द्राचार्य, शेष श्रीकृष्ण, भट्टोजिदीक्षित, नागेश आदि। इस प्रकार इन विविध युगों को पार कर पाणिनीय व्याकरण वर्तमान काल में उपनीत हुआ है जिसमें उसकी प्रौढता तथा अन्तरंग अध्ययन के साथ-साथ उसके बहिरंग अनुशीलन की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति जागरूक है।

प्रथम खण्ड

पाणिनि-पूर्व वैयाकरण

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में दस प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है जिनका यहाँ वर्णानुक्रम से दिया जा रहा है—

(१) **आपिशलि**—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है (६।१।९२)। महाभाष्य (४।२।४५) में भी इनका मत प्रमाण-रूप से उद्धृत किया गया है। शाकटायन व्याकरण की अमोघावृत्ति (३।२।६१) में पाल्यकीर्ति ने एक महत्वपूर्ण उदाहरण दिया है—'**अष्टका आपिशलपाणिनीयाः**' जिससे विदित होता है कि अष्टाध्याया के समान ही आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। कात्यायन और पतंजलि के समय में इस व्याकरण का विशेष प्रचार दीख पड़ता है। क्योंकि आपिशल व्याकरण को पढ़ने वाली ब्राह्मणी 'आपिशला' शब्द से निर्दिष्ट की गई है। आपिशल व्याकरण भी सूत्रात्मक था। इसके उपलब्ध सूत्रों से पता चलता है कि यह बहुत ही सुव्यवस्थित तथा लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का व्याख्यान करने वाला था। पाणिनीय व्याकरण के ऊपर आपिशल व्याकरण का बहुत ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह समानता सूत्रों की रचना में ही नहीं है प्रत्युत अनेक संज्ञायें, प्रत्यय तथा प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं। इतना ही नहीं, आपिशलि के धातुपाठ के जो उद्धरण मिलते हैं वे पाणिनि के तत्तद् पाठों से समानता रखते हैं। आपिशल शिक्षा और पाठों से समानता रखते हैं। आपिशलि शिक्षा और पाणिनि शिक्षा के भी सूत्र बहुत सदृश हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये पूर्वपाणिनीय युग के बहुत ही प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनकी शिक्षा प्रकाशित है।

आपिशल व्याकरण के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त यहाँ संक्षेप में दिए जाते हैं—

(१) ऌकार दीर्घ

आपिशल व्याकरण में ऋकार के समान ऌकार को भी दीर्घ माना गया है जो पाणिनि-व्याकरण के सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) वर्णों की परिभाषा

आपिशलि ने वर्णों की परिभाषा की थी, उनके व्याकरण में वर्गीय ब और वकार का भेद दिखाया गया है।

(३) विकार आदि की परिभाषा

आपिशलि ने आगम, आदेश, विकार और लोप की परिभाषाएँ बतायी थीं। पाणिनि के **'स्थानिवदादेशः'** में 'आदेश' शब्द से लोप और विकार का भी ग्रहण होता है।

(४) संज्ञा

आपिशल व्याकरण में पदसंज्ञा-विधायक **'विभक्त्यन्तं पदम्'** सूत्र था। व्याकरणेतर ग्रन्थों में वैसे वचन मिलते हैं।

(५) कारक

आपिशल व्याकरण का चतुर्थी-विभक्ति-विधायक सूत्र है—**"मन्यकर्मण्यनादर उपमाने विभाषाऽप्राणिषु"**। पाणिनि का भी ऐसा ही सूत्र है जिसमें 'उपमाने' पद नहीं है। विशेष इतना ही है कि पाणिनीय सूत्र के अनुसार उपमान से अधिक तिरस्कार बताने के लिए वाक्य में नञ् का प्रयोग करना पड़ता है—**"न त्वां तृणाय मन्ये"**। आपिशल व्याकरण के अनुसार सूत्र में 'उपमाने' पद होने के कारण उसका प्रयोग अनपेक्षित है, जिससे **"तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽपि"** यह भट्टि-प्रयोग उपपन्न होता है।

(६) तद्धित

(१) ४।२।४५ सूत्र के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि समूहार्थक तद्धित-प्रकरण में आपिशल व्याकरण में 'तदन्तविधि' होती थी। यह मत पाणिनि के द्वारा भी स्वीकृत है, जिसे पतञ्जलि ने उचित बताया है।

(२) आपिशल व्याकरण में 'सायन्तनम्' 'प्राह्णेतनम्' प्रयोगों की सिद्धि के लिए मकारादेश और एत्व पृथक् सूत्र से विहित है, जिसे पाणिनि ने प्रत्यय-विधायक सूत्र में ही निपातन किया है।

(३) आपिशल व्याकरण में 'न्यङ्कु' शब्द से तद्धित-प्रत्यय करने पर ऐजागम का निषेध था—"न्याङ्कवं चर्म"। पाणिनि के अनुसार "नैयङ्कवम्" होता है। ये दोनों प्रयोग काल-भेद से साधु हैं, इस विषय की चर्चा वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभदेव ने की है।

(४) आपिशलि और काशकृत्स्न का संयुक्त मत तद्धित में मिलता है। "शताच्च ठन्यतावशते" यह पाणिनि-सूत्र है, उन दोनों व्याकरणों में "अशते" के स्थान पर "अग्रन्थे" पाठ था। इस पाठ के अनुसार "शत्यः शतिको वा गोसंघः" इत्यादि अपाणिनीय प्रयोग बनते हैं। ऐसे प्रयोगों को कैयट आदि वैयाकरण टीकाकार

एकमत से असाधु मानते हैं। वस्तुतः पूर्वोक्त वृषभदेवीय कथनानुसार उन-उन शब्दों की देश-काल-भेद से साधुता माननी चाहिए।

आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में वतिप्रत्यय-विधायक "तदर्हम्" सूत्र नहीं था। भर्तृहरि और कैयट ने एक ही वस्तु को अवस्था-भेद से उपमा और उपमेय मानकर उक्त मत की पुष्टि की है। वास्तव में "तदर्हम्" सूत्र पढ़ने वाले पाणिनि और उक्त सूत्र का भाष्य उक्त मत के प्रतिकूल हैं।

(७) तिङन्त-पद-साधन-प्रक्रिया

आपिशल व्याकरण में पाणिनि के समान आत्मनेपद, परस्मैपद और उभयपद की व्यवस्था देखी जाती है।

आपिशल व्याकरण में पाणिनीय 'अस्' धातु 'स्' धातु था। अस्ति, आसीत् आदि प्रयोग अट् और आट् आगम से सिद्ध होते थे। काशिका के उदाहरण (१।३।२२) और उसकी टीका (न्यास तथा पदमञ्जरी) में स्पष्ट है।

भवति, सेधति आदि प्रयोगों में एक ही सूत्र से इगुपध और इगन्त धातुओं के गुण-विधान की उच्छृङ्खल व्यवस्था आपिशलि ने की थी।

कुछ प्रयोग (तवीति, रवीति, स्तवीति, इत्यादि) आपिशल व्याकरण में केवल छान्दस माने गये हैं, परन्तु ये प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार लोक में भी प्रयोगार्ह हैं।

(२) काश्यप—पाणिनि ने अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में काश्यप का मत उद्धृत किया है। (अष्टा० १।२।२५ तथा ८।४।६७)। यजुर्वेद प्रातिशाख्य में (४।५) शाकटायन के साथ इनका उल्लेख मिलता है। इनके व्याकरण का कोई भी सूत्र उपलब्ध नहीं होता। काश्यप के मत का उल्लेख व्याकरण से भिन्न ग्रन्थों में भी मिलता है जिससे इनके व्यापक पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

(३) गार्ग्य—अड् गार्ग्यगालवयोः (अष्टा० ७।३।९९), ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०), नोदात्तस्वरितोदयम् अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (८।४।६७) सूत्रों में गार्ग्य के मत मिलते हैं।

सब नाम आख्यातज नहीं है—यह गार्ग्य का मत था। ऐसा यास्क ने कहा है (निरुक्त १।२)। गार्ग्य का कोई पदपाठ था, यह निरुक्त ४।३, ४।४ की दुर्ग-स्कन्द-टीका से ज्ञात होता है। वाज० प्रति० ४।१७७ के उवटभाष्य में गार्ग्यकृत पदपाठ की एक शैली कही गयी है—अलोप इति गार्ग्यस्य अर्थात् गार्ग्यकृत पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता था। यह नियम गार्ग्यकृत सामवेदीय पदपाठ में घटता है।

गार्ग्य सामतन्त्र का प्रवक्ता था—यह अक्षरतन्त्र की भूमिका में श्री सत्यव्रतसाम-श्रमी ने लिखा है।

(४) **गालव**—पाणिनि में इनके नाम का उल्लेख चार स्थलों पर मिलता है। अष्टाध्यायी के इन उल्लेखों से ये पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति (६।१।७७) में इनके एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार लोक में दध्यत्र के स्थान पर 'दधियत्र' और मध्वत्र के स्थान पर 'मधुवत्र' भी ठीक है। निरुक्त ४।३, वृहद्देवता १।२४, ५।३९, ६।४३, तथा ७।३८ में भी गालव के मत मिलते हैं।

(५) **चाक्रवर्मण**—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१३०) और उणादि सूत्रों (३।१४४) में मिलता है। इनके व्याकरण का कोई सूत्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके एक विशिष्ट मत का उल्लेख 'शब्दकौस्तुभ' में किया गया है—**यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मण व्याकरणे द्व्यशब्दस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात्** (शब्दकौस्तुभ १।१।२७) इनके मत में 'द्वय' शब्द सर्वनाम होता है। इसके अनुसार प्रयोग भी मिलता है—द्वयेषाम् (शिशुपालवध १२।१३)।

(६) **भारद्वाज**—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी में केवल एक स्थान पर (७।२।६३) मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में इनके व्याकरण-विषयक मत का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त इनके व्याकरण ग्रन्थ के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

(७) **शाकटायन**—अष्टाध्यायी में इनके मत का उल्लेख तीन बार मिलता है (३।४।१११; ८।३।१८; ८।४।५०)। प्रातिशाख्यों में तथा निरुक्त में भी इनके मत उद्धृत हैं। शाकटायन प्राचीन युग के एक बड़े ही मान्य वैयाकरण थे। इसीलिए काशिकाकार का कहना है कि सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं (**अनुशाकटायनं वैयाकरणाः**)। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये समस्त शब्दों को धातुओं से उत्पन्न मानते थे। अष्टाध्यायी के अनुसार सब शब्द धातुज नहीं हैं। बहुत से शब्दों की उत्पत्ति नहीं दिखलाई जा सकती। परन्तु शाकटायन ने सब शब्दों को धातुज मानकर प्राचीन काल में अच्छी प्रसिद्धि पाई थी।[1] इनका व्याकरण उपलब्ध नहीं है। अतएव उसके रूप तथा प्रमाण का परिचय नहीं मिलता। शब्दों की व्युत्पत्ति देने में उनकी एक विशेषता है। उन्होंने एक पद की सिद्धि अनेक धातुओं से की थी और कई पदों की सिद्धि एक धातु से। ऐसी व्युत्पत्ति ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। आजकल की ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रचलित उणादि सूत्र शाकटायन कृत हैं (३।३।१ पर उद्योत)। श्वेतवनवासी ने लिखा है—**शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता** (उणादि वृत्ति का आरम्भ)। **'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'**

---

१. **तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च—निरुक्त (१।१२)।**
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्—महाभाष्य।

इस प्रख्यात व्याकरण मत से विरुद्ध शाकटायन शब्दों की 'त्रयी प्रवृत्ति' मानते हैं। उनकी दृष्टि में जाति शब्द, गुण शब्द तथा क्रिया शब्द ही होते हैं, यदृच्छा शब्द नहीं। यह परिचय हमें न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि के एक कथन से चलता है (३।३।१ सूत्र पर न्यास)।

(८) **शाकल्य**—अष्टाध्यायी में इनका मत चार बार उद्धृत हैं तथा शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में इनके मत का उल्लेख किया है। इनके व्याकरण में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का प्रवचन किया गया प्रतीत होता है। वैयाकरण शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य से अभिन्न ही हैं, क्योंकि पदपाठ में व्यवहृत कई नियम अष्टाध्यायी में शाकल्य नाम से स्मृत हुए हैं। शाकल्यकृत पदपाठ का स्मरण यास्क ने भी किया है (निरुक्त ६।२८)। कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में 'शाकल्य व्याकरण' के नाम उपलब्ध होने से उस युग में इसकी सत्ता अनुमेय है।

(९) **सेनक**—अष्टाध्यायी में केवल एक स्थल पर (५।४।११) इनका नाम मिलता हैं। इसके अतिरिक्त हम इनके विषय में नहीं जानते हैं।

(१०) **स्फोटायन**—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१२३) एक ही स्थल पर उद्धृत करती है। हरदत्त की पदमंजरी (६।१।१२३) से पता चलता है कि ये स्फोट सिद्धान्त के प्रवक्ता आचार्य थे[1]। स्फोट के प्रतिपादन से ही इनका नाम स्फोटायन पड़ा था। यदि हरदत्त की यह व्याख्या ठीक है तो निश्चय ही स्फोटायन स्फोटतत्वका प्रथम आविष्कारक था। वैयाकरणों का स्फोटवाद तो प्राण है। यह बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त है। न्याय और मीमांसा दोनों इस वाद का खण्डन करते हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण-प्रवक्ता आचार्य प्राचीन काल में हो गये हैं जिनका नाम्ना उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं किया गया है। ऐसे आचार्यों में मुख्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) इन्द्र

इन्द्र व्याकरणशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता थे, इसका परिचय हमें तैत्तिरीय संहिता से चलता है। इस संहिता के अनुसार (६।४।७) देवों की प्रार्थना करने पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरण की रचना की। इससे पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत थी

---

1. **स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः। स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। पदमञ्जरी में 'स्फौटायन' पाठ का भी निर्देश है, परन्तु हेमचन्द्र तथा नानार्थार्णव संक्षेप के कर्ता केशव ने 'स्फोटायने तु कक्षीवान्' कहकर स्फोटायन नाम को ही यथार्थ माना है।**

अर्थात् व्याकरण-सम्बन्ध से रहित थी। इन्द्र के उद्योग से प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग की प्रथम कल्पना का उदय हुआ। ऐन्द्र व्याकरण तो इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' के आरम्भ में जिन आठ व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के नामों का निर्देश किया है उनमें इन्द्र का उल्लेख सर्वप्रथम है[1]। कथासरित्सागर के अनुसार तो ऐन्द्र व्याकरण प्राचीनकाल में ही नष्ट हो चुका था, परन्तु परिमाण में यह बहुत ही विस्तृत था। महाभारत के टीकाकार **देवबोध** ने पाणिनि की अपेक्षा महेन्द्र व्याकरण के परिमाण को बहुत ही अधिक तथा विशाल बतलाया है[2]। इन्द्र व्याकरण के केवल दो ही सूत्र मिलते हैं जो वर्तमान कातन्त्र व्याकरण में नहीं मिलते। अतः कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र व्याकरण का वर्तमान प्रतिनिधि मानना नितान्त युक्तिरहित है। कातन्त्र पाणिनि-तन्त्र की अपेक्षा चतुर्थांश से भी कम है। ऐसी दशा में वह ऐन्द्र व्याकरण का, जो पाणिनि से विशालतर था, प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

वैदिक साहित्य की विशद प्रसिद्धि है कि इन्द्र ने बृहस्पति आचार्य से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था (**बृहस्पतिरिन्द्राय शब्दपारायणं प्रोवाच—महाभाष्य**) यह 'शब्दपारायण' ग्रन्थ विशेष का नाम है—भर्तृहरि ने ऐसा लिखा है। निश्चित ही 'इन्द्र' नामक किसी आचार्य के द्वारा शब्दशास्त्रविषयक ग्रन्थ वैदिक काल में रचा गया होगा। उस शास्त्र के नष्ट हो जाने पर प्रसिद्धि का अवलम्बन कर ऐन्द्रव्याकरण सम्बन्धी मान्यताओं का अस्तित्व परम्परा से पिछले ग्रन्थों में बना रहा। फलतः वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' के मंगलाचरण में आदिम वैयाकरणों में इन्द्र की गणना की है तथा 'लंकावतार सूत्र' जैसे प्राचीन महायानी बौद्ध ग्रन्थ में भी इन्द्ररचित शब्दशास्त्र का संकेत मिलता है। 'इन्द्र' नामक वैयाकरण का मत जैन शाकटायन व्याकरण (१।२।३७) में मिलता है—**'जराया ङस् इन्द्रस्याचि'**। भट्टार हरिश्चन्द्र की चरक व्याख्या में **'अथ वर्णसमूहः इति ऐन्द्र व्याकरणस्य'** यह वाक्य उपलब्ध होता है। दुर्गाचार्य भी **'अर्थः पदमैन्द्राणाम्'** कहकर इसकी सत्ता की ओर संकेत करते हैं (निरुक्त वृत्ति पृ० १०, पंक्ति ११)। ये ही दो सूत्र उपलब्ध होते हैं। तमिल व्याकरण की रचना ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर हुई है—ऐसा भाषाविदों का मत है। डाक्टर बर्नेल को तमिल के सर्वप्राचीन व्याकरण 'तोलकप्पियम्' में ऐन्द्र

---

१. **इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।**
   पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

२. **यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।**
   पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥
   —महाभारत टीका

व्याकरण के चिह्न उपलब्ध होते हैं। कवीन्द्राचार्य की सूची में 'ऐन्द्र व्याकरण' नामक ग्रन्थ के हस्तलेख का निर्देश है, परन्तु यह किसी नूतन ग्रन्थ का संकेत माना जा सकता है, क्योंकि कथासरित्सागर (तरंग ४, श्लोक २४-२५) के अनुसार यह तो प्राचीनकाल में ही नष्ट हो गया था। अतः १७वीं शती में ही उसके उल्लेख की सम्भावना बहुत ही कम है।

(ख) काशकृस्न

इनके ग्रन्थ तथा सूत्रों का उल्लेख अनेक व्याकरणग्रन्थों में मिलता है। वोपदेव ने अष्ट वैयाकरणों में इनका भी नाम गिनाया है। काशिका (५।१।५८) में उदाहरण दिया गया है—**त्रिकं काशकृस्नम्**। प्रसंग से प्रतीत होता है कि यहाँ इनके वैयाकरण ग्रन्थ के परिमाण का संकेत है जो तीन अध्यायों में विभक्त प्रतीत होता है। काशिका के एक दूसरे उदाहरण से इस ग्रन्थ की एक विशिष्टता का भी परिचय चलता है। काशिका (४।३।११५) का उदाहरण है—**काशकृस्नं गुरुलाघवम्** जिससे प्रतीत होता है कि सूत्ररचना में गुरु लाघव का विचार काशकृस्न ने सबसे पहिले चलाया था। इनके अनेक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने काशकृत्स्न के एक विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि श्वस् धातु को निष्ठा में वे अनिट् मानते हैं। अतः काशकृत्स्न के द्वारा 'आश्वस्त' तथा 'विश्वस्त' रूप सिद्ध होते हैं। धातुवृत्ति के कर्ता सायण ने भी काश्यप नामक किसी वैयाकरण के द्वारा निर्दिष्ट काशकृस्न मत का उल्लेख किया है (धातुवृत्ति पृ० २६४)। कैयट (प्रदीप ५।१।२१) के अनुसार पाणिनि के **'शताच्च ठन्यता-वशते'** (५।१।२१) के स्थानपर काशकृस्न का सूत्र था—**'शताच्च ठन्-यतावग्रन्थे'**। इसी प्रकार भर्तृहरि ने प्रकीर्ण काण्ड में लिखा है—**'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे'**। इस कारिकांश की व्याख्या में हेलाराज व्याकरणान्तर के द्वारा आपिशल तथा काशकृत्स्न की ओर संकेत मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपिशलि तथा काशकृस्न दोनों वैयाकरण पाणिनि का 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र स्वीकार नहीं करते थे। उनके सम्प्रदायानुगत व्याकरण में यह सूत्र नहीं था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आगमकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति में दो सूत्र उद्धृत किया है—(१) **धातुः साधने दिशि**.........। (२) **लिङ्ग किमिति**.........। वृषभदेव ने अपनी विवृति में इन दोनों सूत्रों को काशकृस्न का बतलाया है। फलतः काशकृस्न का व्याकरणपरक कोई ग्रन्थ अवश्य था जिसकी सूचना महाभाष्य से मिलती है—यही हमारी पूर्व जानकारी थी।

यह हर्ष का विषय है कि चन्नवीर कवि द्वारा निर्मित काशकृस्न धातुपाठ का व्याख्यान कन्नड भाषा में प्रकाशित हुआ है जिसका संस्कृत अनुवाद भी युधिष्ठिर

मीमांसक ने बड़े परिश्रम से प्रकाशित किया है[1]। धातुपाठ की सत्ता सूत्रों की सत्ता की निर्दशिका है। इस धातुपाठ के कई वैशिष्ट्य ध्यान देने योग्य हैं—(क) दश गणों के स्थान पर यहाँ केवल नव ही गण हैं। जुहोत्यादि का अन्तर्भाव अदादि गण में किया गया है। (ख) पाणिनीय धातुपाठ से यहाँ लगभग आठ सौ धातु अधिक हैं तथा पाणिनीय धातुपाठ के लगभग ३५० धातु ऐसे हैं जो यहाँ नहीं है। फलतः काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनि की अपेक्षा लगभग साढ़े चार सौ धातु अधिक हैं और वे मुख्यरूपेण भ्वादिगण में है। अन्य गणों के धातु दोनों में प्रायः बराबर ही है। (ग) लोक तथा वेद में प्रख्यात, परन्तु पाणिनितन्त्र में अज्ञात, बहुत से धातु काशकृत्स्न द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं। 'अथर्व' शब्द की साधिका हिंसार्थक थर्व् धातु तथा हिन्दी भाषा में उपलब्ध ढुढि (ढुण्ढ) धातु की उपलब्धि इसी तथ्य की समर्थिका है।

इसी धातुपाठ विवरण में चन्नवीर कवि ने काशकृत्स्न के मूल सूत्रों को निर्दिष्ट किया है। भर्तृहरि ने दो सूत्रों, कैयट ने भी दो सूत्रों को, क्षीरस्वामी ने एक विशिष्ट मत को तथा चन्नवीर कवि ने लगभग १३५ सूत्र तथा सूत्रांशों को उद्धृत किया है। प्रकाशित सं० में सब मिलाकर १४२ सूत्र हैं। इस व्याकरण के कुछ अश श्लोकबद्ध थे—यह प्राप्त उदाहरणों से जाना जाता है।

पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट न होनेपर भी काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्वकालीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने तीन व्याकरणों का उल्लेख किया है—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलं काशकृत्स्नमिति**। बहुत सम्भव है इस नामनिर्देश में प्राचीनता की दृष्टि कार्यशील है। पाणिनि से पूर्ववर्ती है आपिशलि (अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट) और आपिशलि से प्राक्कालीन है काशकृत्स्न। फलतः काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्वकालीन वैयाकरण मानना यथार्थ प्रतीत होता है[2]।

(ग) **पौष्करसादि**—इनका मत **'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः'** (८।४।४८ सूत्रीय वार्तिक वाक्य में मिलता है। तैत्ति० प्राति० ३।१६; ५।३७, ५।३८, १४।२, १७।६ और मैत्रा० प्राति० ५।३८, ५।४० आदि में पौष्करसादि आचार्य के मत स्मृत हुए हैं।

पौष्करसादि कृष्णयजुर्वेदीय शाखाविशेष के प्रवक्ता हैं (द्र० तै० प्राति० ५।४० माहिषेय भाष्य)। सम्भवतः इस शाखा के प्रयोग में पूर्वोक्त नियम चरितार्थ होंगे।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्' प्रकाशक—भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२२ वि० सं०।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य श्री युधिष्ठिर मीमांसा की संस्कृत भूमिका पृष्ठ १-३०। प्रकाशन वही।

(घ) भागुरि—भागुरि के विशिष्ट मत का परिचय अनेक व्याकरण-ग्रन्थों में मिलता है। उन्हें अव तथा अपि उपसर्गों के आदिम वर्ण का लोप (जैसे अवधान = वधान, अपिधान = पिधान) तथा हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों का आकारान्त होना अभीष्ट था (जैसे वाक् = वाचा; दिक् = दिशा)।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

—न्यास ६।२।३७ में उद्धृत।

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' में भागुरि के नाम से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भागुरि का व्याकरण सम्भवतः सूत्रबद्ध न होकर छन्दोबद्ध था।

वष्टि भागुररल्लोपम्······इत्यादि पूर्वोक्त प्रसिद्धकारिका में इनका मत उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त **'नप्तेति भागुरिः'** (भाषावृत्ति ४।१।१० में उद्धृत) **'हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम्। चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः'** ॥ (शब्दशक्ति-प्रकाशिका में उद्धृत) आदि कुछ वाक्यों में भी इन आचार्य का मत मिलता है। नामधातु से संबद्ध इनके कुछ मत शब्दशक्तिप्रकाशिका में मिलते हैं; तथैव कारकों के बलाबल का निर्णायक 'अपादान संप्रदान······' कारिका भी भागुरि-कृत है, ऐसा भाष्यव्याख्या-प्रपञ्च में कहा गया है।

भागुरि का यह व्याकरण अप्राप्य हैं, इसके हस्तलेख भी अज्ञात हैं। भागुरि-कृत किसी कोशविशेष के वचन धातुवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। भागुरि कृत कोश का नाम 'त्रिकाण्ड' था (द्र० भाषावृत्ति और उसकी टीका अर्थविवृति ४।४।१४३)। सम्भवतः भागुरि के ग्रन्थ में व्याकरणीय पदार्थों पर विचार भी किया गया था। **धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्**······। श्लोक भागुरि-कृत है, ऐसा राम तर्कवागीश ने कहा है (मुग्धबोध २८२ प्रमोदजननी टीका)।

(ङ) **माध्यन्दिनि**—काशिका ने ७।१।९४ सूत्र की व्याख्या में एक श्लोकबद्ध वार्तिक उद्धृत किया हैं जिसमें इस आचार्य के मत का उल्लेख मिलता है। वह श्लोकवार्तिक इस प्रकार है—

सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि, गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ॥

माध्यन्दिनि आचार्य के मत में 'उशनस्' शब्द की सम्बुद्धि में तीन रूप होते हैं—सान्त हे उशनः, नान्त—हे उशनन् तथा अदन्त—हे उशन। यही एकमात्र उल्लेख मिलता है। 'माध्यन्दिनी शिक्षा' मुद्रित हो चुकी है, परन्तु इनका व्याकरण ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है।

(च) **वैयाघ्रपद्य**—इनके दशाध्यायी व्याकरण-ग्रन्थ का उल्लेख 'काशिका' में दो बार मिलता है। ५।१।५८ की व्याख्या में **'दशकं वैयाघ्रपदीयम्'** उदाहरण मिलता है जिसकी काशिकाकृत व्याख्या है—दश अध्याय वाला व्याकरण ग्रन्थ। फलतः पाणिनि की अष्टाध्यायी से इसमें दो अध्याय अधिक थे। ४।२।६५ में इसके अध्येता **'दशका वैयाघ्रपदीयाः'** कहे गये हैं। ७।१।६४ की काशिका में उद्धृत 'श्लोक-वार्तिक' बतलाता है कि इगन्त नपुंसक शब्द को सम्बुद्धि में निश्चितरूपेण गुण होता है—यथा हे त्रपो (पदमंजरी का उदाहरण)।

दुःख है कि इतना बड़ा व्याकरण अप्राप्य है और इसके हस्तलेख भी नहीं मिलते।

पाणिनि तथा पूर्वाचार्य[1]

पाणिनि ने अपने सूत्रों में पूर्वाचार्यों का व्यक्तिशः उल्लेख किया है और कहीं-कहीं सामूहिक रूप से उल्लेख किया है। इस उल्लेख का तात्पर्य क्या है ? किस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने यह निर्देश किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में पाणिनि के टीकाकारों में ऐक्यमत नहीं है। अधिकांश टीकाकारों की सम्मति है कि आचार्य का ग्रहण विभाषा के लिए है अर्थात् जिस शब्दसिद्धि के विषय में किसी आचार्य का नाम दिया गया है, वह विधि वैकल्पिक होती है (आचार्यग्रहणं विभाषार्थम्)। परन्तु इतना ही तात्पर्य मानना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि विकल्प ही महर्षि को अभीष्ट होता, तो उस अर्थ की सिद्धि वा, विभाषा तथा अन्यतरस्याम् आदि शब्दों के योग से की जा सकती थी। अन्य विप्रपत्ति भी है। विभाषा से कार्य करने वाले सूत्रों के अन्तर्गत आचार्य नाम घटित सूत्रों के सन्निवेश का तात्पर्य ही क्या है ? प्रसंगवशात् ही विकल्प की सिद्धि निष्पन्न थी, तब आचार्यों के नामघटित सूत्रों का उपयोग ही क्या ? अड् गार्ग्यगालवयोः (७।३।६६) सूत्र में दो आचार्यों के नाम का स्वारस्य क्या है ? विकल्प विधि के निष्पादन के लिए तो एक ही आचार्य नाम पर्याप्त था। तब दो आचार्यों के नामों का निर्देश किंमूलक है ? ८।४।६७ में गार्ग्य, काश्यप तथा गालव इन तीनों आचार्यों का नाम निर्दिष्ट है। साम्प्रदायिक व्याख्या का अनुसरण ऐसे स्थलों पर विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

आचार्यघटक सूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करने से यही प्रतीत होता है कि महर्षि पाणिनि ने उन आचार्यों के विशिष्ट मतों के निर्देश के ही उद्देश्य से उनका नामोल्लेख किया है। उनका वह निजी मत नहीं था। परन्तु उससे पूर्ववर्ती मान्य आचार्यों का अभिमत कुछ दूसरा ही था—इसी तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने ऐसा किया है।

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य श्री सरस्वती चतुर्वेदी का सुनिश्चित लेख—नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल सं० ७, १९४१ दिसम्बर पृष्ठ ४६–५३)।

कभी-कभी वही मत दो आचार्यों का था, वहाँ दोनों के नाम उल्लिखित हैं। कभी-कभी तीन आचार्य एक ही तथ्य को मानते थे, वहाँ उन तीनों का उल्लेख है। यह मतभेद प्रकट करने की एक निश्चित शैली थी। जहाँ तीन आचार्यों से अधिक आचार्यों के साथ पाणिनि का मतभेद था वहाँ 'आचार्याणाम्' पद दिया गया है। व्याकरणतन्त्र के व्याख्याकारों की सम्मति है कि इस शब्द के द्वारा पाणिनि अपने आदरणीय गुरु का निर्देश करते हैं और आदरार्थ बहुवचन में शब्द का प्रयोग करते हैं। कम महत्त्वशाली साधारण वैयाकरणों का निर्देश 'एकेषाम्' पद के द्वारा किया गया है (८।३।१०४)। किसी तथ्य की स्वीकृति समस्त वैयाकरणों के द्वारा अभीष्ट है, तब पाणिनि 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग करते हैं। पाणिनि के युग में संस्कृत भाषा की पृथक् अनेक बोलियाँ थीं। इन बोलियों के पारस्परिक विभेद की सूचना देने के लिए 'प्राचाम्' तथा 'उदीचाम्' पदों का व्यवहार किया गया है। 'प्राचाम्' से अभिप्राय पूर्वदेशीय वैयाकरणों से है, तो 'उदीचाम्' पद से उत्तरदेशीय वैयाकरणों का संकेत है। प्राक्देश तथा उदीच्यदेश की विभाग सीमा का पता काशिका ने इस पद्य में दिया है। बहुत सम्भव है यह पद्य प्राचीन हो तथा पाणिनिकालीन क्षेत्र-विभाग का संकेतक हो। श्लोक यह है—

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥

(१।१।७५ की काशिका)

शरावती नदी ही प्राच्य तथा उदीच्य देशों को विभाजक मानी गयी है[1]। यह नदी सरस्वती तथा यमुना के पास हो बहने वाली मानी जाती है। शालातुरीय पाणिनि स्वयं उदीच्य थे। ब्राह्मणों के काल में उदग्देश ही संस्कृत भाषा को विशुद्धि के निमित्त नितान्त प्रख्यात था। इतर प्रान्तों के लोग विशुद्ध टकसाली संस्कृत सीखने के लिए इस देश में ही जाया करते थे। शांखायन ब्राह्मण (८।६) की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यातव्य है—

उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्।
यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते।

पाणिनि के भाषाज्ञान का यह डिंडिमघोष है कि वे भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुख्य नगर तक्षशिला के समीपस्थ शालातुर के निवासी होकर भी प्राच्य लोगों में

---

१. शरावती के विषय में पदमञ्जरी में हरदत्त का अभिप्राय—शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी। तस्या दक्षिणपूर्वस्यां व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः। उत्तरपरस्यामुदग्देशः। तौ शरावती विभजते। १।१।७५ पर पदमंजरी।

प्रचलित संस्कृत शब्दों से पूर्ण परिचय रखते थे और उनके निर्देश करने में उन्होंने कहीं त्रुटि नहीं की।

इन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दों का निर्देश संक्षेप में यहाँ किया जाता है—

आचार्य

(१) ७।३।४९ सूत्र के अनुसार 'खट्वाका' (अज्ञात खटिया) रूप सिद्ध होगा, जब पाणिनि के मतानुसार 'खट्विका' अथवा 'खट्वका' रूप होना चाहिए।

(२) ८।४।५२ सूत्रानुसार 'दात्रम्' होगा, पाणिनि मत में 'दात्त्रम्' रूप होगा (काटने वाला औजार, हँसुआ)।

आपिशलि

६।१।९२ सूत्र के अनुसार 'उप + ऋषभीयति' के सन्धि होने पर 'उपार्षभीयति' तथा 'उपर्षभीयति' दो रूप होंगे। पाणिनि के अनुसार पहिला रूप ही बनता है।

उदीचाम्

(१) ३।४।१९ सूत्र के अनुसार अपमित्य याचते बनता है जब पाणिनि के अनुसार याचित्वा अपमयते होता है। इस वाक्य का अर्थ है याचना करने के बाद वह अदल-बदल करता है।

(२) ४।१।१३० 'गोधायाः अपत्यम्' इस अर्थ में गोधार पद निष्पन्न होगा। पाणिनि के अनुसार 'गौधेर' होता है।

(३) ४।१।१५७ आम्रगुप्त के अपत्य अर्थ में आम्रगुप्तायनि शब्द बनता है। पाणिनि मत में 'आम्रगुप्ति'।

(४) ६।३।३२ के अनुसार माता और पिता के द्वन्द्व समास होने पर 'मातरपितरौ' होगा। पाणिनि मत में 'मातापितरौ' तथा 'पितरौ'।

(५) ७।३।४६ के अनुसार 'क्षत्रियिका'; पाणिनि के मत में 'क्षत्रियका' (क्षत्रिय स्त्री)।

(६) ४।१।१५३ के अनुसार 'कारिषेणि', लाक्षणि तथा कौम्भकारि रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि के मत में कारिषेण्य, लाक्षण्य तथा कौम्भकार्य बनता है।

एकेषाम्

८।३।१०४ सूत्रानुसार 'अर्चिभिष्ट्व' पद बनता है। पाणिनि के अनुसार 'अर्चिभिस्त्व' ही (इस शब्दका अर्थ है—यजुर्वेद का गद्यात्मक मन्त्र)।

काश्यप

(१) १।२।२५ के अनुसार √तृष्, √मृष् तथा √कृष् धातुओं से त्वा प्रत्यय होने पर दो रूप बनते हैं—तृषित्वा तथा तर्षित्वा आदि। पाणिनिमतानुसार केवल द्वितीय रूप ही उचित है।

(२) ८।४।६७ सूत्र के अनुसार काश्यप के मत में उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित में बदल जाता है, परन्तु पाणिनि मत में यह परिवर्तन तभी होता है जब अनुदात्त के आगे उदात्त अथवा स्वरित नहीं होता। गार्ग्य तथा गालव आचार्य काश्यप का मत मानते हैं।

गार्ग्य

(१) ७।३।९९ सूत्रानुसार रुद् धातु के लुङ् लकार के अरोदत् होगा। पाणिनि मत में होगा अरोदीत्।

(२) ८।३।२० के अनुसार भोस् + अत्र की सन्धि में 'भो अत्र' होगा। पाणिनि मत में 'भोयत्र'। शाकल्य गार्ग्य के ही मत मानते हैं (८।३।१९), परन्तु शाकटायन मत में 'भोयत्र' में यकार का लघुतर उच्चारण होता है।

(३) ८।४।६७ = काश्यप का ही मत अभीष्ट है।

गालव

(१) ६।३।६१ के अनुसार 'ग्रामणीपुत्र' के स्थान पर 'ग्रामणिपुत्र' बनता है। प्रथम शब्द पाणिनि मत में निष्पन्न।

(२) ७।१।७४ के अनुसार ब्राह्मणकुलेन का विशेषण ग्रामण्या, ग्रामण्ये आदि बनता है। पाणिनि मत में ग्रामणिना, ग्रामणये आदि सिद्ध होते हैं।

(३) ७।२।९९ अरोदत् गार्ग्य के समान। पाणिनि अरोदीत्।

(४) ८।४।६७ काश्यप तथा गार्ग्य का मत अभीष्ट।

चाक्रवर्मण

६।१।१३० सूत्रानुसार—'अस्तु हीत्यब्रवीत्' वाक्य में प्लुत का अभाव होता है। पाणिनि मत में प्लुत होता है—'अस्तु ही ३ इत्यब्रवीत्'।

प्राचाम्

(१) ३।४।१८ के अनुसार 'अलं रुदित्वा' (मत रोओ); पाणिनि मत में 'अलं रोदनेन' या 'मा रोदीः'।

(२) ४।१।१७ गार्ग्यायणी; पाणिनि मत में 'गार्गी'।

(३) ४।१।४३ शोणी; पाणिनि मत में 'शोणा'।

(४) ४।१।१६० ग्लुचुकायनि; पाणिनि मत में ग्लौचुकि ।

(५) ५।३।८० 'अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त' अर्थ को सूचित करने के लिए उपड तथा उपक शब्द बनते हैं । पाणिनि मत में उपिय, उपिक, उपिल तथा उपेन्द्रदत्तक—ये चार रूप सिद्ध होते हैं ।

(६) ५।३।९४ सूत्रानुसार एकतर तथा एकतम रूप बनते हैं । पाणिनि मत में केवल किं, यत् तथा तत् प्रातिपदिकों से ही तर तथा तम प्रत्यय का विधान है ।

(७) ५।४।१०१ के अनुसार 'द्विखारम्' । पाणिनि मत में 'द्विखारि' सिद्ध होता है ('खारी' एक विशिष्ट माप है) ।

(८) ८।२।८६ के अनुसार 'आयुष्मानेधि दे३वदत्त', देवद३त्त तथा देवदत्त३— यह तीन स्थानों पर प्लुत होता है । पाणिनि मत में केवल अन्तिम प्रयोग सिद्ध होता है ।

(९) ३।१।९० के अनुसार 'कुष्यति पादः स्वयमेव' तथा 'रज्यति वक्त्रं स्वयमेव' प्रयोग बनते हैं । पाणिनि मत में कुष्यते तथा रज्यते ही होता है ।

भारद्वाज

७।२।६१ के अनुसार या धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में 'ययिथ' रूप बनता है । पाणिनि में 'ययाथ' सिद्ध होता है ।

शाकटायन

(१) ३।४।१११ सूत्रानुसार या धातु के लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में 'अयुः' बनता है । पाणिनि में 'अयान्' ।

(२) ३।४।११२ अद्विषुः । पाणिनि में 'अद्विषन्' (√द्विष्) ।

(३) ८।३।१८ 'भोयत्र' में यकार का उच्चारण लघुतर होता है । पाणिनि के अनुसार 'यकार' का पूर्ण उच्चारण होता है । गार्ग्य तथा शाकल्य मत में यकार का लोप ही हो जाता है । द्रष्टव्य गार्ग्य तथा शाकल्य ।

(४) ८।४।५० के अनुसार 'इन्द्र' बनता है । पाणिनि के अनुसार नकार का द्वित्व भी अभीष्ट है । फलतः 'इन्न्द्र' रूप भी हो सकता है ।

शाकल्य

(१) १।१।१६ सूत्रानुसार शाकल्य के अनुसार पदपाठ 'वायो इति' होगा । पाणिनि के मत में 'वायविति' ।

(२) ६।१।१२७ के अनुसार 'कुमारि अत्र' । पाणिनि मत में 'कुमार्यत्र' ।

(३) ८।३।१९ के अनुसार 'क आस्ते' तथा 'भो अत्र' रूप बनते हैं। पाणिनि मत में कयास्ते तथा भोयत्र होगा। शाकटायन तथा गार्ग्य देखो।

(४) ८।४।५१ के अनुसार 'अर्कः' बनता है। पाणिनि में 'अर्क्कः' भी बनता है।

सेनक

५।४।११२ के अनुसार 'गिरि के समीप' अर्थ में 'उपगिरम्' पद सिद्ध होगा, पाणिनि मत में 'उपगिरि'।

स्फोटायन

६।१।१२१ के अनुसार गो + अजिनम् की सन्धि होने पर बनता है—'गवाजिनम्'। पाणिनि के अनुसार होगा गोअजिनम् तथा गोऽजिनम्।

सर्वेषाम्

(१) ७।३।९९ सूत्र में पाणिनि ने गार्ग्य तथा गालव के अनुसार रुद् धातु के लङ् लकार में 'अरोदत्' रूप निष्पन्न वतलाया है। तदनन्तर वे कहते हैं ७।३।१०० सूत्र में कि सब आचार्यों के मत में √अद् धातु के लङ् लकार में आदत् रूप बनता है।

(२) 'भोस् + अच्युत' इसकी सन्धि में गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन तथा अपने भी मत का उल्लेख कर पाणिनि ने लिखा (८।३।२२) कि 'भोस् + देवाः' की सन्धि करने पर 'भो देवाः' रूप निष्पन्न होता है—इस विषय में सब आचार्यों का ऐकमत्य है। अतः 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग किसी विशेष रूपसिद्धि के लिए समस्त आचार्यों की सहमति प्रकट करता है।

पारिभाषिक संज्ञा तथा पूर्वाचार्य

पाणिनि से पूर्व आचार्यों ने पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया था। भाष्य तथा व्याख्याग्रन्थों से उनका परिचय मिलता है। अब संज्ञा के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं पर विचार किया जायगा।

जिससे किसी का बोध भलीभाँति हो जाय, सामान्यतः उसे हम **संज्ञा** कहते हैं। जैसे लोक में राम, श्याम, देवदत्त इत्यादि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के प्रयोग से अनुपस्थित भी परिचित व्यक्तियों का परिज्ञान हमें हो ही जाता है। शास्त्र में भी 'सप्तर्षि' जैसी संज्ञाओं के श्रवण से अन्य बहुत ऋषियों के होते हुए भी 'कश्यप-अत्रि-वसिष्ठ-विश्वामित्र-गौतम-जमदग्नि एवं भारद्वाज' इन सात ऋषियों का वैवस्वत श्राद्धदेव मनु के काल में स्मरण किया जाता है (द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत ८।१३।१-५)। उक्त उदाहरणों से

यह बात सिद्ध होती है, कि शब्दशक्ति के अनेक अर्थों के अभिधान में सर्वात्मना समर्थ होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में उसका नियन्त्रण कर देना ही संज्ञाविधान है। कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में इसी बात को शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व की सम्पुष्टि में स्पष्ट रूप से कहा है[1]—शब्द, अर्थ एवं उनके सम्बन्ध की नित्यता में कोई विरोध उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी अर्थों को कहने में समर्थ शब्द की शक्ति का अर्थ-विशेष में नियमन कर देना ही संज्ञाकरण माना जाता है। अर्थ-विशेष में शब्द-शक्ति के इस विशेष नियमन से लाघव प्रक्रिया का समादर संज्ञा-व्यवहार में ध्वनित होता है।

सर्वत्र शब्द-व्यवहार लाघव को ध्यान में रखकर किया जाता है, उसमें भी संज्ञा-शब्दों का निर्धारण तथा उनका प्रयोग लाघव की चरम सीमा को अभिव्यञ्जित करता है। शब्दशास्त्र-निष्णात महर्षि पतञ्जलि के—**'संज्ञा च नाम यतो न लघीयः'** (म० भा० १।१।२७) इस वचन पर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए उक्त विषय को महाभाष्य प्रदीप में कैयट ने उद्घृत किया है। विवरण इस प्रकार है—

"शब्दव्यवहारो लघुस्ततोऽपि लघीयो नाम।"

(म० भा० प्र० १।१।२७)।

अर्थात् प्रथम तो शब्द-व्यवहार ही लाघव के लिए होता है, परन्तु उससे भी लाघव संज्ञाशब्दों में दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि—लघुभूत उपाय से ईप्सित बात को समझाने के लिए संज्ञा शब्दों का उपयोग शास्त्रों में भी किया गया है। फिर व्याकरणशास्त्र के तो सर्वतोभावेन लाघवापेक्षी होने के कारण उसमें संज्ञा-शब्दों के बिना निर्दिष्ट कार्य का विधान असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। यद्यपि प्रातिपदिक, सर्वनाम जैसी महती संज्ञाओं के उपन्यास-सन्दर्भ में शब्दकृत लाघव का नितान्त अभाव होने से उपर्युक्त वचनों में दोष प्रदर्शित किया जा सकता है, तथापि वहाँ यह समझना चाहिये कि लाघव भी दो प्रकार का होता है—'शब्दकृत एवं अर्थ-कृत'। अर्थकृत लाघव में वर्णसंक्षेप अपेक्षित न होने के कारण उक्त स्थलों में उस परम्परा का निर्वाह किया गया है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि अर्थकृत लाघव में वर्ण-बाहुल्य का समाश्रयण किसी विशेषार्थ-द्योतन के लिए होता है। इस प्रसंग में यह भी कहना अनावश्यक न होगा कि वेदमन्त्रों के यथार्थ बोध के लिए प्रथम देवतादि संज्ञा शब्दों का ही ज्ञान अनिवार्य होता है, तो उस वेद के मुखस्थानीय

---

१. **सर्वार्थाभिधानयोग्य-शब्दस्य शक्तिनियमनमात्रं संज्ञाकरणमिति शब्दार्थ-सम्बन्धनित्यत्वस्यापि न विरोधः"** (म० भा० प्र० १।१।२७)।

व्याकरण में उनकी आवश्यकता क्यों न हो ? महर्षि शौनक ने संज्ञाशब्दों के परिज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है—

"अवश्यं वेदितव्यो हि नाम्नां सर्वस्य विस्तरः।
न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्राः शक्या हि वेदितुम् ॥"

(बृहद्देवता १।८) ।

अर्थात्—संज्ञाशब्दों के विस्तार का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनके ज्ञान के बिना मन्त्रों (मन्त्रों के तात्पर्यार्थ) को नहीं जाना जा सकता है। उन संज्ञाशब्दों तथा उनके स्वरूपों का निर्धारण सृष्टि के पूर्व ब्रह्म ने ही कर लिया था, ऐसा—'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उप० ६।३), 'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० उप० २।२।४।२) इत्यादि वचनों से—समझा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि बिना नाम और रूप के कोई भी व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता—इस बात को सिद्ध करने के लिए ही परमेश्वर ने ऐसा किया। संज्ञाशब्दों की नितान्त आवश्यकता है सब शास्त्रों में, विशेषतः व्याकरण में।

संज्ञायें सामान्यतः कृत्रिम और अकृत्रिम भेद से दो प्रकार की होती हैं। कृत्रिम वह संज्ञाएँ कही जाती हैं, जिनका प्रयोग आचार्य स्वरचित शास्त्रों में कार्यनिर्वाहार्थ किया करते हैं। अकृत्रिम उनको कहते हैं जो आदिकाल से अबतक उसी अर्थ में प्रयुक्त होती हैं और भविष्य में भी प्रयुक्त होती रहेंगी। कर्म, करण एवं अधिकरण इत्यादि कुछ संज्ञाएँ उभयविध मानी जाती हैं[1]।

इन संज्ञाओं का प्रयोग आचार्यों ने एक ही विषय के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में अनेक रूप से किया है। अतएव नागेश ने कहा है—"संज्ञात्वं न शास्त्रैकगम्यम्। संज्ञायामित्युच्चार्य विहिता एव संज्ञाशब्दा इति नेत्यर्थः" (उद्योत ६।३।१०)। अर्थात् संज्ञाधिकार में ही पढ़े गए शब्द संज्ञाशब्द हो सकते हैं इतर नहीं; ऐसा कहना सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि संज्ञा का विषय एक शास्त्र से निर्धारित नहीं किया जा सकता।

---

१. महाभाष्यकार ने "बहुगण-वतुडति संख्या" [अ० १।१।२२] सूत्र के भाष्य में कहा भी है "उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि, नावश्यमिहैव। तद्यथा—"कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" [अ० १।४।४९] इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। "कर्मणि द्वितीया" [अ० २।३।२] इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, "कर्त्तरि कर्म-व्यतिहारे" [अ० १।३।१४] इत्यत्राऽकृत्रिमस्य" [म० भा० १।१।२२] इत्यादि।

ऊपर जो महर्षि पतञ्जलि एवं कैयट की उक्तियों से संज्ञाशब्दों के संक्षिप्ततम रूप की तथा अर्थलाघव के उद्देश्य से प्रयुक्त संज्ञाओं में उस अनावश्यकता की चर्चा की गयी है, जिससे उन संज्ञाओं को कार्य निर्वाहार्थ तथा अन्वर्थ माना जाता है। उसमें अन्वर्थता क्या है ? क्या यौगिकार्थ का उनके संज्ञियों में कुछ सामञ्जस्य हो सकता है ? वह पाणिन्युपज्ञात हैं अथवा पूर्वाचार्य-प्रयुक्त ? ऐसी ही कुछ बातों को ध्यान में रखकर पाणिनीय-तन्त्र में प्रयुक्त कुछ संज्ञाओं की अन्वर्थता प्रमाण-पुरस्सर बताने का प्रयास किया जा रहा है। संज्ञाओं की अन्वर्थता या तो लोकप्रसिद्ध अर्थ से सामञ्जस्य रखती है अथवा किसी शास्त्रीय नियमविशेष को ध्वनित करती है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य में कहा भी गया है—

"अन्वर्थत्वं महासंज्ञा व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः।"

(वैदिकाभरणभाष्य १।२)।

एक अक्षर से अधिक अक्षर वाली महासंज्ञाएँ अन्वर्थ होने के कारण जिस अर्थ में नियमित की जाती हैं उससे अन्य अर्थों को भी प्रकाशित करती हैं। यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने उन संज्ञा शब्दों का अपने शास्त्रों में उपयोग किया है।

पूर्वाचार्य-कृत पारिभाषिक संज्ञाएँ

(१) वृद्धि संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने "वृद्धिरादैच्" (अ० १।१।१) सूत्र से द्विमात्रिक आ ऐ एवं औ इन तीन वर्णों के बोध के लिए जिस 'वृद्धि' संज्ञा का निर्धारण किया है, उस 'वृद्धि' संज्ञा का व्यवहार पूर्वाचार्यों ने ही किया था। इसका संकेत महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है—**"इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः ? आचार्यैः"** (**म० भा० १।१।१**)। 'वृद्धि' संज्ञा का सम्बन्ध उक्त तीन वर्णों के साथ पूर्वाचार्यों ने ही निश्चित कर दिया है। इस वचन की सत्यता वाजसनेयि प्रातिशाख्यादि के—**"तद्धिते चैकाक्षर-वृद्धावनिहिते"** (वा० प्रा० ५।२६) इत्यादि सूत्रवचनों से प्रमाणित होती है।

'वृद्धि' शब्द का अर्थ वर्धन क्रिया होता है। अतः इस महासंज्ञा की अन्वर्थता—'ह्रस्व अकार की अपेक्षा द्विमात्रिक आकार के उच्चारण में तथा 'ए ओ' वर्णों की अपेक्षा 'ऐ औ' वर्णों के उच्चारण में मुख का विकास अधिक होने के कारण उनमें वर्धनक्रिया का जो सम्बन्ध परिलक्षित होता है—उससे कही जा सकती है। पाणिनीय शिक्षा में कहा भी गया है—

"संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्" (श्लो० २०) तथा "तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च" (श्लो० २१) इति।

(२) गुण संज्ञा

"अदेङ् गुणः" (अ० १।१।२) सूत्र से अ ए एवं ओ इन तीन वर्णों के बोध के लिए पाणिनि द्वारा किया गया 'गुण' संज्ञा का व्यवहार शौनकादि आचार्यों के "गुणागमादेतन भावि चेतन" (ऋ० प्रा० ११।१०) इत्यादि वचनों के आधार पर पाणिनि से पूर्व ही सिद्ध होता है। 'गुण' शब्द अप्रधान अर्थ का वाचक होता है। अतः 'वृद्धि' संज्ञा के संज्ञियों से 'अ ए ओ' इन तीन वर्णों में अप्रधानता (स्थानिगत मात्रान्यूनता) मानकर 'गुण' संज्ञा को अन्वर्थ कहना उचित प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है, कि—'अ ए ओ' इन तीन वर्णों की 'गुण' संज्ञा जगत् के मूलभूत सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों की संख्या से साम्य रखती है।

(३) संयोग संज्ञा

अचों से अव्यवहित अनेक हल् वर्णों की जो 'संयोग' संज्ञा पाणिनि ने कही है "हलोऽनन्तराः संयोगः" (अ० १।१।७)। उसका निर्दिष्ट अर्थ में व्यवहार पाणिनि से पूर्व शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में किया है, उन्होंने कहा है—

"संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः" (१।३७)। अर्थात् एकत्र स्थित व्यञ्जनसमुदाय की 'संयोग' संज्ञा होती है। यहाँ 'संयोग' का अर्थ समुदाय विवक्षित है। अतः एक हल् वर्ण की 'संयोग' संज्ञा न कहकर जो अनेक हल् वर्णों की 'संयोग' संज्ञा कही गयी है, उससे इसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है। ऋक्तन्त्र में लाघव के उद्देश्य से संयोग के लिए 'सण्' शब्द का व्यवहार किया गया है (२।३।७)।

(४) अनुनासिक संज्ञा

अनुस्वार, अच् एवं वर्गीय पञ्चम वर्णों के लिए 'अनुनासिक' संज्ञा का व्यवहार ऋक् प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों के "अनुनासिकोऽन्त्यः" (ऋक् प्रातिशाख्य १।१४) तथा "अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्" (ऋ० प्रा० १।६३) इत्यादि सूत्रवचनों से पूर्वाचार्य कृत ही कहा जा सकता है। पाणिनीय शिक्षा में (श्लो० ३९) 'य् व् ल्' वर्णों को भी अनुनासिक माना गया है। अपने मुख्य स्थान के साथ नासिका का आश्रय लेकर जिन वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उनको 'अनुनासिक' कहते हैं। अतः वर्गीय पञ्चम ङ् ञ् आदि वर्णों के उच्चारण में मुख एवं नासिका रूप दो स्थानों का आश्रय लिए जाने से 'अनुनासिक' संज्ञा को अन्वर्थ माना जाता है (द्र०—ऋ० प्रा०, उ० भा० १।१४)।

(५) सवर्ण संज्ञा

समानजातीय (समान स्थान प्रयत्न वाले) अच् वर्णों के लिए 'सवर्ण' संज्ञा का व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के **"स्थान-प्रश्लेषोपदेशे स्वराणां ह्रस्वदेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ"** (ऋ० प्रा० १।५५) में किया गया है । सवर्ण का अर्थ सदृश होता है । अतः सदृश = तुल्य-स्थान-प्रयत्न वाले अच् वर्णों को यह 'सवर्ण' संज्ञा अन्वर्थक ही है (द्र० तै० प्रा०, त्रिभाष्यरत्नम्—१।३) ।

(६) प्रगृह्य सज्ञा

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" (अ० १।१।११) सूत्र से द्विवचनान्त जिन ईकारान्त ऊकारान्त तथा एकारान्त शब्दों की 'प्रगृह्य' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है, उसका व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के **"ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः"** (ऋ० प्रा० १।६८) इत्यादि सूत्रों में देखा जाता है । जहाँ पदों का भली-भाँति ग्रहण होता हो उसको 'प्रगृह्य' कहते हैं । अतः 'प्रगृह्य' संज्ञक शब्दों में सन्धि-विधान न होने से उनके स्वरूपों की जो पूर्ववत् स्थिति बनी रहती है, उससे 'प्रगृह्य' संज्ञा की अन्वर्थता प्रतीत होती है ।

(७) संख्या संज्ञा

एक, द्वि, बहु इत्यादि शब्दों के लिए लोक-प्रसिद्ध ही 'संख्या' संज्ञा का व्यवहार महर्षि यास्क ने **"एक इता संख्या, द्वौ द्रुततरा संख्या"** (निरु० ३।२) इत्यादि वचनों से किया है । जिससे किन्हीं पदार्थों का संख्यान (परिगणन) किया जाय, उसे संख्या कहते हैं । यही कारण है कि पाणिनि के द्वारा **"बहु-गण-वतुडति संख्या"** (अ० १।१।२३) सूत्र में एक इत्यादि शब्दों की 'संख्या' संज्ञा का निर्देश न किए जाने पर भी उन सभी शब्दों का ग्रहण 'संख्या' संज्ञा के अन्तर्गत होता है—इसी प्रकार उसकी अन्वर्थता भी सिद्ध होती है । इसका संकेत पाणिनि द्वारा **"ष्णान्ता षट्"** (अ० १।१।२४) सूत्र से षान्त नान्त 'संख्या' संज्ञक शब्दों की की गयी 'षट्' संज्ञा के विधान में प्राप्त होता है, क्योंकि षान्त नान्त शब्दों की बिना 'संख्या' संज्ञा हुए उनकी 'षट्' संज्ञा उपपन्न नहीं हो सकती ।

'चित्' एवं 'वचन' शब्द का भी पूर्वाचार्य व्यवहार करते थे (द्र०—का० धा० व्या०, सू० १–२ **"धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्"**, **"लिंगे किम् चिति विभक्तावेतन्नाम"**) ।

(८) सर्वनाम संज्ञा

निरुक्त में **"अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना"** (निरु० ७।२।२।) एवं **"अथाध्यात्मिका उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्व-**

नाम्ना" (निरु० ७।२।५) इत्यादि वचनों से पाणिनीय **"सर्वादीनि सर्वनामानि"** (अ० १।१।२७) सूत्र के सर्वादिगण में पठित 'युष्मद्-अस्मद्' शब्दों को सर्वनाम कहा गया है। इस संज्ञा की अन्वर्थता को बताते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि सर्वार्थवाचक ही सर्वादि शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं, अतः किसी व्यक्ति का 'सर्व' यह नाम होनेपर एवं किसी अन्य का विशेषण होनेपर 'सर्व' शब्द सर्वार्थवाचक न होने के कारण 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं हो सकता (द्र०—म० भा० १।१।२७)।

(९) अव्यय संज्ञा

निपातादिकों के लिए पाणिनि द्वारा **"स्वरादि निपातमव्ययम्"** (अ० १।१।३७) इत्यादि सूत्रों से की गई 'अव्यय' संज्ञा को गोपथ ब्राह्मण में विस्तृत चर्चा होने के कारण उसको पूर्वाचार्य प्रयुक्त मानना ही होगा। वहाँ इसकी अन्वर्थता को बताते हुए कहा गया है—

"निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति। तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु,
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्"

(१।१।२६)।

अर्थात् जिन शब्दों का रूप तीनों लिङ्गों सभी विभक्तियों एवं सभी वचनों में अविकृत रहे उन शब्दों की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

'अव्यय' संज्ञक शब्दों में विकार न होने के कारण 'अव्यय' संज्ञा के अन्वर्थ होने से विशेषणीभूत निपातों की 'अव्यय' संज्ञा नहीं होती है।

(द्र०—म० भा० १।१।३८)।

(१०) सम्प्रसारण संज्ञा

पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट 'य् व् र् ल्' वर्णों के स्थान में क्रम से होने वाले 'इ उ ऋ लृ' वर्णों की 'सम्प्रसारण' संज्ञा का व्यवहार पाणिनि से पूर्व **"यजां यवराणां य्वृतः सम्प्रसारणं कानुबन्धे" (काशकृत्स्न व्या०, सू० ११)** सूत्र में आचार्य काशकृत्स्न ने किया है। 'सम्प्रसारण' का अर्थ विस्तार होता है, अतः अर्धमात्रिक यण् वर्णों के स्थान में एकमात्रिक इक् वर्णों का हो जाना ही 'सम्प्रसारण' संज्ञा की अन्वर्थता है। गोपथ ब्राह्मण (१।१।२६) में इसके लिए 'प्रसारण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(११) प्रत्याहार संज्ञा

संक्षेप में बहुत वर्णों का बोध कराने के लिए पाणिनीय सम्प्रदाय में समाहृत 'प्रत्याहार' संज्ञा का निर्देश ऋक्तन्त्र के **"अथ वर्णाः संज्ञाप्रत्याहारसमाः"** (१।१) इत्यादि वचनों में उपलब्ध होता है। पूर्व प्रसिद्ध होने के कारण ही **"आदिरन्त्येन सहेता"** (१।१।७१) इस प्रत्याहारसंज्ञा-विधायक सूत्र में 'प्रत्याहार' शब्द का उल्लेख न होने पर भी व्याख्याकारों ने उक्त सूत्र से की जाने वाली अण् अच् आदि संज्ञाओं का 'प्रत्याहार' शब्द से व्यवहार करने के लिए निर्देश किया है। जिसमें वर्णों का संक्षेप किया जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं। अतः अच् अल् आदि प्रत्याहारों के अन्तर्गत बहुत वर्णों का समावेश होते हुए भी उच्चारण में संक्षेप होने के कारण इस संज्ञा को अन्वर्थ कहना सङ्गत ही प्रतीत होता है।

(१२) प्रातिपदिक संज्ञा

गोपथब्राह्मण के **"कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्"** (१।१।२६) इस वचन में कृदन्त अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा का निर्देश देखा जाता है। अन्यान्य आचार्यों ने इस संज्ञा के लिए नाम, लिङ्ग, फिट्, ल्य, मृत् जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है। प्रत्येक पदों में जिसकी स्थिति हो उसे प्रातिपदिक कहते हैं, इस अर्थ के आधार पर प्रतीत होता है, कि पूर्वाचार्यों ने धातुओं की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा की थी, क्योंकि सभी नाम-पद धातुज माने जाते हैं। पाणिनि ने यद्यपि **"अर्थवद-धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"** (अ० १।२।४५) इस सूत्र से धातुभिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा कही है, तथापि योगरूढ मानकर 'प्रातिपदिक' संज्ञा को अन्वर्थ कहना ही ठीक है।

(१३) धातु संज्ञा

निरुक्त में 'धातु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—**"धातुर्दधातेरिति"** (निरु० १।६) इति। अर्थात् जो अर्थों को धारण करे उसे धातु कहते हैं। अन्य गोपथब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी पाणिनि निर्दिष्ट (**"भूवादयो धातवः"** अ० १।३।१ सूत्र में) क्रियावाची शब्द के लिए ही 'धातु' शब्द का व्यवहार होने से उसकी प्राचीनता स्पष्ट है। अनेक अर्थों का जो वाचक हो उसे 'धातु' कहते हैं, इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की भ्वादि धातुओं में सङ्गति होने से उसे अन्वर्थ माना जाता है।

(१४) पद संज्ञा

दुर्गाचार्य द्वारा निरुक्तभाष्य में प्रदर्शित **"अर्थः पदम् इत्यैन्द्राणाम्"** (निरु० भा० १।१।८) इस वचन में वैयाकरण इन्द्र के मत से अर्थवान् शब्दों की 'पद' संज्ञा

बतायी गयी है। इस मत का समादर वाजसनेयि प्रातिशाख्य (३।२) में भी किया गया है। अन्यत्र पूर्वाचार्यों ने नाम-आख्यात इत्यादि शब्दों से पदों के भेद बताये हैं। निरुक्तकार ने वैयाकरणों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार पदों को माना है (निरुक्त १।३।९)। भर्तृहरि (वा० प० ३।१।१) एवं दुर्गाचार्य (निरु० भा० १।१।८) ने गति तथा कर्मप्रवचनीय भेदों को लेकर पाँच और छः प्रकार के भी पदों की चर्चा की है।

सिद्ध अर्थ को कहने वाले नाम पद होते हैं, तथा साध्य अर्थ को कहने वाले आख्यात। आख्यात के क्रियाप्रधान होने से उपसर्ग निपात एवं कर्मप्रवचनीय को उसी के अन्तर्गत मानकर कोई आचार्य मुख्यतः दो ही पद मानते रहे हैं। परन्तु उपसर्ग केवल सिद्ध अर्थ की विशेषता को द्योतित करते हैं जब कि निपात सिद्ध एवं साध्य इन दोनों अर्थों की विशेषता को बतलाते हैं। कर्मप्रवचनीय भी साक्षात् क्रिया-विशेष को नहीं कहते हैं। अतः इन तीनों को स्वतन्त्र रूप में भी पद माना गया है। पाणिनि ने प्रथम **"सुप्तिङन्तं पदम्" (अ० १।४।१४)** से 'सुबन्त तिङन्त' रूपों की 'पद' संज्ञा कहकर कार्यविशेष के उद्देश्य से कुछ प्रातिपदकों की भी 'पद' संज्ञा का निर्देश किया है।

जिससे अर्थबोध हो उसे पद कहते हैं। अतः सुबन्तादि पदों के अर्थबोधक होने के कारण 'पद' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(१५) कारक संज्ञा

नाट्यशास्त्र में पूर्वाचार्योक्त व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कुछ शब्दों के लक्षणों का निर्देश करते हुए कहा गया है—

"तत्प्राहुः सप्तविधं पदकारकसंयुतं प्रथितसाध्यम्"।

(ना० शा० १४।२३)।

'साधन' 'विभक्ति' एवं 'नाम' शब्दों का भी प्रयोग कारक के लिए पूर्वाचार्य करते रहे हैं। क्रिया-निष्पत्ति की भिन्नता से कारक छः प्रकार का माना जाता है। क्रिया का बाह्य या बौद्ध विभाग जिससे होता है उसे अपादान, कल्याण-कामना से दानादि रूप क्रिया का विभाग जिसके लिए होता है उसे सम्प्रदान, क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक होता है उसे करण, क्रिया के आधार को अधिकरण, क्रिया के प्रेरक को कर्म तथा क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र होता है उसे 'कर्त्ता' कारक कहते हैं। कर्त्ता के अतिरिक्त कर्मादि भी अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण 'कारक' कहलाते हैं। क्रिया की निष्पत्ति कारकों के द्वारा होती है। अतः कर्त्रादिकों की

'कारक' संज्ञा अन्वर्थ ही है। कर्त्रादि कारकों का निर्धारण वक्ता की इच्छा पर आधारित होता है।

(१६) परस्मैपद संज्ञा

काशकृत्स्न आचार्य ने **"उदात्तानुबन्धः परस्मैपदम"** (का० धा० व्या०, सू० ८०) सूत्र में उदात्त अनुबन्ध वाली धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों का तथा **"अनुदात्त-अनुबन्ध आत्मनेपदम्"** (का० धा० व्या०, सू० ८८) सूत्र में अनुदात्त अनुबन्ध-विशिष्ट धातुओं से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों का निर्देश किया है, जिससे इन संज्ञाओं की प्राचीनता परिज्ञात होती है। परस्मैभाष एवं आत्मनेभाष शब्दों का भी प्रयोग पूर्वाचार्य करते थे; ऐसा कैयट ने लिखा है (द्र०—प्रदीप ६।३।७)। पाणिनि ने प्रथम तिप् आदि अठारह प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा का निर्देश करके त आदि नव प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा विशेष रूप से कही है। सामान्यत: परप्रयोजन तथा आत्मप्रयोजन जिससे प्रतीत हो उसे क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद कहते हैं। क्रिया का फल जब कर्त्ता को प्राप्त होता है तब स्वरित एवं ञित् धातुओं से आत्मनेपद, जब क्रिया का फल दूसरे को प्राप्त होता हैं तब परस्मैपद का विधान किया गया है। यहाँ इसी उद्देश्य से की गई यह 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञाएँ आंशिक रूप से अन्वर्थं कही जा सकती हैं।

(१७) संहिता संज्ञा

ऋक् प्रातिशाख्य में **"संहिता पदप्रकृतिः"** (२।१) कहकर **"पदान्तान् पदादिभिः सन्दधदेति यत् सा कालाव्यवायेन"** (ऋ० प्रा० २२) इस सूत्र-वचन से संहिता के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् पदान्तरूपों का अन्य पदों के साथ जो संयोग होता है उसे 'संहिता' कहते हैं। निरुक्त (१।३) में संहिता के प्रसंग में संहिता को पदों का विकाररूप याना गया है, परन्तु दुर्गाचार्य ने पदों को ही विकार-रूप में सिद्ध किया है (द्र०—निरु० भा० १।६)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद-अक्षर-वर्ण एवं अङ्ग भेद से चार प्रकार की संहिताएँ मानी गयी हैं (तै० प्रा० २४।२)। पाणिनि शास्त्र के व्याख्याकारों ने वर्णों का परम सन्निकर्ष अर्धमात्राकालिक व्यवधान में निश्चित किया है। जहाँ अनेक वर्ण या पद परस्पर सन्धि को प्राप्त होते हैं, उसे संहिता कहते हैं—इस अर्थ की सङ्गति सर्वत्र 'श्रीशः' इत्यादि प्रयोगों में होने से 'संहिता' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहा जा सकता है।

(१८) समास संज्ञा

पाणिनि से पूर्व बृहद्देवता में शौनक ने **"विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते"**

(२।१०६) इस वचन से 'समास में विग्रहपूर्वक निर्वचन करना चाहिए' इसका निर्देश करके छः समासों के नाम गिनाए हैं जैसे—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च,
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः"

(बृ० दे० २।१०५) ।

श्लोकार्थ स्पष्ट ही है । इनमें अव्ययीभाव प्रायः पूर्वपदार्थ-प्रधान, तत्पुरुष उत्तरपदार्थ-प्रधान, द्वन्द्व उभयपदार्थप्रधान, बहुव्रीहि अन्य-पदार्थ-प्रधान माना जाता है । द्विगु और कर्मधारय तत्पुरुष के ही भेद हैं । यह छः प्रकार का समास अवान्तर भेदों से २८ प्रकार का होता है । समास का अर्थ संक्षेप होता है । अतः भिन्नार्थक अनेक पदों के परस्पर मिलकर एकार्थवाचक होने में जो संक्षेप क्रिया प्रतीत होती है, उससे 'समास' संज्ञा को अन्वर्थ कहना ठीक ही होगा ।

(१९) प्रत्यय संज्ञा

गोपथ ब्राह्मण में **"ओङ्कारं पृच्छामः । को धातुः ? किं प्रातिपदिकम् ?** ······ ······**कः प्रत्ययः ?"** (१।१।२४) इत्यादि प्रकरण में 'प्रत्यय' संज्ञा का स्मरण किया गया है, जिससे प्रत्यय संज्ञा को पाणिनि उपज्ञात न कहकर पूर्वाचार्यकृत कह सकते हैं । इन्द्र के द्वारा पदपाठ रूप शब्दोपशब्द का प्रकृति-प्रत्यय रूप में विभक्त किया जाना भी इस संज्ञा की प्राचीनता को सिद्ध करता है । बिना प्रत्ययों के अर्थ का सम्यक् बोध न होने से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता लोक में प्रसिद्ध हैं । प्रत्यय का अर्थ ज्ञान होता है । अतः इसकी अन्वर्थता बताते हुए व्याख्याकारों ने कहा है—जिससे अर्थ का सम्यक् बोध हो जाय, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । प्रत्यय भी सुप्, तिङ् इत्यादि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं । यह किसी अर्थ के वाचक होते हुए भी पृथक् प्रयोगार्ह नहीं होते ।

(२०) कृत् संज्ञा

गोभिल गृह्यसूत्र में **"कृतं नाम दद्यात्"** (२।८।१४) सूत्र से कृत्प्रत्ययान्त नामों के लिए निर्देश किया गया है । व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कृत्प्रत्ययान्त नामों को प्रशंसनीय बताया गया है । पाणिनीय शास्त्र में धातुओं से किए जाने वाले प्रत्ययों में 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर सभी 'क्विप्' आदि प्रत्यय कृत्संज्ञक माने गए हैं (**"कृदतिङ्"** अ० ३।१।९३) । कर्त्ता अर्थ में 'कृ' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'कृत्' शब्द निष्पन्न होता है । अतः 'क्विप्' प्रत्यय के साथ छत्त्रिच्छत्रि-न्याय से **'ण्वुल्-तृच्'** आदि प्रत्ययों की जो 'कृत्' संज्ञा की गयी है, वह अन्वर्थ ही है ।

(२१) अपृक्त संज्ञा

"अपृक्त एकाल् प्रत्ययः" (अ० १।२।४१) सूत्र से पाणिनि ने 'अपृक्त' संज्ञा का निर्देश अल् मात्र प्रत्ययों के लिए किया है, परन्तु **"वेरपृक्तस्य"** (अ० ६।१।६७) इत्यादि सूत्रों में अपृक्त शब्द से हल्मात्र प्रत्ययों का ग्रहण होता है। हल्मात्र की 'अपृक्त' संज्ञा न कहकर पाणिनि ने जो अल्मात्र की संज्ञा की है, उसे नागेश ने अदृष्टार्थ माना है (**द्र०—शब्देन्दुशेखर, अजन्त—पुं० प्र०, १।२।४१ "अपृक्तप्रदेशेषु हल्-ग्रहणेनैव सिद्धे संज्ञाविधानमदृष्टार्थम्" इति**)।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद संज्ञक एक अच् वर्ण की 'अपृक्त' संज्ञा देखी जाती है (**"एकवर्णः पदमपृक्तः"** १।५४)। त्रिभाष्य रत्नाकर ने यहाँ 'अपृक्त' को व्यञ्जन-रहित कहा है। परस्पर न मिले हुए पदार्थ को 'अपृक्त' कहते हैं। अतः स्वतन्त्र अल्, अच् या हल् वर्णों को की गयी 'अपृक्त' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(२२) तद्धित संज्ञा

प्रातिपदिकों से किए जाने वाले यत् आदि प्रत्ययों की 'तद्धित' संज्ञा का निर्देश बृहद्देवता में शौनक ने इस प्रकार किया है—

> **"विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते,**
> **प्रविभज्यैव निर्ब्रूयाद् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि"।**
>
> (२।१०६)।

अनेक पदों का व्युत्पादक होने से जिज्ञासुओं के लिए हितसाधक अथवा अनेक प्रयोगों के हितसाधक प्रातिपदिकों से बहुत अर्थों में किए जाने वाले प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त इस 'तद्धित' शब्द को अन्वर्थ ही मानना चाहिए। तद्धित प्रत्ययान्त प्रयोग दाक्षिणात्यों को अधिक प्रिय होने के कारण महाभाष्यकार ने कहा है—

> **"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः"**
>
> (**पस्पशाह्निक**)।

(२३) अभ्यास संज्ञा

"पूर्वोऽभ्यासः" (अ० ६।१।४) इस सूत्र से षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण में पूर्व-स्थित रूप की जो 'अभ्यास' संज्ञा पाणिनि ने कही है, उसको काशकृत्स्न आचार्य ने भी **"पूर्वोऽभ्यासः" (का० धा०८ पा०, सू० ७७)** सूत्र से स्पष्ट किया है। लोक में प्रथम किए गए कार्य की आवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। प्रतीत होता है—आचार्यों ने भी उसी के आधार पर द्वित्व रूप में प्रथम रूप की 'अभ्यास' संज्ञा करके लोक-प्रसिद्ध-अर्थ रूप अन्वर्थता को व्यक्त किया है।

(२४) अभ्यस्त संज्ञा

षष्ठाध्याय के द्वित्व-प्रकरण में द्वित्व किए जाने से निष्पन्न दोनों रूपों की 'अभ्यस्त' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने **"उभे अभ्यस्तम्"** (अ० ६।१।५) सूत्र से किया है। इसका अनुशासन उक्त अर्थ में ही काशकृत्स्न आचार्य ने **"द्वयमभ्यस्तम्"** (**का० धा० व्या०, सू० ७८**) सूत्र से तथा यास्क ने **"एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः" (निरुक्त ४।४)** इत्यादि वचनों से किया है।

लोक में यद्यपि जिस कार्य की अनेक आवृत्तियाँ की जाती हैं उस कार्य को एवं उस कार्य की आवृत्तियों को करके कुशलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति को 'अभ्यस्त' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु शास्त्र में द्विरावृत्त वर्णों की की गयी 'अभ्यस्त' संज्ञा अपनी योगरूढि रूप अन्वर्थता को ही व्यक्त करती है। नुमागम के निषेधार्थ 'जक्ष' इत्यादि सात साधुओं की 'अभ्यस्त' संज्ञा विशेष रूप से पाणिनि ने कही है (अ० ६।१।६)।

(२५) आम्रेडित संज्ञा

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में—**"द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्"** (१।१४६) सूत्र से द्विरुक्त पद की 'आम्रेडित' संज्ञा की गयी है। पाणिनि ने अष्टम अध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वितीय शब्दरूप की **"तस्य परमाम्रेडितम्"** (अ० ८।१।२) सूत्र से 'आम्रेडित' संज्ञा कही है।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इस संज्ञा की अन्वर्थता बताते हुए कहा है, **"आम्रेड्यते = आधिक्येनोच्यते इत्याम्रेडितम्"** (न्या० ८।१।२)। अर्थात् जो अधिक रूप में कहा जाय उसे 'आम्रेडित' कहते हैं। अतः दर्शनीयता एवं रुचि की अधिकता प्रदर्शित करने के लिए **'अहो दर्शनीया-अहो दर्शनीया, मह्यं रोचते-मह्यं रोचते'** इत्यादि प्रयोगों में द्वित्व का उपयोग किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में दोनों रूपों के लिए 'आम्रेडित' शब्द का व्यवहार किया जाता है, व्याकरण शास्त्र में आचार्य पाणिनि ने 'अभ्यस्त' संज्ञा से भेद बोधित करने के लिए 'पटत्पटेति, कांस्कान्' इत्यादि द्वित्वसम्पन्न रूपों में द्वितीय 'पटत्' एवं 'कान्' इत्यादि रूपों की 'आम्रेडित' संज्ञा की है।

(२६) विभाषा संज्ञा

कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में आचार्य आपिशलि के मत में 'विभाषा' संज्ञा का उल्लेख किया है—

"मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु इत्यापिशलिरधीते स्म" (**म० भा० प्र० २।३।१७**)। अन्य पूर्वाचार्यों ने विकल्पार्थ में **अन्यतरस्याम्-वा-उभयथा-**

एकेषाम् इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया था। अनित्य रूप से किन्हीं पदार्थों के वर्णन को विभाषा कहते हैं। अतः **"न वेति विभाषा"** (**अ० १।१।४४**) सूत्र से पाणिनि द्वारा निषेध और विकल्प की की गयी 'विभाषा' संज्ञा से पाक्षिक कार्य का बोध होने के कारण 'विभाषा' संज्ञा अन्वर्थ ही कही जा सकती है।

(२७) ह्रस्व संज्ञा

ऋक् प्रातिशाख्य में एकमात्रिक 'अ इ उ ऋ' इन वर्णों की 'ह्रस्व' संज्ञा, द्विमात्रिक 'आ ई ऊ ॠ' इन वर्णों की 'दीर्घ' संज्ञा तथा त्रिमात्रिक अचों की 'प्लुत' संज्ञा का निर्देश उपलब्ध होता है (**"ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्, अन्ये दीर्घाः, तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः"** **ऋ० प्रा० १।१७-१८, ३०**)।

जिस अच् के उच्चारण में ह्रास हो जाय अर्थात् जिससे कम मात्राएँ अन्य अचों में न हो सकें उसको 'ह्रस्व', जिस अच् के उच्चारण में ह्रस्व वर्ण की अपेक्षा मात्रा का आयाम (विस्तार या वृद्धि) हो जाय उसे 'दीर्घ' तथा इन दोनों प्रकार के वर्णों की मात्राओं का जिससे प्लवन (अतिक्रमण) हो जाय उसे 'प्लुत' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनों संज्ञाओं को अन्वर्थ कहा जा सकता है।

पाणिनि ने उक्तार्थ में ही ये तीनों संज्ञाएँ की हैं—

"ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः"। (**अ० १।२।२७**)।

(२८) उदात्त संज्ञा

महर्षि शौनक ने **ऋग्वेद** प्रातिशाख्य में उदात्त एवं स्वरित स्वरों के उच्चारण में शरीर के अङ्ग किस रूप में हो जाने चाहिए, इसका निरूपण करते हुए कहा है—

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः,
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः।"

(**ऋ० प्रा० ३।१।१–२**)।

अर्थात् वायु के द्वारा जब अङ्ग विस्तृत हो जाते हैं, उस समय उच्चरित वर्ण **'उदात्त'** संज्ञक, वायु के द्वारा जब अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं उस समय उच्चरित वर्ण **'अनुदात्त'** संज्ञक तथा वायु के द्वारा अङ्गों में जब तरलता-सी प्रतीत हो उस समय उच्चरित वर्ण 'स्वरित' संज्ञक होते हैं।

निरुक्त में उत्कृष्टार्थवाचक पद को उदात्त तथा हीनार्थवाचक पद को अनुदात्त कहा है (**"अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्"** निरु० **४।४।६१–६२ इत्यादि**)।

कण्ठताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से वायु का सम्बन्ध होनेपर उच्चरित वर्ण की 'उदात्त' संज्ञा, अधोभाग से सम्बन्ध होनेपर उच्चरित वर्ण की 'अनुदात्त' संज्ञा तथा जिस अच् के उच्चारण में दोनों स्वरधर्मों (उदात्त-अनुदात्तत्व) का सन्निवेश हो उस वर्ण की 'स्वरित' संज्ञा पाणिनि ने कही है (**"उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहार स्वरितः"** अ० १।२।२९-३१)।

वेदों में इन स्वरों का उच्चारण उक्त प्रकार से किए जाने के कारण उदात्तादि संज्ञाएँ भी अन्वर्थ ही हैं।

(२९) विभक्ति संज्ञा

नाट्यशास्त्र में पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'विभक्ति' का लक्षण करते हुए कहा गया है—

> **"एकस्य बहूनां वा धातोर्लिङ्गस्य पदानां वा,**
> **विभजन्त्यर्थं यस्माद् विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः।"**
> (ना० शा० १४।३०)।

अर्थात् एक या अनेक धातु, प्रातिपदिक या पदों के अर्थों का जिससे विभाग होता है उसे 'विभक्ति' कहते हैं। पाणिनीयशास्त्र में भी जिससे प्रातिपदिकार्थ का विभाग किया जाय, उस अर्थ में प्रयुक्त 'विभक्ति' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

पाणिनि ने **"विभक्तिश्च"** (अ० १।४।१०४) सूत्र से 'तिङ्' प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा विभक्तिस्थ तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्-संज्ञा का निषेध करने के लिए की है। **"प्राग्दिशो विभक्ति"** (अ० ५।३।१) सूत्र से तसिल् आदि प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा त्यदादि-विधि-सम्पादन के उद्देश्य से की है।

(३०) आमन्त्रित संज्ञा

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के **"न सप्तम्यामन्त्रितयोः"** (**वा० प्रा० ३।१३६**) सूत्र में 'आमन्त्रित' संज्ञा का स्मरण किया गया है। इस सूत्र के भाष्य से यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने **"सामन्त्रितम्"** (अ० २।३।४८) सूत्र से जो सम्बोधन में प्रथमान्त पद की 'आमन्त्रित' संज्ञा कही है, वही अर्थ पूर्वाचार्यों को भी अभीष्ट था।

आमन्त्रित का अर्थ आमन्त्रण होता है। अतः आमन्त्रण का साधन जिन शब्दों से होता है उनकी की जाने वाली 'आमन्त्रित' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(३१) सार्वधातुक संज्ञा

आचार्य काशकृत्स्न ने **"नामिनो गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः"** (**का० धा० व्या०, सू० २२**) सूत्र से 'सार्वधातुक' एवं 'आर्धधातुक' संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर

नामिसंज्ञक इकारादि वर्णों का गुणविधान किया है। इसके अतिरिक्त **"दानादीनां सन् सार्वधातुके"** (वही, सू० ६५) इत्यादि सूत्रों में भी 'सार्वधातुक' संज्ञा का उल्लेख किया गया है।

पाणिनि ने **"तिङ्शित् सार्वधातुकम्"** (अ० ३।४।११३) सूत्र से 'तिङ्' एवं 'शित्' प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा की है। 'शप्, श, श्नम्' इत्यादि शित् प्रत्यय गण-विशेष के अनुसार भ्वादि इत्यादि गणों में पढ़ी गयी सभी धातुओं से होने के कारण 'सार्वधातुक' कहलाते हैं। 'सार्वधातुक' सज्ञक 'खश्' प्रत्यय को सभी धातुओं से न होते देखकर तथा 'आर्धधातुक' संज्ञक 'ण्वुल्' 'तृच्' आदि प्रत्ययों को सभी धातुओं से होते देखकर इस प्रकार इन संज्ञाओं का विभाग व्यवहाराधिक्य के कारण मानना पड़ता है।

यह भी कहा जा सकता है, कि—पूर्वाचार्य शबादि विकरणयुक्त धातुओं से ही होने वाले प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा करते थे। अर्थात् शबादि विकरण से युक्त होकर जहाँ धातु समग्र रूप में रहती हो, उससे किए गए प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा तथा जहाँ शबादि विकरण-रहित धातु हो उससे किए गए प्रत्ययों की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है। पूर्वाचार्यों का 'सर्व' शब्द से विकरण विशिष्ट का तथा 'अर्ध' शब्द से विकरणरहित का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस प्रकार सर्व (विकरण-विशिष्ट) धातुओं में होने वाले 'तिङ्' तथा शबादि विकरणों की की गयी 'सार्वधातुक' संज्ञा, अथ च अर्ध (विकरणरहित) धातुओं में होने वाले 'ण्वुल्' 'तृच्' आदि प्रत्ययों की की गयी 'आर्धधातुक' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

जैसे 'भवति' में 'तिप्' प्रत्यय के 'सार्वधातुक' होने के कारण 'शप्' प्रत्यय विकरण रूप में सम्पन्न होता है, परन्तु 'बभूव' में लिट् के स्थान में हुए 'तिप्' प्रत्यय की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने के कारण 'शप्' विकरण नहीं होता है। इसी प्रकार 'जनमेजयः' में तो 'खश्' प्रत्यय के सार्वधातुक होने से 'शप्' होता है, परन्तु 'कारकः' में ण्वुल् प्रत्यय के 'सार्वधातुक' संज्ञक न होने से 'शप्' नहीं होता है।

"पूर्वाचार्यैः कैश्चिद्वृत्तिः प्रत्ययत्वेन परिकल्पितः" (म० भा० प्र० १।३।१) इस कैयट के कथन से किन्हीं आचार्यों के मत में शबादि विकरण पृथक् न होकर तिबादि के साथ प्रत्यय रूप में ही पढ़े गए थे जिससे कहा जा सकता है, कि 'अति' इत्यादि प्रत्ययों की ही सामूहिक रूप से 'सार्वधातुक' संज्ञा पूर्वाचार्य करते रहे होंगे।

पूर्वाचार्य द्वारा व्यवहृत पूर्वोक्त संज्ञाओं की सत्ता का आधार महाभाष्य, उसके व्याख्याकार कैयट और नागेशभट्ट आदि अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थ हैं।

द्वितीय खण्ड

उत्कर्ष-काल

उत्कर्ष काल का आरम्भ पाणिनि से तथा अन्त पतञ्जलि से होता है। यही काल संस्कृत व्याकरण के सर्जन का काल है। महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी का, कात्यायन ने अपने वार्तिकों का तथा पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य का प्रणयन किया। ये तीनों ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं तथा टीका-टिप्पणियों के द्वारा अपने अर्थ का विशद प्रतिपादन करते हैं, परन्तु इस युग का विशालकाय लक्ष-श्लोकात्मक परिमाण वाला 'संग्रह' नामक ग्रन्थ सदा-सर्वदा के लिए विस्मृति के गर्त में चला गया। इसके रचयिता महर्षि व्याडि की स्मृति व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय उद्धरणों तथा उल्लेखों से ही जागरूक है। इस काल का विस्तार लगभग एक सहस्र वर्षों का मानना कथमपि अनुचित न होगा—अष्टम शती वि० पू० से लेकर द्वितीय शती वि० पू० तक। संस्कृत भाषा के व्याकरण-निर्माण का यह स्वर्णकाल है। संस्कृत लोकभाषा थी इस युग की आरम्भिक शताब्दियों में और शिष्टभाषा बनी रही इस सहस्राब्दी के अन्तिम काल तक। पाणिनि ने सूत्रों का निर्माण किया जिसमें अपेक्षित कमी की पूर्ति कात्यायन ने अपने वार्तिकों से की। पतञ्जलि ने इन वार्तिकों के ऊपर अपनी श्लाघनीय व्याख्या लिखी महाभाष्य में। वार्तिकों के स्वरूप तथा संख्या जानने का आज महाभाष्य को छोड़कर कोई अन्य उपाय ही नहीं है। व्याडि का आविर्भाव काल पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य-स्थित कालखण्ड में हुआ था। पाणिनि के कुटुम्ब के साथ निकट स्थित होने से उनका समय पाणिनि से विशेष दूर न था। व्याकरण के दार्शनिक विचारों के ये ही अग्रदूत थे।

पाणिनि

पाणिनि संस्कृत में व्याकरण शास्त्र के सबसे बड़े प्रतिष्ठाता तथा नियामक आचार्य हैं। उनका व्याकरण ग्रन्थ **शब्दानुशासन** के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है, परन्तु आठ अध्यायों में विभक्त होने के हेतु वही **अष्टाध्यायी** के नाम से लोकप्रचलित है। संस्कृत भाषा के विश्लेषण का आरम्भ पाणिनि से मानना नितान्त अनुचित है, दीर्घ-कालीन भाषा-विश्लेषण के युग के वे अन्तिम प्रतिनिधि हैं। वे देववाणी के आद्य वैयाकरण नहीं हैं, प्रत्युत उनसे प्राचीन लगभग अस्सी-पचासी वैयाकरणों के नाम, मत तथा ख्याति का संकेत हमें वैदिक वाङ्मय से, विशेषतः प्रातिशाख्यों से, उपलब्ध होता

है। उन्होंने एकादश वैयाकरणों का नाम निर्देश स्वयं किया है जिनके मत का विवरण ऊपर दिया गया है। विभिन्न वेदाङ्गों के निर्माता यास्क तथा शौनक का नाम उन्होंने उल्लिखित किया है जिनसे पाणिनि की उनसे पश्चात्कालीनता स्वतः सिद्ध होती है। उनके आविर्भाव काल के यथार्थतः परिचय देने में अनेक मत हैं, परन्तु उनमें कोई भी असन्दिग्ध नहीं प्रतीत होता। कथासरित्सागर (तरङ्ग चतुर्थ) उन्हें व्याडि तथा कात्यायन वररुचि का समकालीन बतलाता है तथा कात्यायन को मगध-नरेश राजा नन्द का मन्त्री। इस कथा पर आस्था रखने से उनका समय ई० पू० चतुर्थ शतक सिद्ध होता है। परन्तु भाषा के तारतम्य परीक्षण से सूत्रकार वार्तिककार के सम-सामयिक कथमपि नहीं माने जा सकते। दोनों के द्वारा व्याख्यात संस्कृत भाषा के रूप में विद्वानों ने भिन्नता सिद्ध की है। पाणिनि की भाषा ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रों की भाषा से साम्य रखती है और कात्यायन की भाषा अवान्तरकालीन देववाणी से मेल खाती है।

मेरी दृष्टि में पाणिनि के कालनिर्णय में नियामक सूत्र मानना चाहिए **'निर्वाणोऽवाते'** (**अष्टा० ८।२।५०**) को। यह सूत्र निर्वाण पद की सिद्धि बतलाता है। इस पद का अर्थ है—शान्त हो जाना और काशिका के उदाहरणों—**निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणो दीपः** तथा **निर्वाणो भिक्षुः**—से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। इस पद का **बौद्ध** धर्म का विशिष्ट अर्थ मोक्ष है। यदि पाणिनि बुद्ध के अनन्तर उत्पन्न होते, तो अवश्य ही इस अर्थ प्रख्यात अर्थ का उल्लेख करते। फलतः वे बुद्ध के कथमपि अर्वाचीन नहीं माने जा-सकते। कतिपय विद्वान् **कुमारः श्रमणादिभिः** (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' के उल्लेख से पाणिनि को बुद्ध से पश्चाद्वर्ती मानते हैं। उनका तर्क है कि 'श्रमण' (या संन्यासी) नाम तथा तत्प्रतिपादित त्यागमार्ग की स्थापना बुद्ध ने अपने धर्म में सर्वप्रथम की। **कुमारः श्रमणादिभिः** सूत्र के श्रमणादि गण में 'श्रमणा' शब्द का भी पाठ किया गया है। स्त्रियों को संन्यास देने की प्रथा का आरम्भ बुद्ध ही ने किया। अतः बुद्धदेव के द्वारा बौद्धधर्म की स्थापना के अनन्तर ही पाणिनि का आविर्भाव मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। इस तर्क का खण्डन भली-भाँति किया गया है। संन्यास की प्रथा का उदय, स्त्रियों को संन्यास लेने का विधान तथा 'श्रमण' शब्द का प्रयोग बुद्ध के आविर्भाव से प्राचीन युग की घटना है। 'श्रमण' शब्द बुद्धोपज्ञ है—यह सिद्धान्त ही मिथ्या है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। शतपथ-ब्राह्मण ने सुषुप्ति अवस्था के निरूपण-प्रसंग में सर्वोपाधि की निवृत्ति का प्रतिपादन किया है और इस अवसर पर 'श्रमण' शब्द का प्रयोग भी किया है[1]। शाङ्कर भाष्य से

---

१. अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः··· ·········श्रमणो अश्रमणः, तापसः अतापसः इति। (शतपथब्राह्मण १४ काण्ड, ७ अ०, १ ब्राह्मण, २२ कण्डिका)।

स्पष्ट है कि 'श्रमण' शब्द परिव्राजक अर्थ में यहाँ अभिप्रेत है। याज्ञवल्क्य ऋषि के आदेश से मैत्रेयी ने संन्यास ग्रहण किया था। इसका भी प्रतिपादन इसी काण्ड में हैं। फलतः इन समग्र सूत्रों के परीक्षण का परिणत फल यही है कि पाणिनि बुद्धदेव से प्राचीन हैं। उनसे वे कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकते। वार्तिकों से अनुशीलन से भी वे कात्यायन के समकालीन नहीं प्रतीत होते हैं (जैसा कथासरित्सागर ने भ्रम फैलाया है), प्रत्युत वे कम से कम तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं। फलतः विक्रम-पूर्व अष्टम शती में पाणिनि का आविर्भाव मानना सर्वथा उपयुक्त है।

पाणिनि का देश-काल

त्रिकाण्ड-शेष कोष में पाणिनि के नामों में 'शालातुरीय' शब्द पठित है। 'गणरत्न महोदधि' के जैन लेखक वर्धमान ने इस शब्द की व्याख्या में लिखा है—'**शालातुरो नाम ग्रामः। सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः**'। इस व्याख्या से पाणिनि के मूल ग्राम का नाम 'शालातुर' था। ५।१।१ काशिका की व्याख्या न्यास में भी 'शालातुरीय' शब्द प्रयुक्त है[1]। गुप्त शिलालेखों में वलभी से प्राप्त एक शिलालेख में (३१० संवत्सर) पाणिनीय शास्त्र के लिए 'शालातुरीयतन्त्र' का नाम प्राप्त होता है। श्वेन-च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि शालातुर में उसने पाणिनि की वह प्रतिमा देखी जिसे वहाँ के निवासियों ने उनकी प्रतिष्ठा करने के लिए स्मारकरूप में स्थापित किया था। इसका स्थल-निर्देश भी उसने किया है कि यह ग्राम गन्धार देश में 'उद्भाण्ड' नामक प्रसिद्ध स्थान से प्रायः दो कोस के भीतर लहुर ग्राम के पास है। यह 'उद्भाण्ड' आज ओहिन्द नाम से प्रसिद्ध है और सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम पर स्थित है। उससे पश्चिमोत्तर दिशा में आज भी उतनी ही दूरी पर 'लहुर' नामक ग्राम है और यही पाणिनि की जन्मभूमि थी। फलतः वे उदीच्य थे। इस प्रान्त का बौद्धकाल में सबसे विख्यात विश्वविद्यालय (या विद्यापीठ) तक्षशिक्षा था और अपने जन्मस्थान से समीपस्थ इस विद्यापीठ में सम्भवतः पाणिनि की शिक्षा-दीक्षा हुई थी—यह मत उचित प्रतीत होता है। सम्भव है वयस्क होनेपर पाणिनि ने पाटलिपुत्र (पटना) निवासी वर्ष उपाध्याय का भी शिष्यत्व स्वीकार किया था।

पाणिनि का वैयक्तिक परिचय बहुत ही स्वल्प है। महाभाष्य में पाणिनि का नाम दाक्षीपुत्र[2] दिया गया जिससे इनकी पूज्या जननी का नाम 'दाक्षी' सिद्ध होता

---

१. अतः शालातुरीयेण 'प्राक्-ठञश्छः' इति नोक्तम्। (५।१।१ का न्यास)
(काशिका, चतुर्थ भाग पृ० ६)।

२. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
(महाभाष्य, १।१।२० सूत्र पर)।

है। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में षड्गुरु-शिष्य ने छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बतलाया है। लक्ष-ग्रन्थात्मक 'संग्रह' के रचयिता को पतञ्जलि ने दाक्षायण[1] कहा है, उधर पाणिनि के लिए 'दाक्षीपुत्र' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार दोनों में कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में व्याडि पाणिनि के मातुल-तनय प्रतीत होते हैं[2]। राजशेखर अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पाणिनि की विद्वत्ता की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी और उसके बाद ही उन्हें सार्वभौम प्रसिद्धि प्राप्त हुई। पता नहीं इस जनश्रुति का क्या आधार है? उस प्राचीन युग में भी पाटलिपुत्र और तक्षशिला के विद्वानों में आदान-प्रदान की घटना होती थी—यह बात सम्भावना के बाहर नहीं है। पाणिनि के विषय में स्थूलरूप से हम ये ही बातें जानते हैं।

ग्रन्थ

पाणिनि ने घोर तपस्या से शिवजी को प्रसन्न किया और उनके अनुग्रह से 'अइउण्' आदि १४ सूत्रों को प्राप्त किया। ये माहेश्वर सूत्र पाणिनि व्याकरण के मूलपीठस्थानीय हैं। पाणिनि के भाषागत वैदुष्य की तुलना किसी से करना घोर अन्याय होगा। वे अपने विषय के अनुपम पारखी, गम्भीर तत्त्ववेत्ता, भाषा के सूक्ष्म पारद्रष्टा तथा विश्लेषण में नितान्त नैपुण्य-सम्पन्न आचार्य थे जिनकी प्रतिभा पर भारतीय विद्वान् तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् सर्वतोभावेन मुग्ध हैं। लक्षण ग्रन्थ लक्ष्यानुसारी होता है। महर्षि ने संस्कृत के यावदुपलब्ध लक्ष्य-ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर ही इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण का निर्माण किया। उनमें प्रातिभ ज्ञान था, आर्षचक्षु से तथ्यों का यथावत् निरीक्षण था। इस निरीक्षण के लिए एक सूत्र का प्रमाण लीजिए। **उदक् च विपाशः (४।२।७४)** सूत्र के द्वारा विपाश् (आधुनिक बिआस नदी) के उत्तर ओर वर्तमान कूपों के नाम निर्देश में अञ् प्रत्यय जोड़ा जाता है और दक्षिण तीरस्थ कूपों के लिए अण् प्रत्यय का विधान है। शब्दरूप में कोई भी अन्तर नहीं। 'दत्त' के द्वारा निर्मित दोनों ओर के कूप 'दात्त' ही कहे जायँगे, परन्तु

---

१. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः॥ (वही)।

२. कुछ विद्वान् व्याडि को पाणिनि का मातुल मानते हैं; परन्तु यह मत सयुक्तिक नहीं है। कारण यह है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी पर आश्रित 'संग्रह' ग्रन्थ लिखा। अतः वय में उन्हें पाणिनि की अपेक्षा न्यून होना चाहिये और यह वय-सम्बन्धी तारतम्य व्याडि के मातुल-पुत्र होनेपर भी संगत बैठता है। अतः दोनों में यही सम्बन्ध मानना न्यायतः उचित प्रतीत होता है।

स्वरों का विभेद है। उत्तरकूल का 'दात्त' शब्द आद्युदात्त प्रयुक्त होता था और दक्षिणकूल का 'दात्त' शब्द अन्तोदात्त बोला जाता था। सूक्ष्म स्वर का परीक्षण पाणिनि के गम्भीर निरीक्षण का परिणाम है। इसीलिए तो काशिकाकार ने (४।२।७४ वृत्ति) आश्चर्यभरे शब्दों में अपनी भावना व्यक्त की है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

आचार्य की सूक्ष्मेक्षिका का एक और उदाहरण लीजिये। उस युग में संस्कृत भाषा के प्रयोग के दो प्रकार थे। एक प्राच्य आचार्यों का और दूसरा उदीच्य आचार्यों का। इन दोनों आचार्यों के प्रयोग-पार्थक्य को आचार्य पाणिनि ने बड़ी सूक्ष्मता से देखा था। अष्टाध्यायी का एक सूत्र है **उदीचां माङो व्यतीहारे** (३।४।१९)। 'व्यतीहार' का अर्थ है अदला-बदला करना। पूर्वकाल का अर्थ होने पर भी धातु से 'त्वा' प्रत्यय होता है। भुक्त्वा व्रजति—भोजन करके वह जाता है। पूर्वकालिक होने से 'भुज्' में क्त्वा प्रत्यय हुआ—यही सार्वत्रिक नियम है, परन्तु मेङ् दाने धातु से इससे विपरीत होने पर भी क्त्वा प्रत्यय होता है। उदीच्य आचार्यों के ही मत से यह नियम है; प्राच्य आचार्यों के मत में नहीं।

(१) 'पहिले माँगता है और पीछे उसके बदले में देता है' इस अर्थ में होता है प्रयोग—**'अपमित्य याचते'**—औदीच्य आचार्यों का प्रयोग।

(२) **याचित्वाऽपमयते**—प्राच्य आचार्यों का प्रयोग। इनमें प्रथम प्रयोग का निरीक्षण बड़ा ही मार्मिक है। सामान्य बुद्धि का विद्वान् इस सूक्ष्म प्रयोग का निरीक्षण क्या कर सकता है? पाणिनि स्वयं औदीच्य थे। अतः औदीच्य प्रयोग से उनका गाढ परिचय होना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु प्राच्य-प्रयोग का विधिवत् निरीक्षण उनकी सूक्ष्म ईक्षिका का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

सैकड़े ऐसे प्रयोग हैं जिनमें पाणिनि की प्रतिभा उन्मीलित होकर आज भी आश्चर्य का विषय है। थोड़े में विशाल संस्कृत शब्दार्णव को बाँध डालना एक दैवी शक्ति का चमत्कार ही है। महर्षि ने अनुबन्ध, प्रत्याहार, परिभाषा, पारिभाषिक संज्ञा आदि की उद्भावना इस व्यापार के निमित्त की। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि—आदि भी व्याकरण की समग्रता के निमित्त निर्मित किये गये हैं। पाणिनि ने प्राच्य तथा उदीच्य रूप से संस्कृत के दो प्रकार की भाषा-भिन्नता का स्पष्ट निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है[1]। महर्षि स्वयं उदीच्य थे और सांख्यायन ब्राह्मण के प्रामाण्य पर[2]

---

१. पूर्वाचार्यों के विषय में इसका उल्लेख पीछे किया गया है।

२. उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते—सांख्यायन ब्रा० ८।६।

उदीच्य देश की भाषा ही विशुद्ध संस्कृत मानी जाती थी जिसे सीखने के लिए प्राच्य देशों से भी छात्र जाया करते थे और शिक्षा प्राप्त करने पर सत्कार के पात्र माने जाते थे। अतएव पाणिनि ने यहाँ विशुद्ध संस्कृत वाणी का व्याकरण प्रस्तुत किया। शब्दरूप, धातुरूप, सन्धि, समास, तद्धित, कृत् आदि समस्त भाषावयवों का निरूपण अष्टाध्यायी के सूत्रों में विस्तार से उपलब्ध होता है। भाषागत विश्लेषण के संग में उस प्राचीन युग का सांस्कृतिक इतिहास भी इन सूत्रों के माध्यम से आज हमें प्राप्त हो रहा है[1]। इससे महर्षि के भाषाशास्त्रीय वैदुष्य तथा सांस्कृतिक अनुशीलन दोनों का पूर्ण परिचय आलोचकों के सामने प्रस्तुत होता है। पाणिनि की प्रतिभा महाभाष्य तथा काशिका में अनेकत्र प्रशंसित तथा समादृत हुई हैं।

शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः (भाष्य २।३।६६); **आकुमारं यशः पाणिनेः** (वही, १।४।८९) तथा '**पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते**' (काशिका २।१।६)—ऐसी ही श्लाघ्य प्रशस्तियाँ हैं।

अष्टाध्यायी का विषय-क्रम

अष्टाध्यायी में मुख्य रूप से तीन भाग दृष्ट होते हैं (व्याकरणीय प्रक्रिया की दृष्टि से)—

१. वाक्यों से पदों का संकलन (१-२ अध्याय);

२. पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग (३-५ अ०);

३. प्रकृति प्रत्ययों के साथ आगमादेशादि का संयोजन कर परिनिष्ठित पदों का निर्माण (विशेषतः सन्धिकार्य कर, ६-८ अ०)।

शास्त्ररचना के कारण अपरिहार्य और सम्बद्ध विषयों का प्रतिपादन भी मूल विषयों के साथ सर्वत्र किया गया है।

प्रथम अध्याय

पाद १—यह अध्याय मुख्यतः संज्ञापरक है। इसमें पूर्णतया शास्त्र में व्यवहार्य संज्ञाओं का कथन है। प्रकरण-नियत उपपद आदि संज्ञाएँ तत्तत्प्रकरणों में कथित हुई हैं। संज्ञा के साथ परिभाषा का अत्यन्त सादृश्य है, अतः कहीं-कहीं विषय के नैकट्य के अनुसार कुछ परिभाषाएँ भी संज्ञाओं के साथ पठित हुई हैं। १।१।१—१।१।१० तक वर्णसम्बन्धी संज्ञाएँ हैं। १।१।११ से वर्णसमूहात्मक शब्दों की संज्ञाएँ हैं। १।१।४४-४५ में आर्थी संज्ञारूप विभाषा और संप्रसारण संज्ञा कथित हुई हैं।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—इण्डिया एज नोन टू पाणिनि (लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५३) तथा पाणिनिकालीन भारतवर्ष, काशी।

संज्ञासम्बन्धी कार्य की पूर्ति के लिए १।१।४५ से परिभाषा प्रकरण का आरम्भ किया गया है। यह प्रासंगिक है, अतः १।१।६० में पुनः अर्थसंज्ञा रूप लोप का विधान किया गया है। आदेश और लोप के साथ टिसंज्ञा और उपधासंज्ञा अत्यावश्यक प्रतीत होती हैं, अतः उनका निर्देश १।१।६४-६५ में किया गया है। पादान्त मे उपसंहार की दृष्टि से सौत्रशब्द व्यापारसम्बन्धी कुछ परिभाषाओं का पाठ है। सर्वान्त में वृद्धसंज्ञा के स्थापन का उचित कारण अन्वेष्य है।

१।२ पाद—प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञाकरण आरम्भ में है (१।२।१–२६)। चूँकि यह अतिदेश भी है और संज्ञा भी। अतः पृथक् पाद में इस विषय का उपन्यास किया गया।

१।२।२७ से ह्रस्वादि संज्ञाओं का विधान है साथ ही १।२।२९-४० में वैदिक उदात्तादि का विवरण किया गया है। यह विषय शिक्षा-प्रातिशाख्य से मूलतः सम्बद्ध है। अतः पूर्वपाद से 'पृथक् पाद में यह उपदिष्ट हुआ है। ह्रस्वादि वर्ण-सम्बद्ध संज्ञाएँ हैं। अतः वर्णविषयक अपृक्त संज्ञा १।२।४१ में पठित हुई है।

१।२।४२-४३ में समाससम्बद्ध दो संज्ञाएँ पठित हुई हैं। चूँकि समास प्रकरण में इनका पाठ करने पर दोष होता, अतः इन दोनों का पाठ समास-प्रकरण में न कर यहाँ किया गया है। प्रातिपदिक-ज्ञान से पहले जिन संज्ञा परिभाषाओं का ज्ञान करना आवश्यक है, उनका पाठ यहाँ तक किया गया है।

१।२।४५ में प्रातिपादिक संज्ञा का उल्लेख किया गया है। प्रतिपादिक विचार के साथ-साथ १।२।६४ सूत्र से 'एकशेष' का विचार किया गया है। **'प्रातिपदिकानामेकशेषः'** यह वैयाकरणों में प्रसिद्ध भी है।

१।३ पाद के आरम्भ में धातुसंज्ञा का उल्लेख है। धातु नाम के अधीन होता है, अतः नाम के बाद धातु का उपन्यास करना उचित ही है। धातु अनुबन्ध-बहुल होते हैं, अतः अनुबन्धों (= इत्) की चर्चा १।३।११ तक की गयी है।

१।३।१२ से आत्मनेपद परस्मैपद की चर्चा की गयी है, क्योंकि ये दो धातुसम्बद्ध ही विषय हैं। 'विप्रतिषेध नियम' को मानकर पहले 'आत्मनेपद' और उसके बाद 'परस्मैपद' का उपस्थापन किया गया है।

१।४ पाद—इसमें परिशिष्टभूत संज्ञाओं की चर्चा पहले की गयी है।

१।४।२३ सूत्र से कारकाधिकार प्रवर्तित होता है। कारक से पहले 'वचन' (१।४।२१-२२) का उपन्यास करना न्याय की दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि संख्या के बाद कारक का बोध होता है। कारकों का उपन्यास 'अपादान-सम्प्रदान करण-अधिकरण-कर्म-कर्ता' इस क्रम से किया गया है। इसमें 'विप्रतिषेध नियम' ही हेतु है।

१।४।५६ से 'निपात' और १।४।५९ से 'उपसर्ग' का विचार किया गया है। इन दोनों का कारकज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कारक से पहले इनका उपन्यास न कर बाद में किया गया है।

'निपात-उपसर्ग' के बाद उपसर्ग-सदृश 'कर्मप्रवचनीय' का उपन्यास करना उचित ही है। अतः १।४।८३ सूत्र से कर्मप्रवचनीयों का उपन्यास किया गया है। १।४।६०-८२ पर्यन्त गतिसंज्ञक शब्दों की चर्चा की गयी है क्योंकि उपसर्ग ही क्रियायोग से शून्य होने पर (तथा अन्य विशेष गुण से युक्त होने पर) गतिसंज्ञक होते हैं।

१।४।९९ से 'तिङ्' का विचार किया गया है। वाक्यगत पदसामान्य का विचार प्रथमाध्याय का विषय है, अतः अध्यायान्त में तिङ् का विचार प्रसक्त होता है, क्योंकि वाक्य = एकतिङ्। प्रसंगतः १।४।९९-१०० में 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञा का उल्लेख है। तिङ् और उपग्रह के साथ सम्बन्ध रहने के कारण १।४।१०१ से 'पुरुष' की चर्चा की गयी है।

अध्यायान्त में 'संहिता' संज्ञा (१।४।१०९) और 'अवसान संज्ञा' (१।४।११०) का उल्लेख किया गया है। स्वभावतः 'पदसामान्य-विचार' के अन्त में ही इनका उपन्यास करना उचित प्रतीत होता है।

द्वितीयाध्याय का विश्लेषण

'विशेष पदों का संकलन' इस अध्याय का मुख्य विषय है। कुछ सम्बन्धित विषय भी उपन्यस्त हुए हैं। प्रथमाध्याय में व्यासरूप वाक्य (पदसामान्य) ही मुख्यतः विवेचित हुआ है।

२।१-२ पाद—समासरूप विशिष्ट पद का विवेचन किया गया है। समासों में पूर्वपदार्थ-प्रधान होने के कारण 'अव्ययीभाव' का उपन्यास सबसे पहले किया गया है (२।१।२१ सूत्र पर्यन्त)। उसके बाद उत्तरपदार्थ-प्रधान 'तत्पुरुष' का आरम्भ २।१।२२ से किया गया है। तत्पुरुष प्रायेण द्विपदघटित होता है, अतः प्रायेण बहुपद-घटित 'बहुव्रीहि द्वन्द्व' से इसका उपन्यास पहले किया गया है। बहुव्रीहि तत्पुरुष का शेष है, अतः तत्पुरुष के बाद 'बहुव्रीहि' का विवेचन है। बहुव्रीहि २।२।२९ पर्यन्त है। उभयपदार्थ-प्रधान होने के कारण 'द्वन्द्व' का प्राधान्य है और इसी दृष्टि से (तु० द्वन्द्वः सामासिकस्य च) सर्वान्त में द्वन्द्व का उपन्यास किया गया है। पर में उपन्यस्त विधि बलवान् होता है। इस न्याय से भी उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व का उपन्यास सर्वान्त में करना आवश्यक था।

सर्व समास सम्बद्ध 'उपसर्जन' प्रकरण चतुर्विध समासों के बाद २।२।३० सूत्र से आरब्ध हुआ है।

२।३ पाद—सुबन्त शब्दों का समास होता है। अतः समास के बाद इस पाद में 'सुप्-विभक्तियों' का अर्थ दिखाया गया है।

२।४ पाद—आरम्भ में पूर्वारब्ध समास से सम्बन्धित 'लिङ्गवचनों' का विधान किया गया है (२।४।३१ सूत्र पर्यन्त)। २।४।३२ सूत्र से जिन विषयों का उपन्यास किया गया है, हमारी दृष्टि में वे विशिष्ट पद के अन्तर्गत हैं। 'अन्वादेश' विशिष्टपद है (२।४।३४ पर्यन्त); तथैव आर्धधातुक-सम्बन्धी 'धात्वादेश' (२।४३५) भी वशिष्ट धातु ही हैं। २।४५८ से नाम और विकरण सम्बन्धी 'लुक् प्रकरण' हैं। मुख्यतः पदसम्बन्धी होने के कारण पदविधिपरक इस अध्याय के अन्त में यह विषय रखा गया है। सर्वान्त सूत्र **'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'** (२।४।८५) है। प्रत्यया-धिकार में इसे पढ़ने से दोष होता (अभीष्ट सर्वादेशत्व सिद्ध नहीं होता)। अतः विशिष्ट पद-विचार के अन्त में तथा प्रत्ययाधिकार से ठीक पहले इसको रखा गया है।

३–५ अध्याय पर्यन्त प्रत्ययाधिकार है। सामान्य और विशिष्ट पदों का 'प्रकृति-प्रत्यय में विभाग' इन तीन अध्यायों में किया जायगा।

तृतीय अध्याय

३।१ पाद—प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य विचार १–४ सूत्र में किया गया है। चूँकि धातु के बाद कृत्प्रत्यय होते हैं, अतः 'प्रत्ययान्त धातु' का उल्लेख यहीं कर दिया गया है (३।१।५–२२)। ३।१।३३ से 'विकरण' का आरम्भ किया गया है। ये विकरण धातु के अव्यवहित पर में होते हैं तथा कृत् से ये अन्तरंग हैं। अतः कृत्-प्रत्ययों से पहले इनका उपन्यास किया गया है (३।१।८६ पर्यन्त)। कुछ सम्बद्ध विषयों की चर्चा ३।१।९० तक की गई है।

३।१।९१ सूत्र में 'कृत्प्रत्ययों' का अधिकार किया गया है। इसके दो ही विभाग हैं, 'कृत्य' और 'कृत्'। अल्पसंख्यक तथा नाम विशेषण-निष्पादक कृत्य का आरम्भ पहले किया गया है (३।१।१३२ सूत्र पर्यन्त)। ३।१।१३३ से नाम विशेषण निष्पादक 'कृत्' अभिहित हुए हैं। ण्वुल्-तृच् आदि कृत्प्रत्यय कालानुसारी विभक्त हैं यह कृत्प्रत्यय २ पाद पर्यन्त है। प्रथम पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' को चर्चा नहीं है। ३।२ पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' की अपेक्षा है।

३।३ पाद—आरम्भ में उणादि (१–३ सूत्र) है। ४ सूत्र से भविष्यत्कालिक कृत प्रत्यय हैं। १–२ पाद में सार्वकालिक और भूतकालिक प्रत्यय कहे गए हैं। ३।३।१८ सूत्र में 'भाव' का अधिकार है—अत्रत्य कृत्-प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची होते हैं।

३।४ पाद—यह कृत्प्रत्यय का परिशिष्टभूत है। 'अव्ययरूप' 'कृत्प्रत्ययों' का विवरण मुख्यतः इसमें है। ३।४।७७ सूत्र से 'लादेश' का प्रसंग किया गया है। आदेश के सिद्ध पद विशेष्यवाची होता है। अतः विशेष्यपद निष्पादक 'अव्ययकृत्' के बाद 'लादेश' का उपस्थापन न्याय्य ही है।

चतुर्थ-पञ्चम अध्याय

धातु से नाम की उत्पत्ति कहने के बाद 'नाम से नाम की उत्पत्ति' के लिए चतुर्थ-पञ्चमाध्याय प्रणीत हुए हैं। आरम्भ में 'स्त्रीप्रत्ययों' की चर्चा है (४।१।३–४।१।८१)। पहले 'साधारण स्त्रीप्रत्यय' और उसके बाद ४।१।१४ से 'अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय' कहे गए हैं।

४।१।८२ सूत्र से 'तद्धित प्रकरण' का आरम्भ किया गया है (यों 'तद्धिताः' सूत्र ४।१।७६ में है)। चूँकि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द के बाद स्त्रीप्रत्यय होते हैं, अतः स्त्रीप्रत्यय के प्रतिपादन के बाद 'तद्धित प्रकरण' रखा गया है। तद्धित में भी पहले 'अस्वार्थिक तद्धित' और ५।३।१ सूत्र से 'स्वार्थिक तद्धितों' का उपन्यास किया गया है। चतुर्थ अध्याय में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है—अण्, ठक् तथा यत्। पञ्चम अध्याय के अस्वार्थिक प्रत्ययों में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है—छ, ठक् और ठञ्। ५।२ पाद वस्तुतः तद्धित प्रत्ययों का परिशिष्ट है। ३–४ पादों में 'स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय' हैं। ५।३।२६ सूत्र पर्यन्त 'विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिक तद्धित' और ५।३।२७ सूत्र से 'केवल स्वार्थिक प्रत्यय' विहित हुए हैं।

५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' आरब्ध हुआ है। प्रक्रिया की दृष्टि से समासान्त को तद्धित प्रत्यय मानना पड़ता है। अतः तद्धिताधिकार में ही (स्वार्थिक तद्धित के अन्त में) 'समासान्त' को रखा गया है।

षष्ठ अध्याय

यहाँ से अष्टाध्यायी के तृतीय भाग का आरम्भ हो रहा है। पहले प्रकृति (धातु आदि) सम्बन्धी कार्यों (आदेशादि) का उल्लेख है और उसके बाद प्रत्ययसम्बन्धी कार्यों का। प्रकृत्याश्रित कार्य प्रत्ययाश्रित कार्यों से अन्तरंग होता है, इस न्याय से ऐसा करना आवश्यक है।

६।१।१-१२ तक धातुसम्बन्धी कार्य कहे गए हैं ('द्वित्व विधि')। १३ सूत्र से 'सम्प्रसारण रूप' आदेश कहा गया है। ४५ सूत्र से 'आत्वविधि'। इन स्थलों में आदेश के साथ आवश्यक आगम भी उक्त हुए हैं। आगम-आदेश में सादृश्य भी बहुलतया है, अतः एकत्र पाठ करना संगत ही है। ६।१।७२ सूत्र से वे आदेश विहित हुए हैं, जो संहिता में होते हैं। संहिताधिकार ६।१।१५७ पर्यन्त है।

६।१।१५८ से ६।२ पाद पर्यन्त स्वरविधि है। यह स्वरविधि अष्टमाध्यायोक्त स्वरविधि के साथ नहीं पढ़ा गया, इसमें पाणिनीय पारिभाषिक प्रक्रिया ही हेतु है।

६।३ पाद में भी प्रकृति-कार्य हैं, पर ये कार्य उत्तर पदसापेक्ष हैं। ६।४ पाद से 'अङ्गाधिकार' आरब्ध हुआ है, जो सप्तमाध्याय पर्यन्त है। 'प्रत्यय परे रहते प्रकृति की अङ्गसंज्ञा होती है', अतः इस विशिष्टता की रक्षा के लिए अङ्गप्रकरणोचित कार्यों का पाठ पृथक् रूप से किया गया है। 'अङ्ग कार्य' में भी पहले 'सिद्धकार्य' और उसके बाद ६।४।२२ सूत्र से 'असिद्ध कार्य' यह असिद्ध-प्रकरण अष्टमाध्यायीय असिद्ध-प्रकरण से विलक्षण है।

सप्तमाध्याय

मुख्यतः प्रत्यय-कार्यों का उपदेश इस अध्याय में दिया गया है। प्रत्यय-कार्यों के साथ सम्बद्ध आगमों का भी उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में बाहुल्येन 'विप्रतिषेध' नियम के अनुसार कार्यों का उपस्थापन किया गया है।

अष्टमाध्याय

प्रथम पाद में द्वित्व-विधि का अनुशासन है। यह पद-द्वित्व है। चूँकि सप्तमाध्याय पर्यन्त पद-निर्माण समाप्त हो गया है, अतः यहाँ पद-द्वित्व का उपन्यास करना उचित ही है। ८।१।१५ तक 'द्वित्व' है। ८।१।१६-१७ में 'पदस्य' 'पदात्' का अधिकार है। इसमें पदस्वर प्रक्रिया है।

२-३ पाद में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (१ सूत्र) रूप असिद्ध काण्ड रचित हुआ है। **'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्'** इस न्याय के अनुसार यहाँ आदेशलोपादिकार्य अनुशिष्ट हुए हैं।

पाणिनि और संस्कृत भाषा

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को स्थायित्व प्रदान करने का जो कार्य किया, वह अलौकिक तथा अद्भुत है। लक्ष्यानुपरीक्षण पर लक्षण का निर्माण स्वाभाविक माना जाता है। पाणिनि ने अपने युग तक उपलब्ध साहित्य का विधिवत् परीक्षण करने के बाद अपने व्याकरण-ग्रन्थ का प्रणयन किया—इस सिद्धान्त का अपलाप नहीं किया जा सकता। भाषा की दृष्टि से संस्कृत भाषा तथा शब्दों का ह्रास ही सम्पन्न होता जा रहा है, विकास नहीं। पाणिनि संस्कृत-भाषा के शब्दों के नियमन करने वाले आचार्य हैं, परन्तु यह देववाणी पाणिनि के व्याकरण से कहीं अधिक विशद, विस्तृत तथा व्यापक है। महाभारत के टीकाकार देवबोध (१२वीं शती) का यह कथन

यथार्थ प्रतीत होता है कि माहेन्द्र व्याकरण अर्णव है जिसकी तुलना में पाणिनीय व्याकरण गोष्पदमात्र है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

जब गोष्पदभूत पाणिनीय व्याकरण इतने शब्दों की सिद्धि तथा परीक्षा में समर्थ है, तब महेन्द्र व्याकरण को कितने शब्दों के विश्लेषण तथा परीक्षण का श्रेय प्राप्त होगा ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर कौन दे सकता है आज !!! फलतः देववाणी का शब्दभण्डार पाणिनि-व्याख्यात शब्दभण्डार की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक है—यह तो निश्चित ही है ।

पाणिनि के सूत्रों में उल्लिखित तथा इन सूत्रों की सहायता से व्युत्पन्न शब्द भी पर्याप्तरूपेण ऐसे हैं जिनका प्रयोग अवान्तरकालीन व्यवहार से बिल्कुल लुप्त हो गया है अथवा लुप्तप्राय-सा है । पिछले युगों के साहित्य में उनका प्रयोग नितान्त स्वल्प है या नितान्त अभावग्रस्त है । ऐसे कतिपय शब्दों का अर्थ यहाँ काशिका के आधार पर दिया जाता है जिससे पाणिनिकालीन शब्द-व्यवस्था की एक फीकी झाँकी भाषा के जिज्ञासुजनों के सामने स्वयं प्रस्तुत हो जाती है । प्रत्येक शब्द के ऊपर भाषाशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा है—

(१) **स्थेय**—विवाद के पक्षों का निर्णयकर्ता, निर्णायक अथवा जज्ज । इसीके लिए 'प्राड्विवाक' शब्द भी पिछले धर्मशास्त्रों में प्रयुक्त है, परन्तु वह दो शब्दों के योग से बना शब्द है; और यह है स्वतः एकाकी अर्थ-प्रकाशक अभिधान (१।३।२३) ।
(२) गन्धनं = अपकार प्रयुक्त हिंसात्मक सूचनम् (१।३।३२) ।
(३) प्रतियत्नः = सतो गुणान्तराधानम् (वही सूत्र)
(४) उपनयनम् = विवाहः, स्वीकरणम् (१।२।१६)
(५) वृत्तिः = अप्रतिबन्धः (१।३।३८)
(६) सर्गः = उत्साहः (१।३।३८)
(७) तायनम् = स्फीतता = विकसित होना (१।३।३८)
(८) आध्यानम् = उत्कण्ठा-स्मरणम् (= उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) १।३।४६ ।
(९) प्रत्यवसानम् = अभ्यवहारः (भोजन) १।४।५२
(१०) निवचनम् = वचनाभावः (मौन हो जाना) १।४।७६
(११) एकदेशी = अवयवी २।२।१
(१२ अपवर्गः = क्रियापरिसमाप्तिः २।६।६

(१३) आयुक्तः = व्यापारितः २।३।४०
(१४) अनुपात्ययः = क्रमप्राप्तस्यानतिपातः (परिपाटी) ।
(१५) मूर्तिः = काठिन्यम् ३।३।७७
(१६) समापत्तिः = सन्निकर्षः ३।४।५०
(१७) माथः = पन्थाः ४।४।३७ ('दण्डमाथं धावति' = दाण्डमाथिकः । सीधे राह पर दौड़ने वाला व्यक्ति (न्यास) ।
(१८) दिष्टम् = प्रमाणानुपातिनी मतिः ४।४।६०
(१९) अभिजनः = पूर्वबान्धवः (४।२।९०) तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि अभिजन इत्युच्यते यस्मिन् पूर्वबान्धवैरुषितम् ।
(२०) उपज्ञातम् = विनोपदेशेन ज्ञातम् ४।३।११५
(२१) तीर्थः = गुरुः ४।४।१०७
(२२) उपधानः = चयनवचनः ४।४।१२५
(२३) अवष्टब्धम् = आसन्नम् ५।२।१३
(२४) पार्श्वम् = अनृजुरुपायः (कुटिल उपाय) ५।२।७५ (पार्श्वकः = मायावी)
(२५) निष्कोषणम् = अन्तरवयवानां बहिर्निष्कासनम् ५।४।६२
(२६) प्रवाणी = तन्तुवायशलाका ५।४।६०
(२७) परीप्सा = त्वरा ३।४।५२
(२८) समवायः = समुदायः ६।१।१३८
(२९) प्रतिष्कशः = वार्तापुरुषः सहायः पुरोयायी वा ६।१।१५२ (किसी के आने की खबर देनेवाला अथवा आगे जानेवाला पुरुष) ।
(३०) मस्करः = वेणुर्दण्डो वा
(३१) मस्करी = परिव्राजकः (माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते) (कर्म का खण्डन करनेवाला बौद्धकालीन भिक्षु) ।
(३२) कुशा = यज्ञ में प्रयुक्त उदुम्बर काष्ठ की बनी शंकु (खूँटी) छन्दोगाः स्तोत्रीय-गणनार्थान् औदुम्बरान् शंकून् 'कुशा' इति व्यवहरन्ति (तत्त्व-बोधिनी) ।
(३३) कुशी = हल का बना लोहे का फाल (बुन्देलखण्डी 'कुसिया' उसी का वाचक तद्भव शब्द है, परन्तु भोजपुरी 'चौभी' शब्द देशी है । 'अयस्कुशा' इसीका अपर पर्याय प्रतीत होता है) ।

पाणिनिकालीन लोकभाषा

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जिस संस्कृत का व्याकरण लिख रहे थे वह लोकभाषा थी—सामान्य जनता की व्यवहार्य

भाषा। सैकड़ों ऐसे सूत्र हैं जिनका उपयोग व्यवहारगम्य शब्दों की सिद्धि के निमित्त ही होता है, किसी शास्त्रीय शब्द के लिए नहीं। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर बलात् उपनीत होते हैं कि संस्कृत उस युग में बोली जाने वाली भाषा थी। इस विषय के कतिपय सूत्रस्थ प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं—

(क) प्लुतविधान की युक्तिमता

प्लुतविधान के निमित्त अनेक सूत्र हैं। (१) दूराह्वान अर्थात् दूर से बुलाने के लिए प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है—जैसे सक्तून् पिब देवदत्त३। यहाँ दत्त का अन्तिम अकार प्लुत हुआ है। (२) दूराह्वान वाले वाक्य में यदि है हे का प्रयोग हो, तो इन शब्दों को ही प्लुत होता है यथा हे३ राम तथा राम है ३ (है हे प्रयोगे हैहयोः ८।२।२२); (३) इसी प्रकार देवदत्त को दूर से पुकारना होगा, तो देवदत्त में तीन स्थानों पर क्रमशः प्लुत होगा दे३वदत्त; देवद३त्त, देवदत्त३ (सूत्र ८।२।८६); (४) अशूद्रविषयक प्रत्यभिवादन में प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है। अभिवादन के उत्तर में जो वाक्य प्रयुक्त होता है, उसे 'प्रत्यभिवादन' कहते हैं। यथा—

(१) अभिवादन = अभिवादये देवदत्तोऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि देवदत्त ३।

(२) अभिवादन = अभिवादये गार्ग्योऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि गार्ग्य ३।

जिस प्रत्यभिवादन वाक्य के अन्त में नाम तथा गोत्र का प्रयोग किया जाता है, वहीं यह नियम लगता है। पूर्वोक्त वाक्यों में पहिले वाक्य के अन्त में नाम प्रयुक्त है और दूसरे में गोत्र। अतः इन दोनों में प्लुत का श्रवण होता है[1]। वार्तिककार भी, क्षत्रिय तथा वैश्य नाम को भी प्लुतविधान करते हैं। सूत्र में इस तथ्य का स्पष्टीकरण न था। इसलिए कात्यायन ने इस वार्तिक के द्वारा स्पष्टीकरण किया है[2]।

इस प्लुतविधान की युक्तिमता तभी सिद्ध हो सकती है, जब भाषा प्रयुक्त हो। लिखित भाषा के लिए ये सब नियम व्यर्थ हैं।

(ख) आक्रोश की गम्यमानता

आक्रोश गम्यमान होने पर आदिनी (खाने वाली) शब्द परभाग में रहने पर

१. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३। नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते, तत्रैव प्लुत इष्यते—कौमुदी।

२. भोराजन्य विशां चेति वाच्यम्। पूर्वसूत्र पर वार्तिक।

पुत्र शब्द में द्वित्व नहीं होता[1] यथा पुत्रादिनी त्वमसि पापे (बेटा खाने वाली हो तू पापिनी) यह गाली है और आज भी हमारे गाँवों तथा नगरों में सुनी जा सकती है। भोजपुरी में गाली का शब्द ही है—बेटा-खौकी (बेटा खाने वाली)। वार्तिककार यहाँ हत और जग्ध शब्दों के प्रयोग करने पर पुत्र शब्द में विकल्प से द्वित्व मानते हैं जैसे पुत्त्रहती तथा पुत्रहती, पुत्त्रजग्धी तथा पुत्रजग्धी। दोनों ही गाली हैं। गाली देने में प्रयुक्त भाषा लोकभाषा है, लिखित भाषा नहीं।

(ग) व्यावहारिक वस्तुओं का नामकरण

पाणिनि ने व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं के नाम सिद्ध करने के लिए सूत्रों का निर्माण किया है। इन वस्तुओं का सम्बन्ध शास्त्रों से न होकर ठेठ लोक-संस्कृति से है। दो-चार उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

(क) जितना अनाज एक खेत में बोआ जाता है; उतने से उसका नामकरण पाणिनि ने किया है। प्रास्थिक, द्रौणिक तथा खारीक आदि शब्द इसी नियम से बनते हैं (तस्य वापः ५।१।४५)।

(ख) किसी नदी को तैरकर पार करने के लिए भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग लोक में आज भी करते हैं और उस समय भी करते थे। गाय का पूँछ पकड़ कर जो व्यक्ति किसी नदी को पार करता है वह कहलाता है 'गौपुच्छिक' (गोपुच्छाट्ठञ् ४।४।६), परन्तु जो घड़े की सहायता से पार जाता है वह होता है 'घटिक' और अपने बाहुओं के सहारे नदी पार जाने वाली स्त्री 'बाहुका' कही जाती है (नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७)।

(ग) रंगरेज भिन्न-भिन्न रंगों से कपड़े रँगते हैं। वहाँ के रंगों की भिन्नता के कारण उन कपड़ों के भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। मञ्जिष्ठा (मजीठ) से रँगा गया वस्त्र 'माञ्जिष्ठ' कहलाता है, तो लाक्षा रंग से रँगा गया 'लाक्षिक' तथा रोचन से रँगा गया 'रौचनिक' नाम से पुकारा जाता है। तेन रक्तं रागात् ४।२।१ तथा लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२ सूत्रों से ये शब्द निष्पन्न होते हैं।

(घ) बाजार में आज भी कुँजड़े तरकारी बेंचते समय मूली तथा शाक की छटाँक, पाव तथा आधा पाव की मुट्ठी या गड्डी बनाकर बेंचते हैं। इस गड्डी को 'मूलकपण' तथा 'शाकपण' क्रमशः नामों से पाणिनि अभिहित करते हैं ('नित्यं पणः परिमाणे' ३।३।६६ सूत्र से ये पद सिद्ध होते हैं)। इसी प्रकार सैकड़ों लौकिक शब्दों के अभिधानार्थ पाणिनि ने विशिष्ट सूत्रों का निर्माण किया है। यह इसका स्पष्ट प्रमाण

---

१. नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८। वा हत-जग्धयोः (इसी सूत्र पर वार्तिक)।

है कि उस युग में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी, अन्यथा इन नियमों की उपयुक्ति ही नहीं बैठती।

(घ) मुहावरों का प्रयोग

अष्टाध्यायी में ऐसे मुहावरें (वाग्योग) उस समय प्रचलित थे जो संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध करते हैं। चलती भाषा में ही ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं, लोक-व्यवहार से बहिर्भूत भाषा में कभी नहीं। णमुल् के विविध प्रयोग इसे स्पष्ट सिद्ध करते हैं—

(क) शय्योत्थायं धावति = सेज से सीधे उठकर दौड़ता है अर्थात् त्वरा के कारण वह अन्य आवश्यक कार्यों की बिना परवाह किये दौड़ता है। (३।४।५२)।

(ख) रन्वापकर्षं पयः पिबति = पात्र में रखकर दूध पीने के स्थान पर जल्दी के मारे वह गाय के स्तनों के छिद्र को खींच कर दूध पीता है। (३।४।५२)।

(ग) यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहम्। किं तवानेन ? (३।४।२८) (असूया (ईर्ष्या) के प्रतिवचन गम्यमान होने पर यह प्रयोग बनता है। कोई असूया से पूछ रहा है उसका उत्तर इस वाक्य में है। जिस तरह से मैं चाहूँ, उस तरह से भोजन करूँगा। आपका इससे क्या ?)।

(घ) कर्णेहत्य पयः पिबति; (ङ) मनोहत्य पयः पिबति (दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है—भरपूर दूध या जल पीना। इसमें दूसरा वाक्य आज भी हिन्दी में प्रचलित है। 'मन मार कर पीना' अर्थात् मन की इच्छा को मार कर पूर्ण रूप से पीना जिससे प्यास फिर न रहे। श्रद्धा-प्रतिघात का यही स्वारस्य है)। ये समग्र प्रयोग संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध कर रहे हैं।

संस्कृत के लोकभाषा होने का यह तथ्य पाणिनि के आविर्भावकाल की प्राचीनता का स्पष्ट द्योतक है। महावीर तथा गौतम बुद्ध के समय में उत्तर भारत में संस्कृत से इतर भाषाओं का प्रयोग लोक-व्यवहार में होने लगा था। महावीर के उपदेश अर्धमागधी में तथा बुद्ध के उपदेश मागधी (या पालि में दिये गए हैं। ये दोनों उपदेशक जनसाधारण के हृदय को आकृष्ट करने के लिए लोकभाषा में ही प्रवचन किया करते थे—यह तो सर्वप्रसिद्ध तथ्य है। पाणिनि के समय में इन लोकभाषाओं का उदय ही नहीं हुआ था—ऐसी दशा में पाणिनि का समय महावीर तथा बुद्ध से प्राचीनतर मानना ही नितान्त समुचित है।

पाणिनि-उपज्ञात संज्ञाएँ

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रभूत संज्ञाओं का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है, परन्तु लाघव के निमित्त उन्होंने अनेक स्वोपज्ञ संज्ञायें उद्भावित की हैं उन्हीं में से कतिपय प्रख्यात संज्ञाओं का विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) घु संज्ञा

पाणिनि द्वारा "दा धा घ्वदाप्" (अ० १।१।२०) सूत्र में 'दा-धा' संज्ञियों के लिए प्रयुक्त 'घु' संज्ञा के विषय में प्राचीन प्रमाण न होने से उसे पाणिन्युपज्ञात ही मान लेना तर्क-सङ्गत प्रतीत होता है। किञ्च इसका व्यवहार लाघव से अर्थबोध कराने के लिए स्वेच्छया किया गया है। स्वेच्छया प्रयुक्त होने पर भी शिष्टोच्चरित होने से 'घु' संज्ञा को अपभ्रंश-रूप में नहीं कहा जा सकता। लोक में कभी हस्तादि के संकेत से जैसे अर्थबोध कराया जाता है, ठीक उसी प्रकार किन्हीं शब्दों का बोध कराने के लिए ऐसे सांकेतिक संज्ञा शब्दों का प्रणयन आचार्य किया करते हैं[1]।

(२) घ संज्ञा

"तरप तमपौ घः" (अ० १।१।२२) सूत्र में पाणिनि ने जो प्रातिपदिक एवं तिङन्त शब्दरूपों से होने वाले 'तरप्-तमप्' प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा कही है, वह भी स्वेच्छया विहित होने से अन्वर्थ न होकर सांकेतिक ही कही जा सकती है।

(३) वृद्ध संज्ञा

जिस समुदाय में आदि अच् वर्ण वृद्धिसंज्ञक हो उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है ("वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" अ० १।१।७३)। परन्तु इस अर्थ में 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग पूर्वाचार्यकृत प्रतीत नहीं होता। पाणिनि ने पौत्रादि अपत्य की जो 'गोत्र' संज्ञा की है अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (अ० ४।१।१६२)। उसके लिए पूर्वाचार्यों ने 'वृद्ध' संज्ञा का व्यवहार किया था, जैसा कि पाणिनि ने भी "वृद्धो यूना" (अ० १।२।६५) इत्यादि सूत्र में स्मरण किया है। ऋक्तन्त्र में त्रिमात्रिक अच् वर्ण के लिए भी 'वृद्ध' संज्ञा की गयी है ("तिस्रो वृद्धम्" २।५।४)।

वृद्ध शब्द का अर्थ वृद्धि-युक्त होता है। अतः जिस समुदाय में आदि वर्ण वृद्धि-

---

१. हरदत्त ने पदमञ्जरी के प्रारम्भ में ही यही बात कही है—

"यास्त्वेताः स्वेच्छया संज्ञाः क्रियन्ते टि घु भादयः,
कथं नु तासां साधुत्वं नैव ताः साधवो मताः।
अनपभ्रंशरूपत्वान्नाप्यासामपशब्दता,
हस्तचेष्टा यथा लोके तथा संकेतिता इमाः।
नासां प्रयोगेऽभ्युदयः प्रत्यवायोऽपि वा भवेत्,
लाघवेनार्थबोधार्थं प्रयुज्यन्ते तु केवलम्।"

"अथ शब्दानुशासनम्" इति सूत्र-विवरणे, पृ० १०।

संज्ञक होता है, उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश होने से उसको अन्वर्थ कहा जा सकता है।

(४) इत् संज्ञा

पाणिनि ने "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (अ० १।३।२) इत्यादि सूत्रों से धातु और सूत्रादिकों में पढ़े गए अनुनासिक अच् आदि वर्णों को 'इत्' संज्ञा कहकर उनका "तस्य लोपः" (अ० १।३।९) इस सूत्र से लोप किया है। चले जाने वाले को 'इत्' कहते हैं। अतः यहाँ इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाने से 'इत्' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहना ठीक होगा।

(५) नदी संज्ञा

ह्रस्व, नुट् आदि विधान के लिए स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की जो 'नदी' संज्ञा पाणिनि ने की है, वह स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त संज्ञीरूप नदी शब्द को लेकर की गयी प्रतीत होती है ("यू स्त्र्याख्यौ नदी" अ० १।४।३)। स्त्री-गत दोषों से जैसे कुल दूषित या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार नदी के वेग से उनके तट ध्वस्त हो जाते हैं। इस अर्थ-साम्य को लेकर नदी संज्ञा को अंशतः ही अन्वर्थ माना जा सकता है।

सर्वांश में 'नदी' शब्द के अर्थ का समन्वय न होने से पाणिनि पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

पाणिने र्न नदी गङ्गा यमुना वा नदी स्थली।
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्॥

अर्थात् पाणिनि के मत से गङ्गा और यमुना शब्द तो आकारान्त होने से नदी-वाचक नहीं होंगे, किन्तु स्थली शब्द ईकारान्त होने से नदी वाचक हो जायगा। इस विषय में और कहा ही क्या जा सकता है कि समर्थ आचार्य निरंकुश होने के कारण जैसा चाहते हैं, वैसा अनुशासन करते हैं।

(६) भ संज्ञा

पाणिनि ने "यचि भम्" (अ० १।४।१८) सूत्र से यकारादि तथा अजादि सर्व-नामस्थान संज्ञक प्रत्ययों से भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व पद की जो 'भ' संज्ञा की है, उसको कार्यनिर्वाहार्थ ही किया गया कहना ठीक होगा।

(७) गोत्र संज्ञा

अपत्य रूप से विवक्षित पौत्र-प्रभृति की 'गोत्र' संज्ञा पाणिनि ने की है (अपत्य-

पौत्रप्रभृति गोत्रम्" अ० ४।१।१६२)। पूर्वाचार्य इसके लिए 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग करते थे, महाभाष्य पतञ्जलि ने इसे कण्ठतः स्वीकार किया है—

पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते।"

(म० भा० १।२।६८)।

जिससे पूर्वपुरुषों का बोध हो उसे गोत्र कहते हैं, इस निर्वचन से यहाँ भी 'गार्ग्य-वात्स्य' इत्यादि प्रयोगों में गोत्र-अर्थ में हुए यञ् प्रत्यय से गर्गादि पूर्वपुरुषों का जो बोध होता है, उससे 'गोत्र' संज्ञा को अन्वर्थ ही मानना ठीक होगा। किञ्च इस संज्ञा के अन्वर्थ होने से लोक-प्रसिद्ध प्रवराध्याय में पढ़े गए गोत्र-नामों का भी यहाँ ग्रहण होता है।

(८) युवा संज्ञा

मूल पुरुष से चतुर्थ अर्थात् पौत्र प्रभृति का जो अपत्य उसकी पित्रादि के जीवित होनेपर तथा ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहते कनिष्ठ आदि की 'युव' संज्ञा का विधान पाणिन्युपज्ञात ही प्रतीत होता है (**"जीवति तु वंश्ये युवा," "भ्रातरि च ज्यायसि" अ० ४।१।१६३–६४**)।

पित्रादि से जो सम्बन्ध रखता उसको 'युवा' कहते हैं। अतः 'गार्ग्यायण' इत्यादि में हुए फक् प्रत्यय से जो गार्ग्यादि पित्रादिकों के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, उससे 'युव' संज्ञा भी अन्वर्थ ही है।

विशेष—पित्रादिकों के जीवित रहने पर जिन पौत्र-प्रभृति की 'युव' संज्ञा की गई है, उन्हीं की पित्रादि के जीवित न रहने पर 'गोत्र' संज्ञा मानी जाती है। अर्थात् जो पहले गार्ग्यायण था वही बाद में गार्ग्य कहा जाता है। इस सम्बन्ध में हेतु देते हुए किसी ने ठीक ही कहा है—

"तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा पित्रा वियुज्यते।"

(९) तद्राज संज्ञा

"जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्" (अ० ४.१।१६८) इत्यादि सूत्रों से अपत्यार्थ की तरह राजार्थ में भी होने वाले अञ् इत्यादि प्रत्ययों की तथा पूगादिवाचक शब्दों से स्वार्थ में विहित प्रत्ययों की (**"ञ्यादयस्तद्राजाः" अ० ५।३।११९**) जो पाणिनि ने 'तद्राज' संज्ञा की है, उसकी अन्वर्थता बताते हुए वासुदेव दीक्षित ने कहा है कि

राजार्थ के भी वाचक होने के कारण अञादि प्रत्ययों की की गयी 'तद्राज' संज्ञा अन्वर्थ ही है[1]।

नारायण भट्ट ने भी प्रक्रिया सर्वस्व में इसी बात की सम्पुष्टि की है—

"तस्य राजन्यपत्यार्थे तुल्यप्रत्ययशासनात् ।
तदर्थवन्तस्तद्राजा अपत्य-प्रत्यया अपि ।"

(समास खण्ड, पृ० १०) ।

(१०) कृत्य संज्ञा

धातुओं से होने वाले तिङ्-भिन्न प्रत्ययों की पहले पाणिनि ने 'कृत्' संज्ञा कहकर ("कृदतिङ्" अ० ३।१।९५ सूत्र से) 'तव्यत् अनीयर' आदि 'भाव-कर्म' में होने वाले कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा का निर्देश किया है ("कृत्याः" अ० ३।१।९६) ।

'कृ' धातु से क्यप् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'कृत्य' शब्द को लेकर की गई यह 'कृत्य' संज्ञा भी अन्वर्थ ही है, क्योंकि क्यप् प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञा के अधिकार में पठित है ।

'कृत्य'-संज्ञक प्रत्यय कारक और क्रिया दोनों के वाचक होते हैं, किन्तु 'कृत्'-संज्ञक प्रत्यय केवल कारक के ही वाचक होते हैं । इसी अन्तर को प्रदर्शित करने के लिए ही इनका विभाग किया गया प्रतीत होता है ।

दाक्षायण व्याडि

महर्षि पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य में होने वाले कालखण्ड को किन वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थरत्नों से प्रद्योतित किया ? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर देने में आलोचक मौन हैं । केवल एक ही व्यक्ति का इन गुणों से मण्डित होने का संकेत मिलता है । और वे हैं दाक्षायण व्याडि । इनके महत्त्वपूर्ण लक्ष-ग्रन्थात्मक ग्रन्थरत्न का नाम **संग्रह** था जो कतिपय शताब्दियों तक अपनी प्रभा और प्रभाव को विखेर कर महाभाष्य की रचना (द्वितीय शती ई० पू०) से पूर्व ही अस्तंगत-विग्रह हो गया । दैव की इतनी ही अनुकम्पा रही कि वह अस्तंगत-महिमा नहीं हुआ । अवान्तरकालीन

---

१. प्रत्ययानां तद्राजत्वं तद्वाचकत्वाद् गौणम् । एवञ्च तद्राजवाचकास्तद्राजा इत्यन्वर्थ संज्ञैषा, न तु टि घु भादिवदर्थवार्थरहिता । तथा चाऽञादिप्रत्ययानां तद्राजसंज्ञकानां राजवाचकत्वमपि विज्ञायते इति राजन्यपि वाच्ये ते भवन्तीति विज्ञायते इत्यर्थः" (बालमनोरमा ४।१।१६८) ।

व्याकरण-ग्रन्थों ने कहीं सामान्य निर्देश से तथा कहीं विशिष्ट उद्धरणों के द्वारा संग्रह के स्वरूप, विषय तथा महत्त्व को बतला कर उसे जिज्ञासुओं के लिए बचाये रखा।

'संग्रह' के विषय में सर्वप्रथम सूचना महाभाष्य से प्राप्त होती है जहाँ दो बार इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय की चर्चा है[1]। भर्तृहरि ने इस विषय में हमारे ज्ञान को और भी आगे बढाया वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में इसके दस वचनों को साक्षात् उद्धृत करके। इन वचनों की मीमांसा बतलाती है कि इस 'संग्रह' ने शब्द तथा अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध आदि विषयों का विचार किया है जिससे स्पष्ट है कि 'संग्रह' का प्रधान विषय पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों का विवेचन था। **'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्'** इस महाभाष्य की व्याख्या में भर्तृहरि का कथन है कि इस संग्रह में १४ सहस्र वस्तुओं की परीक्षा की गई थी[2]। यहाँ 'वस्तुओं' से तात्पर्य व्याकरण-सम्बन्धी दार्शनिक विषयों से है। इससे इस ग्रन्थ के बृहत् परिमाण का किञ्चित् संकेत मिलता है, परन्तु यह कितना परिमाण वाला था? इस प्रश्न के उत्तर में पुण्यराज (वाक्यपदीय की टीका में) का कहना है—

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्ष-ग्रन्थ-परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।

जिसकी पुष्टि नागेश ने नवाह्निक भाष्य के प्रदीपोद्योत में की है[3]। पुण्यराज के महत्त्वपूर्ण कथन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(क) संग्रह पाणिनीय व्याकरण से ही सम्बद्ध ग्रन्थ था, किसी दूसरे व्याकरण से नहीं।

(ख) इसमें 'लक्षग्रन्थ' थे (लक्षश्लोक नहीं)। लक्षश्लोक का तात्पर्य होता कि समग्र ग्रन्थ पद्यात्मक है तथा उसकी श्लोकसंख्या एक लक्ष तक है। प्राचीनकाल में तथा आज भी किसी ग्रन्थ के परिमाणको मापने की एक ही प्रणाली है। उसके अक्षरों को गिन कर ३२ की संख्या से भाग देने पर जो संख्या निष्पन्न होती है वह 'ग्रन्थ' कहलाती है। संग्रह में ऐसे ही एक लाख ग्रन्थ विद्यमान थे, एक लाख पद्यात्मक श्लोक नहीं।

---

१. **संग्रहे तावत्र प्राधान्येन परीक्षितम् नित्यो वा स्यात् कार्यो वा स्यादिति। संग्रहे तावत् कार्य-प्रतिद्वन्द्वि-भावान् मन्यामहे नित्य-पर्याय-वाचिनो ग्रहणम्। पस्पशाह्निक।**

२. **चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।**

३. **संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोक संख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः॥**

—प्रदीपोद्योत, पस्पशाह्निक।

(ग) इस सुबृहत् परिमाण की पुष्टि भर्तृहरि के द्वारा निर्दिष्ट १४ सहस्र वस्तुओं के परीक्षण की घटना से सर्वथा होती है।

(घ) यह निबन्ध ग्रन्थ है, व्याख्या-ग्रन्थ नहीं। निबन्ध ग्रन्थ से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो किन्हीं विषयों पर तदुपलब्ध समग्र सामग्री का विधिवत् परिशीलन कर स्वाभिमत व्यक्त कर लिखी गयी हो। इस अर्थ में संग्रह तथा निबन्ध की एकवाक्यता भरत ने नाट्यशास्त्र में की है[1]। धर्मशास्त्र के इतिहास में निबन्ध-ग्रन्थों का प्रणयन पिछले युग के धर्मशास्त्रियों का प्रधान लक्ष्य था। निबन्ध ग्रन्थ को आजकल की भाषा में 'थीसिस' कह सकते हैं। संग्रह ऐसा ही निबन्ध ग्रन्थ था।

नाना ग्रन्थो से संगृहीत संग्रह के उद्धरणों[2] के परीक्षण से यह स्पष्ट है कि यह गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया था। पुण्यराज द्वारा निर्दिष्ट लक्ष ग्रन्थात्मक का यही स्वारस्य है कि इनमें केवल श्लोक ही न थे, प्रत्युत गद्य-भाग भी था और इस तथ्य की पुष्टि इन उद्धरणों से पूर्णतया होती है। चान्द्र-व्याकरण की वृत्ति (४।१।६२) में 'पंचकः संग्रहः' उदाहरण दिया गया है जिससे संग्रह के पाँच अध्यायों में विभक्त होने की घटना प्रतीत होती है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ के लोप हो जाने का कारण निर्देश भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय (द्वितीय काण्ड, श्लोक ४८४ तथा ४८५) में किया है[3] कि संक्षेप में रुचि रखने वाले अल्प विद्यासम्पन्न वैयाकरणों को पाकर संग्रह अस्तंगमित हो गया। और यह घटना महाभाष्य की रचना से पूर्व ही घटित हो गई थी। महाभाष्य के द्वारा सुव्यवस्थित रूप से तत्तत् विषयों के प्रतिपादन के कारण भी यह ग्रन्थ लुप्त हो गया; ऐसा अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता।

संग्रह का रचयिता

संग्रह का रचयिता कौन था? पुण्यराज ने 'व्याडि' का नाम निर्दिष्ट किया है,

---

१. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥
—नाट्यशास्त्र ६।१।

२. द्रष्टव्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग (द्वि० सं०) पृष्ठ २७३—२७५।

३. प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्या-परिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

परन्तु महाभाष्य (२।३।६६) के इस कथन से इस विषय में एक नवीन जानकारी प्राप्त होती है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः ।

इस वाक्य में संग्रह के कर्ता 'दाक्षायण' कहे गये हैं और यह उक्ति पाणिनि तथा व्याडि के परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध को जोड़ने वाली यह शोभन श्रृंखला है। पाणिनि को भाष्यकार 'दाक्षीपुत्र' कहते हैं और व्याडि को 'दाक्षायण'। फलतः पाणिनि और व्याडि का परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध था। 'दाक्षायण' पद की गम्यमान व्युत्पत्ति से कुछ लोग व्याडि को पाणिनि का मातुल (मामा) मानते हैं, परन्तु मेरी सम्मति में वे उनके मातुल-पुत्र (मामा के पुत्र) थे और इस विषय की साधक युक्ति[1] परीक्षणीय है। फलतः व्याडि पाणिनि के कनिष्ठ समकालिक थे, ज्येष्ठ समकालिक नहीं।

शौनक ने ऋक् प्रातिशाख्य में पाँच स्थानों पर व्याडि के मत का निर्देश किया है[2]। ये मत शब्दसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं, शब्दविषयक किसी दार्शनिक मत से नहीं। ऐसी दशा में ये मत 'संग्रह' की ओर संकेत नहीं करते। इससे दो ही परिणाम निकाले जा सकते हैं—(क) प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट व्याडि संग्रहकार से भिन्न व्यक्ति हैं अथवा (ख) व्याडि ने संग्रह के अतिरिक्त सूत्रों की कोई व्याख्या भी लिखी थी। न्यास नें एक स्थान पर (७।३।११) ऐसी ही सूत्र-व्याख्या की ओर संकेत किया है। दोनों व्याडियों की एकता के प्रश्न को परीक्षा के लिए पुष्ट प्रमाण खोजने की आवश्यकता है।

शब्द के अर्थ के विषय में व्याडि का विशिष्ट मत था। सब शब्दों का अर्थ द्रव्य ही है, क्योंकि द्रव्य ही तो क्रिया के साथ साक्षात् समन्वय धारण कर चोदना का

---

१. मातुल तथा भागिनेय (मामा, भांजा) के सम्बन्ध की बहुशः परीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मामा की उम्र भांजे की उम्र से प्रायः अधिक होती है। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि संग्रह पाणिनीय सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ था अर्थात् अष्टाध्यायी की रचना के अनन्तर ही संग्रह का निर्माण हुआ था। फलतः व्याडि पाणिनि से वय में निश्चित-रूपेण छोटे थे और यह वयःक्रम ऊपर निर्दिष्ट तथ्य के ऊपर ही सामान्यतः सुसंगत बैठता है। इसलिए व्याडि को पाणिनि से न्यून वाला ममेरा भाई मानना ही लोकतः समुचित प्रतीत होता है। व्याकरण से पदसिद्धि इस तर्क में बाधक नहीं है।

२. ऋक्प्रातिशाख्य २।२३; २।२८; ६।४३; १३।३१; १३।३७।

विषय होता है। यह मत वाजप्यायन आचार्य के मत से भिन्न है जो जाति को ही पदार्थ मानते थे। व्याडि के इस विशिष्ट मत का उल्लेख बहुत्र उपलब्ध है। वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की व्याख्या (प्रकाश) में हेलाराज ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

वाजप्यायनाचार्यमतेन सार्वत्रिकी जातिपदार्थव्यवस्थोपपद्यते। व्याडिमते तु सर्वशब्दानां द्रव्यमर्थः। तस्यैव साक्षात् क्रिया-समन्वयोपपत्तेः। वाक्यार्थाङ्गतया चोदनाविषयत्वात्[1]।

हेलाराज (द्रव्य समुद्देश, प्रथम कारिका) की व्याख्या के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भर्तृहरि इस कारिका में व्याडि के मत का उपन्यास कर रहे हैं—

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

द्रव्य के ही पर्याय हैं—आत्मा, वस्तु, वस्तु, स्वभाव, शरीर तथा तत्त्व। और यह द्रव्य नित्य होता है। भाष्यकार ने **'द्रव्यं नित्यमाकृतिरन्या चान्या च भवति'** कह कर इसी मत का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, कात्यायन के ऊपर भी व्याडि का प्रभाव लक्षित होता है। संज्ञा शब्दों के द्वारा द्रव्य का प्रतिपादन गम्यमान है, परन्तु आख्यात-शब्दों के द्वारा क्या प्रतिपाद्य है? व्याडि का उत्तर है द्रव्य ही। और हेलाराज ने इस पक्ष का प्रतिपादन विस्तार से किया है[2]।

कात्यायन

सूत्रों के ऊपर व्याख्यान ग्रन्थों का सामान्य अभिधान वार्तिक है। वार्तिकों के रचयिता एक न होकर अनेक थे। वार्तिकों के परिज्ञान के लिए पतञ्जलिकृत महाभाष्य ही एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ है। तथ्य यह है कि महाभाष्य सूत्रों का विशद व्याख्यान न होकर वार्तिकों का ही विस्तृत व्याख्यान है। भाष्यकार के सामने पाणिनि-सूत्रों पर विभिन्न लघु तथा बृहत् वार्तिक विद्यमान थे। पतञ्जलि ने इनका सूत्रों के साथ

---

१. जातिसमुद्देश की टीका में इस मत का परिचय बड़े स्पष्ट शब्दों में हेलाराज ने दिया है। द्रष्टव्य—हेलाराज की तृतीय काण्ड की टीका; पृ० ९–१०, पूना संस्करण।

२. द्रष्टव्य हेलाराज—वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की टीका, पृ० १८९–१९० (पूना सं०, १९६३)।

तारतम्य, संगति अथवा विसंगति मिलाकर अपना मत प्रदर्शित किया है। इस दृष्टि से पतञ्जलि तुलनात्मक वैयाकरण हैं जिन्होंने उस युग के वार्तिककार वैयाकरणों के मतों की तुलना कर अपनी समालोचना व्यक्त की। इनमें कात्यायन का स्थान प्रमुख है। उनसे पहिले किसी वार्तिककार का संकेत नहीं मिलता। उनसे अवान्तरकालीन वार्तिककारों में **'सुनाग'** का नाम महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है। सुनाग कात्यायन के पश्चाद्वर्ती हैं तथा उनके वार्तिक कात्यायन-वार्तिकों से स्वरूप में विस्तृत थे, इसका परिचय हमें कैयट के शब्दों से मिलता है[1]। इससे समालोचकों की यह सम्मति मान्य है कि भाष्य में 'अत्यल्पमिदमुच्यते' कह कर जहाँ वार्तिकों का विन्यास किया गया है, वे सब वार्तिक सम्भवतः सुनाग के ही प्रतीत होते हैं। कात्यायन-वार्तिक की आलोचना से पूर्व 'वार्तिक' के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य से परिचय नितान्त आवश्यक है।

वार्तिक का लक्षण

नागेशभट्ट ने वार्तिक का लक्षण दिया है—

> **सूत्रेऽनुक्त-दुरुक्त-चिन्ताकरत्वं वार्तिकत्वम्।**
> **उक्तानुक्त-दुरुक्त-चिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम्॥**

इन दोनों लक्षणों का तात्पर्य एक समान है। सूत्र में उक्त, अनुक्त (नहीं कहे गये) अथवा दुरुक्त (अनुचित कहे गये) विषयों की चिन्ता (विश्लेषण) करने वाला वाक्य 'वार्तिक' कहलाता है। 'मुनित्रयं' के परस्पर सम्बन्ध का बोधक पदमंजरीस्थ यह पद्य इस विषय में ध्यातव्य है—

> **यत् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।**
> **वाक्यकारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥**

सूत्रकार के द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट विषय को स्पष्टतः प्रतिपादन वाक्यकार (वार्तिक-रचयिता) करते हैं और उनसे अदृष्ट विषय का विवेचन भाष्यकार करते हैं। इस पद्य में 'दुरुक्त-चिन्ता' की बात नहीं कही गई है।

कैयट ने वार्तिक को **'व्याख्यान-सूत्र'** नाम से अभिहित किया है अर्थात् वार्तिक ऐसे सूत्रात्मक वाक्य है जो पाणिनि के मूलभूत सूत्रों के व्याख्यान हैं। यह नाम सार्थक है और वार्तिक के स्वरूप का यथार्थ द्योतक है। 'व्याख्यान' के भीतर प्राचीन लोग केवल 'चर्चापद' का ही समावेश करते थे, परन्तु पतञ्जलि ने इस शब्द के

---

1. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।
(महाभाष्य प्रदीप २।२।२८)

व्यापक तात्पर्य के भीतर उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्याध्याहार इन तीनों को समाविष्ट किया है। अन्यत्र महाभाष्यकार वार्तिकों को लक्ष्य कर कहते हैं कि वे कभी उन विषयों की चर्चा करते हैं जो सूत्र में नहीं कहा जा सका है और कभी कहे गये का प्रत्याख्यान करते हैं—

इह किञ्चिदक्रियमाणं चोद्यते, किञ्चिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते ।

(महाभाष्य ३।१।१२) ।

ये दोनों वैशिष्ट्य क्रमशः अनुक्तचिन्ता तथा उक्त-चिन्ता के ही प्रकारान्तर प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पतञ्जलि चोदना तथा प्रत्याख्यान को वार्तिक का अन्तरंग स्वरूप मानते हैं। कैयट ने इन दोनों का मार्मिक विश्लेषण किया है[1]। चोदना (या प्रतिपादन) कम बुद्धि वालों की दृष्टि से की जाती है और प्रत्याख्यान श्रोताओं अथवा पाठकों की प्रतिपत्ति की दृष्टि से किया जाता है। व्याकरणशास्त्र दोनों का आश्रयण दोनों प्रकार के व्यक्तियों को लक्ष्य कर करता है। कैयट के अनुसार वार्तिकों की अनुक्त-चिन्ता का तात्पर्य कमबुद्धि वाले व्यक्ति से हैं तथा उक्त-चिन्ता का लक्ष्य विशिष्ट पाठकों की ओर है।

भर्तृहरि ने भी 'वार्तिक' के स्वरूप का निर्देश किया है। वे वार्तिक को 'भाष्यसूत्र' की महनीय संज्ञा से पुकारते हैं। यह नाम बड़ा ही सार्थक है। 'भाष्य के व्याख्यान के निमित्त गम्भीरार्थक वाक्य'—सचमुच ही वार्तिक के रूप का द्योतक अभिधान है। क्योंकि इन्हीं वार्तिकों के अर्थ के व्याख्यान के निमित्त ही तो भाष्यकार का समग्र प्रयत्न है। भर्तृहरि की दृष्टि में वार्तिक का स्वरूप है—(क) गुरुलाघव का अनाश्रयण (गुरुलाघव का आश्रयण सूत्रों में निश्चित रूप से है, परन्तु वार्तिक में इसका अविचार है); (ख) लक्षणप्रपञ्च[2] का आश्रयण (सूत्र के समान ही)—

भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपंचाभ्यां प्रवृत्तिः । **—महाभाष्य दीपिका ।**

---

१. अबुध-बोधनार्थं तु किञ्चिद् वचनेन प्रतिपाद्यते। न्याय-व्युत्पादनार्थं च आचार्यः किञ्चित् प्रत्याचष्टे। नहि अनैकः पन्थाः समाश्रीयते ॥

—कैयट, प्रदीप ७।२।१६ ।

२. लक्षणप्रपंच के उदाहरण के निमित्त देखिए डा० रामसुरेश त्रिपाठी का सुचिन्तित लेख 'वार्तिक का स्वरूप' जो अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मुख-पत्रिका 'अभिनव-भारती' में प्रकाशित हुआ है ।

इन दोनों वैशिष्ट्यों में प्रथम पाणिनिसूत्र से भाष्यसूत्र का विभेदक है। पाणिनि-सूत्र में गुरुलाघव का पूर्ण विचार है और लाघव की ओर समधिक दृष्टि है, परन्तु वार्तिक में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। सूत्रों की भाँति इनमें कसावट नहीं है, परन्तु सूत्रों के समान लक्षणप्रपञ्च का समाश्रयण विद्यमान है। 'लक्षण' होता सामान्य नियम और 'प्रपञ्च' होता है उसी का विशेष रूप। सूत्रकार की शैली है कि वे प्रथमतः लक्षण देते हैं, तदनन्तर उसी नियम के **विशेष-प्रकारों** का उल्लेख करते हैं। लक्षणप्रपञ्च का यह पौर्वापर्य नियमतः प्रस्तुत है अष्टाध्यायी में। वार्तिक में यह विद्यमान है, परन्तु इसी क्रम से नहीं। कहीं लक्षण के अनन्तर प्रपञ्च है और कहीं लक्षण से पूर्व ही प्रपञ्च है। वार्तिक इस दृष्टि से पाणिनिसूत्र के बहुत समीप चला आता है अपने स्वरूप के निर्धारण में।

निष्कर्ष यह है कि वार्तिक सूत्रों के व्याख्यान है। वृत्तिग्रन्थ भी तो सूत्रों के व्याख्यान हैं। तब दोनों में पार्थक्य कहाँ ? पार्थक्य दोनों के स्वरूप में है। किसी भी व्याख्या का मुख्य तात्पर्य होता है भाव को प्रकट करना, असंगतियों को सुलझाना, आक्षेपों का उत्तर देना तथा त्रुटियों की ओर संकेत करना। वार्तिक में यह सब विद्यमान हैं, परन्तु सूत्र की शैली में ही। वृत्ति-ग्रन्थों में भी यह सब वर्तमान है, परन्तु उदाहरण-प्रत्युदाहरण समन्वित शैली में। एक तथ्य और भी ध्यातव्य है। वार्तिकों का उद्देश्य पाणिनि व्याकरण को दार्शनिक विचार कोटि में पहुँचाना था जिससे यह व्याकरण केवल शब्दों की रूपसिद्धि का ही साधन न होकर शब्दार्थ के गम्भीर तत्त्वों का भी निरूपक सिद्ध हो। कात्यायन का प्रथम वर्तिक—**सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे** ही व्याकरण दर्शन के मौलिक तथ्य की अवतारण करता है कि शब्द, उसका अर्थ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध तीनों को सिद्ध (नित्य) मान कर ही यह व्याकरणशास्त्र लिखा गया है। अन्यत्र वार्तिकों के भीतर व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर पूर्ण संकेत किया गया है। वार्तिकों के भीतर इन दार्शनिक तथ्यों का अन्वेषण तथा समीक्षण आज भी गवेषणा का स्पृहणीय विषय है।

कात्यायन का वैशिष्ट्य

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कात्यायन पाणिनि के विदूषक व्याख्याकार नहीं थे, जिन्होंने उनके सूत्रों की विद्रूप व्याख्या की है। न वे उनके प्रतिस्पर्धी थे (जैसा कथासरित्सागर में चित्रित किया गया है)। वे पाणिनि के निन्दक नहीं थे, प्रत्युत प्रशंसक थे। परन्तु वे थे मुख्यतः व्याख्याकार ही। और एक सच्चे व्याख्याकार का काम उन्होंने इन वार्तिकों के द्वारा निष्पन्न किया। यह भी कहना यथार्थ नहीं है कि वार्तिक उन शब्दों का विश्लेषण करता है जो पाणिनि के अनन्तर संस्कृतभाषा में व्यवहृत होने लगे थे (जैसे पाश्चात्य पण्डितों की भ्रान्त धारणा है) और इसलिए पाणिनि को

उनके विषय में नियम बनाने का अवसर नहीं था। अतएव कात्यायन को पाणिनि के एक कठोर आलोचक के रूप में न देख कर पाणिनि का एक न्यायसंगत प्रशंसक मानना ही यथार्थ तथ्य है।

कात्यायन से पूर्व ही 'व्याडि' आचार्य ने अपने 'संग्रह' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें पाणिनिय व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का उन्मीलन था। **'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'** वार्तिकस्थ 'सिद्ध' पद की व्याख्या के अवसर पर पतञ्जलि के कथन से प्रतीत होता है कि कात्यायन के ऊपर 'व्याडि' का प्रभाव पड़ा था[1]। 'सिद्ध' शब्द का 'नित्य' अर्थ में प्रयोग कात्यायन ने संग्रह के आधार पर किया था महाभाष्यकार की यही सम्मति है।

महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिक पहिचाने जा सकते हैं। उनके परिज्ञान के लिए कतिपय नियम निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। वार्तिककार सूत्र पर विचार करते समय कभी उसके आदि के शब्द[2] को, कभी अन्त के शब्द[3] को और कभी बीच के शब्द[4] को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और विशेष अवसरों पर पूरे सूत्र को प्रतीक रूप में लेते हैं। कभी-कभी कत्यायन कई सूत्रों के आदि अक्षर को एक साथ लेकर वार्तिकों का निर्माण करते हैं[5]। अन्य भी प्रकार हैं जिनके द्वारा सूत्रों का उल्लेख या संकेत वार्तिकों में किया गया है। इस 'प्रतीक शैली' की सहायता से वार्तिकों की पहचान भली-भाँति

---

१. इस तथ्य का प्रमापक वाक्य भर्तृहरि ने अपनी 'महाभाष्य दीपिका' में दिया है—

संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। तत्रैकस्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यात् इहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः॥

२. यथा इको गुणवृद्धी (१।१।३) का प्रथम वार्तिक 'इग्ग्रहणम्……' आदि—अक्षर को लेकर प्रस्तुत है।

३. हलोऽनन्तरा संयोगः १।१।७ का प्रथम वार्तिक **'संयोग संज्ञायां सहवचनं यथान्यत्र'** सूत्र के अन्तिम पद को ग्रहण कर विन्यस्त है।

४. ह्रस्वो नपुंसके प्रतिपदिकस्य १।२।४७ का प्रथम वार्तिक 'नपुंसक ह्रस्वत्वे ……' मध्य के पद से आरम्भ होता है।

५. संपुंकानां सत्वम् (८।३।१२ का प्रथम वार्तिक) इन तीन सूत्रों के आदि अक्षरों को लेकर विन्यस्त है। ये सूत्र हैं—

(क) 'समः सुटि' ८।३।५ का प्रथम अक्षर सं।

(ख) पुमः खय्यम्परे ८।३।६ का प्रथम अक्षर पुं।

(ग) कानाम्रेडिते ८।३।१२ का प्रथम अक्षर का।

की जा सकती है और महाभाष्य के गम्भीर शब्दार्णव से ये वार्तिकरत्न चुन कर निकाले जा सकते हैं।

कात्यायन की भाषा

कात्यायन पाणिनि के गम्भीर आलोचक थे। जहाँ कहीं उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का दोष दृष्टिगोचर होता, उसका वे सुधार करने में तनिक नहीं सकुचाते। कभी-कभी पाणिनि के सूत्रों के प्रति लक्ष्य न कर उनके वृत्तिकारों के वचनों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया है, जिन्होंने कात्यायन से पूर्व उन सूत्रों की वृत्तियाँ लिखी थीं जो आज उपलब्ध नहीं हो रही हैं।

वार्तिकों के स्वरूप-परिज्ञान के लिए एक तथ्य पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं कि पाणिनि और कात्यायन के बीच काल-खण्ड में ये शब्द व्यवहृत होने लगे थे, परन्तु तथ्य इससे भिन्न हैं। ये शब्द पाणिनि के काल में ही नहीं, प्रत्युत उनसे भी प्राचीन थे, परन्तु सूत्रकार की पकड़ से बाहर रहे अर्थात् उनके नियमों में न आ सके, क्योंकि उन्होंने समस्त शब्दों को नियमबद्ध बनाने को प्रतिज्ञा थोड़े ही की थी। यही कार्य कात्यायन को करना पड़ा और इसके लिए उन्होंने अपने वार्तिकों का प्रणयन किया। इस तथ्य को दृष्टान्तों से पूर्णतः परिपुष्ट की जा सकती है। कात्यायन ने **'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'** वार्तिक के द्वारा 'कुलटा' शब्द को पररूप के द्वारा सिद्ध किया है, परन्तु यह पररूप पाणिनि ने सूत्रों में निर्दिष्ट नहीं किया। परन्तु 'कुलटाया वा' (४।१।१२७) सूत्र में 'कुलटा' शब्द का तो प्रयोग स्वयं पाणिनि ने किया है, तो कात्यायन द्वारा व्याख्यात होने से यह शब्द पाणिनि को अज्ञात कैसे घोषित किया जाय ? वेद में प्रयुक्त अनेक शब्द पाणिनि द्वारा व्याख्यात न होकर कात्यायन द्वारा निष्पन्न किये गये हैं। तो क्या ये शब्द पाणिनि से अर्वाचीन हैं ? कथमपि नहीं। 'स्वैरी' और 'स्वैरिणी' पदों में पाणिनि ने वृद्धि का विधान नहीं किया; विधान किया है कात्यायन ने 'स्वादीरेरिणोः' वार्तिक द्वारा। परन्तु ये दोनों पद छान्दोग्य उपनिषद् में श्रुत हैं—

न मे स्तेनो जनपदे··············न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'।

इसी के समान 'प्रैष' शब्द की सिद्धि पाणिनि के सूत्रद्वारा न होकर कात्यायन द्वारा की गई है **'प्रादूहोढोढ्यैषैष्येषु'**, परन्तु यह पद शतपथ ब्रा० १३।५।२।२३ **'यजत प्रजापतिमिति प्रैषः'** में स्पष्टतः प्रयुक्त है। फलतः यह पाणिनि से निश्चितरूपेण प्राचीन है। दशार्ण नामक देश का तथा दशार्णा नदी का नामोल्लेख महाभारत में किया गया है, परन्तु सूत्रों से व्याख्यात न होकर **'प्रवत्सतर कम्बल वसनार्णदशानामृणे'** वार्तिक से यह सिद्ध होता है। वार्तिक से व्याख्यात होने मात्र से किसी शब्द की पाणिनि

अपेक्षया अर्वाक्कालीनता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। इन दृष्टान्तों की समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अनेक वैदिक तथा प्राचीन लौकिक शब्द अल्प-प्रयोगवशात् अथवा अनवधानवशात् पाणिनि के द्वारा छूट गये हैं। इन्हीं को पूर्ति कात्यायन ने की है। शब्दों में अपूर्वता कथमपि नहीं है।

कात्यायन ने ऐसे शब्दों का भी नियमन किया है जो लोकजीवन से सम्बद्ध थे और सम्भवतः लोकभाषा के थे। चिल्लपिल्ला (आँख के कीचर के अर्थ में व्यवहृत शब्द) सम्भवतः देशी प्रतीत है, परन्तु 'भेड़ी के दूध' अर्थ में अविसोढ, अविदूस तथा अविमरीस शब्दों की उन्होंने जो वार्तिक से सिद्धि की है, वह भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचारणीय है। सोढ, दूस तथा मरीस—इन तीनों को जो विद्वान् संस्कृतेतर भाषा के शब्द मानते हैं वे गम्भीरतापूर्वक विचारने की कृपा करें।

अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचः (वार्तिक ४।२।३६)

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः (४।२।३६) पाणिनि के इस निपातन सूत्र पर उक्त वार्तिक पठित है। इसका अर्थ होगा—अवि (= भेड़ी) शब्द से दूध के अर्थ में सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं। बालमनोरमाकार ने इस वार्तिक का अर्थ इस प्रकार किया है—" 'अवि का दूध' इस अर्थ में अवि शब्द से सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं।" उनका इस प्रकार का अर्थ उपयुक्त नहीं है। कारण, अवि शब्द पञ्चम्यन्त है और महाभाष्यकार ने भी 'अवि का दूध' इस प्रकार का व्याख्यान नहीं किया है। इसके अतिरिक्त शाकटायन व्याकरण में **"दुग्धेऽवेस्सोढ-दूसमरीसचम्'** इस प्रकार का सूत्र है।

अवि-सोढ

मर्षणार्थक √ सह धातु से निष्ठा में क्त प्रत्यय होने पर सोढ शब्द की निष्पत्ति होती है। यही सोढ शब्द **'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्'** (३।१।१७) पाणिनि सूत्र के गणपाठ में दृष्टिगोचर होता है। वाकरनागल महाशय बेनफाइ-संस्कृत कोश के अनुसार सोढ प्रत्यय को √ सहधातु से संबद्ध बताते हैं। यह सोढ शब्द दूध के अर्थ में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अतः सह धातु से निष्पन्न सोढ शब्द को 'अवि-सोढम्' (= भेड़ी का दूध) में प्रत्यय रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः सोढ-प्रत्यय ऊधस् शब्द का रूपान्तर है—ऊधस् → ऊढस् → सूढ → सोढ (तु० काफिरी भाषा—ऊड और ऊढ = दूध)। आइस्लैण्डिक भाषा का जू (ग्) र् शब्द ऊधस्-अर्थक है क्योंकि * जुड्र के स्थान में कभी-कभी प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद में ऊधस् शब्द मेघ, जल, दुग्धाधार तथा दुग्ध का भी वाचक है (द्र० ४।१।१९; ३।४८।३; २।१।९)। ऋग्वेद में यह रात्रि (शैत्य), रस और

सार और योनि का भी अभिधायक है (द्र० १०।६१।६; १०।७६।७; १०।३२।६; ८।३१।६)।

पश्तो भाषा में 'शीदे' शब्द दूध का वाचक है। तुर्किश राज्य में प्रयुज्यमान जिप्सी (रोमानी) भाषा में 'तुत, सुत, सोउत, छुति' यह चार शब्द दुग्धार्थक हैं। ब्राउन महाशय ने इनका सम्बन्ध तुर्किश 'सुद' के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया था।

इस प्रकार आर्यभाषा की परम्परा मिलने पर भी तमिल भाषा का शोर्व (शोर्ड = दूध) तथा कन्नड भाषा का सौर (= फलरस) शब्द मननीय हैं।

अवि-दूस

भगवान् पतञ्जलि ने वार्तिककारोक्ति तीनों प्रत्ययों पर चर्चा नहीं की। यद्यपि संस्कृत वाङ्मय ने इन सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्ययों से विशिष्ट शब्दों का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता, तथापि महाभाष्यकार और उनके टीकाकार कैयट तथा नागेश ने इनका अनभिधान नहीं कहा।

पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के टीका-ग्रन्थों में प्रक्रिया-कौमुदी इस वार्तिक को उद्धृत नहीं करती। जैनेन्द्र और मुग्ध-बोध व्याकरणों में भी इन प्रत्ययों का विवरण नहीं है। अमरकोश भी इन प्रत्ययों से विशिष्ट शब्दों का उल्लेख नहीं करता। संक्षिप्तसार व्याकरण में सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग में दिखाये गये हैं।

आधुनिक गुण-दोष विवेचनशील, भाषाविद् बाप, द्रुग्मन्, बरो प्रभृति विद्वान् इन प्रत्ययों या प्रत्यायान्त शब्दों के प्रबन्ध में चुप्पी साधे हैं। केवल वाकरनागल महाशय ने तीनों प्रत्ययों को पालिस्रोतस्क या प्राकृतस्रोतस्क बताया है। किन्तु प्रत्यय अथवा प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग-विषय में मौनावलम्बन हो कर रखा है। उन्होंने बेनफी महाशय द्वारा उद्धृत अथर्ववेद का दूषिका शब्द दूस की तुलना के लिए उपस्थित अवश्य किया है किन्तु व्याख्या आदि कुछ नहीं की।

अब प्रश्न उठता है कि महाभाष्यकार आदि इन प्रत्ययों या प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में चुप क्यों हैं? वस्तुतः ये तद्धित प्रत्यय नहीं हैं किन्तु षष्ठीसमास होने के कारण स्वतन्त्र शब्द हैं।

स्काटिश् भाषा में √ दुश्, धातु मेषादिकृत अभ्याहनन में प्रयुक्त होता है। पश्तो भाषा में दूर्नाई शब्द दोहनी (दुग्धघटी) अर्थ में मिलता है। सिन्धी भाषा में 'दोसो' शब्द खजूर-रस के अर्थ में व्यवहृत होता है। पूर्वीय बाल्टिक रोमानी (जिप्सी) भाषा में दोश् धातु दोहने के अर्थ में उपलब्ध है।

दुग्धवाचक ऊधस् शब्द से यद्यपि ऊधस्→ धूस्→ बूस विकास असम्भव नहीं है तथापि भारतीय परम्परा में उपलब्ध न होने के कारण यह मनस्तोष-कारक नहीं कहा जा सकता।

अवि-मरीसम्

यह मरीस शब्द यूरोप की अनेक भाषाओं में रूपान्तर से अनुगत मिलता है। जर्मन गेट मिल्श शब्द का उदाहरण पर्याप्त होगा।

यद्यपि दुग्धार्थक मरीस शब्द निश्चयतः आर्यभाषा-स्रोतस्क है तथापि तमिल भाषा में मेषीदुग्धार्थक 'मरि-शैक्कु' शब्द विद्यमान है। वहाँ मरि = मेषी और शैक्कु-दुग्ध है[1]। सारांश यह है कि सोढ, दूस तथा मरीस—ये तीनों कात्यायन-निर्दिष्ट प्रत्यय न होकर स्वतन्त्र शब्द हैं दुग्ध के अर्थ में और इनका प्रयोग आर्य भाषा-भाषी यूरोप तथा अन्य देशों के निवासी आज भी करते हैं। इन शब्दों का प्रत्यय-रूप में वार्तिक में उल्लेख होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक महनीय उपलब्धि है।

कात्यायन का देश काल

कात्यायन के देश विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। कथा सरित्सागर में पाणिनि तथा कात्यायन का एकत्र निवास तथा परस्पर संघर्ष की जो बातें लिखी हैं, वे सब काल्पनिक हैं। इसी प्रकार उन्हें राजा नन्द के मन्त्री होने का निर्देश भी कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखता। उनके देश के निर्णयार्थ महाभाष्य की **'तद्धित-प्रिया हि दाक्षिणात्याः'** उक्ति प्रमाणभूत मानी जानी चाहिए। लोकवेदेषु के स्थान पर वार्तिक में 'लौकिक वैदिकेषु' का पाठ पतञ्जलि की दृष्टि में उस निष्कर्ष का प्रमापक है। फलतः कात्यायन दक्षिण देश के निवासी थे—पतञ्जलि के प्रामाण्य पर इतना ही कहा जा सकता है।

पतञ्जलि से कात्यायन कितनी शताब्दियों पूर्व थे? कात्यायन तथा पतञ्जलि के बीच अनेक वैयाकरणों ने कात्यायन वार्तिकों की विविध वृत्तियाँ लिखीं जिनका उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थानों पर है। दाक्षिणात्य कात्यायन के वार्तिकों का उत्तर भारत में प्रचलित होने, वैयाकरण सम्बन्धी नाना तथ्यों के उद्घाटन तथा अनेक वृत्तियों के वार्तिक पर निर्माण के लिए कई शताब्दियों का समय अपेक्षित है। पतञ्जलि का समय पुष्यमित्र के साथ समसामयिकता के कारण ई० पू० द्वितीय शती निश्चित किया जाता

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—"तद्धितान्ताः केचन शब्दाः" पुस्तक। लेखक डा० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी (वागीश शास्त्री)। प्रकाशक—मोती-लाल बनारसी दास, वाराणसी (१९६७)।

है। उस समय से कम से कम तीन-चार शताब्दी पूर्व कात्यायन का समय मानना कथमपि अनुचित न होगा। फलतः कात्यायन मोटे तौर पर ई० पू० पञ्चम शती में उद्भूत हुए थे—इस परिणाम पर पहुँचना अशक्य नहीं माना जा सकता।

पतञ्जलि

पाणिनीय व्याकरण के उदय काल का सबसे अन्तिम ग्रन्थ पतञ्जलि-रचित 'महाभाष्य' है। यह ग्रन्थ व्याकरण-विषयक प्रौढ पाण्डित्य, गम्भीर अर्थ-विवेचन, सर्वाङ्गीण अनुशीलन तथा व्यापक दृष्टि के कारण अनुपम है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के मूल विवेचक ग्रन्थ भाष्य की ही सामान्य संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं, परन्तु अपनी पूर्वोक्त विशिष्टता के हेतु ही यह ग्रन्थ महाभाष्य के अभिधान से मण्डित किया गया है। इसके रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं।

पतञ्जलि का यह ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा उदाहरण-प्रचुर होने से नितान्त रोचक है। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'आह्निक' हैं। 'आह्निक' शब्द का अर्थ है एक दिन में अधीत अंश। यह ग्रन्थ की शैली कथनोपकथन से युक्त संवादमयी है। इसी शैली से गुरु शिष्य को विद्याभ्यास कराता है तथा पाठों को पढ़ाकर विषय को हृदयंगम बनाता है। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार अपने पाठकों को सामने प्रत्यक्ष करके पढ़ा रहा है। विषय की पूर्ति के लिए नाना विद्याओं का, विषयों का तथा व्यावहारिक शास्त्र का विवरण भी प्रसंगतः उपन्यस्त किया गया है और वह भी इतनी सुन्दरता से कि इसे समझने में परिश्रम करना नहीं पड़ता। महाभाष्य एक ग्रन्थ न होकर स्वयं एक ग्रन्थालय है। उस युग का सांस्कृतिक इतिहास पाठकों के सामने अनायास उपस्थित हो जाता है। उस युग का आचार-विचार, धर्म-कर्म, भोजन-छाजन कृषि-वाणिज्य, साहित्य-दर्शन सब कुछ पाठकों के हृत्पटल पर अङ्कित हो उठता है[१]। और इस विवरण की सहायता से मूल वैयाकरण तथ्य अत्यन्त आकर्षक तथा रोचक हो जाते हैं। संवाद-शैली महाभाष्य का निजी वैशिष्ट्य है।

देश-काल

पतञ्जलि के महाभाष्य की अन्तरंग परीक्षा से उनके देश-काल का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक महाभाष्यकार पतञ्जलि को काश्मीर-देशज

---

१. उस युग के सांस्कृतिक इतिहास के लिए द्रष्टव्य—डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री रचित 'पतञ्जलिकालीन भारत' (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२) नामक प्रौढ तथा प्राञ्जल ग्रन्थ।

मानते हैं[1], परन्तु यह नितान्त असत्य है। उनकी उक्ति है कि "महाभाष्य ३।२।११४ में '**अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः। तत्र सक्तून् पास्यामः**' इत्यादि उदाहरणों में असकृत् कश्मीर-गमन का उल्लेख मिलता है। प्रतीत होता है कि कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है"। यह कथन निर्युक्तिक है। कश्मीर जाने का इच्छुक व्यक्ति वहाँ से बाहर का निवासी प्रतीत होता है। आर्यावर्त से विद्याध्ययन के लिए छात्र सर्वदा कश्मीर जाया करते थे। शारदापीठ होने से काश्मीर की विद्या तथा विद्वानों की महती ख्याति समग्र देश में थी। उसी की ओर उक्त कथन में संकेत लक्षित होता है। काशी-मण्डल का छात्र सक्तुपान तथा ओदन का नितान्त प्रेमी होता है। इसीलिए इस कथन में वहाँ की यात्रा के लिए प्रलोभन उपस्थित किया गया है।

पतञ्जलि का परिज्ञात भौगोलिक क्षेत्र भारतवर्ष का पूर्व भाग है—काशी मण्डल से सम्बद्ध देश। वे मथुरा, साकेत, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र से भली-भाँति अभिज्ञ है। महाभाष्य में वर्णित आचार-विचार (विशेषतः भोजन तथा कृषि) इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। पतञ्जलि ने अपने युग के मनुष्यों का प्रतिनिधि 'देवदत्त' को खड़ा किया है। इसके भोजन छाजन की छानबीन उसे काशिमण्डलीय सिद्ध कर रही है। देवदत्त दही-भात का शौकीन है। सातू के पीने का वह अभ्यासी है। कोई उसे याद दिलाता है कि देवदत्त, तुम्हें मालूम है कि हम काश्मीर गये थे तथा भात खाये थे। धान के नाना प्रकारों से महाभाष्य परिचय रखता है। मगध के सुगन्धित शालि का, व्रीहि का, नीवार का संकेत महाभाष्य में बहुशः है। सक्तु पीने की प्रथा का भूरिशः उल्लेख है। सक्तु अधिकतर जौ का बनता था। दधि के साथ मिलाया सक्तु 'दधिग्रन्थ' तथा पानी के साथ 'उदमन्थ' कहलाता था। गुड़ का चाशनी में पकाया गया भूँजा धान 'गुडधाना' के नाम से प्रख्यात था। तिलकूट 'पलल' की संज्ञा धारण करता था। ब्राह्मण-भोजन में दही परोसने का प्रचलन था तथा दधिभोजन अर्थसिद्धि का आरम्भ माना जाता था (**दधिभोजनमर्थसिद्धेरादिः, ६।२।१६१ महाभाष्य**)। यह सब भोजन-व्यवस्था आज भी इस काशीमण्डल में प्रचलित है। इतना ही नहीं, 'कृषि' के प्रचार का समस्त महाभाष्यसम्मत वर्णन आज भी यहाँ प्रत्यक्ष किया जा सकता है[2]। पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित वाक्योग (मुहावरा) काशी की भोजपुरी में अक्षरशः उपलब्ध है[3]।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३१५।

२. द्रष्टव्य—पतञ्जलि कालीन भारत पृष्ठ २५१–२७१।

३. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (अष्टम सं०, १९६८) पृष्ठ २१।

महाभाष्यकार ने कृ धातु के अर्थ-प्रसंग में लिखा है कि कृधातु निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे पादौ कुरु (पैर साफ करो) तथा 'पृष्ठं कुरु' (पीठ को मीसो)। इन प्रयोगों का आज भी बनारसी बोली में प्रयोग होता है (खड़ी बोली में नहीं) 'गोडो कइली, मूड़ौ कइली, तबू काम ना भइल' (पैर साफ किया; सिर दबाया, सेवा की, परन्तु काम नहीं हुआ)। बनारसी का यह वाक्य महाभाष्य की स्पष्ट व्याख्या है तथा संस्कृत के लोकवाणी होने का समर्थक है[1]। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'एङ् प्राचां देशे' से सिद्ध प्राग्देशीय गोनर्दीय आचार्य से वे भले ही भिन्न हों, परन्तु वे काशीमण्डल के निवासी थे, काश्मीर के नहीं—इस तथ्य के मानने में सन्देह नहीं है।

महाभाष्य के अन्तरंग अनुशीलन से उसके रचनाकाल का विवरण मिलता है। पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को स्वयं यज्ञ कराने का उल्लेख किया है और इस क्रिया को **'प्रवृत्तस्याविराम'** कह कर वर्तमानकालिक बतलाया है[2]। पुष्यमित्र काण्व वंश के संस्थापक ब्राह्मण राजा थे जिन्होंने बौद्ध मतानुयायी मौर्यों का नाश कर अपने वंश की स्थापना की थी और अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था। पतञ्जलि इसी यज्ञ का निर्देश करते हैं। यह घटना ई० पू० द्वितीय शती के उत्तरार्ध में घटित हुई थी। लङ् लकार की व्याख्या में उनका कहना है कि लोकविज्ञात परोक्ष के लिए, जो प्रयोक्ता के दर्शन का विषय हो सकता है, लङ् का प्रयोग होता है[3]। यथा **अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।** फलतः यवन के द्वारा साकेत (प्राचीन अयोध्या) तथा मध्यमिका (चित्तौर के समीप 'नगरी') के अवरोध की घटना पतञ्जलि के जीवन-काल में ही सम्पन्न हुई थी। यह यवन आक्रामक 'मिनाण्डर' के ग्रीक नाम से प्रख्यात था जो बौद्ध हो जाने पर 'मिलिन्द' कहलाया। पंजाब तथा अफगानिस्तान पर वह १४२ ई० पू० के आस-पास शासन करता था। इन उदाहरणों के आधार पर महाभाष्य की रचना का काल ई० पू० द्वितीय शती का मध्य अथवा १५० ई० पू० के आसपास स्वीकार किया गया है। शुङ्गकालीन वैदिक धर्म के अभ्युदय के साथ महाभाष्य जैसे वेदज्ञानोपयोगी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की संगति

---

१. करोतिरभूत-प्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते (१।३।१ पर भाष्य)।

२. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः॥ (३।२।१२३ पर महाभाष्य)।

३. परोक्षे च लोक-विज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। (वही, ३।२।१११ सूत्र)।

भी ठीक बैठती है। फलतः इस ब्राह्मण युग में पतञ्जलि की स्थिति मानना नितान्त औचित्यपूर्ण है।

महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या न होकर उसके वार्तिकों का बृहद् व्याख्यान है। पतञ्जलि से पूर्व काल में अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी के ऊपर वार्तिकों का निर्माण किया जिनमें कात्यायन तथा सुनाग के वार्तिक मुख्य थे। इन सब के मतों का यथार्थ परीक्षण कर खण्डन-मण्डन के द्वारा पतञ्जलि ने अपनी विशिष्ट 'इष्टियों' की उद्भावना की है। महाभाष्य व्याकरण का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें व्याख्यान-मुखेन व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तरशः निरूपण किया गया है। पतञ्जलि के कथन के आधार पर ही भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' का प्रासाद प्रतिष्ठित किया तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' के निमित्त सिद्धान्तरत्नों का संकलन किया। कथन की शैली इतनी सुबोध तथा प्रसादमयी है कि तथ्यों को हृदयंगम करने में विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। यह व्याकरण के सिद्धान्तों का ही आकार नहीं है, प्रत्युत निखिल शास्त्रों के तथ्यों का प्रतिपादक महनीय ग्रन्थ है—यह इसके अध्ययन से स्पष्ट है। इसीलिये भर्तृहरि का यह यथार्थ कथन ध्यान-योग्य है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्याय बीजानां महाभाष्ये निबन्धने[1] ॥

(वाक्यपदीय २।४८६)

पतञ्जलि की संवाद-शैली

पतञ्जलि की शैली का एक निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें एक शब्द के साधुत्व के विषय में वैयाकरण तथा सूत का रोचक वार्तालाप इन शब्दों में अंकित किया गया है (२।४।५६ सूत्र पर महाभाष्य में)—

वैयाकरण—इस रथ का प्रवेता कौन है ?

---

१. प्रतीत होता है कि इसी पद्य के आधार पर महाभाष्य को 'निबन्धन' की संज्ञा प्राप्त हुई जिसका उल्लेख महाकवि माघ ने अपने इस प्रख्यात पद्य में किया है—

अनुत्सूत्र-पदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

(शिशुपालवध २।११२)।

सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता[1] हूँ (हाँकने वाला)।

वैयाकरण—'प्राजिता' तो अपशब्द है।

सूत—देवानां प्रिय (महाशय) आप प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ नहीं। यह प्रयोग इष्ट है। यही रूप अभिलषित है।

वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें बाधा पहुँचा रहा है।

सूत—आपका 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द √ सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न हुआ है; वेञ् धातु (बिनना) से नहीं। यदि आपको निन्दा अभीष्ट हो, तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें।

इस रोचक संवाद से उस युग की भाषा, आचार तथा प्रयोग की बातें ध्यान में आती हैं। **'प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः'**—सूत का वैयाकरण के लिए प्रयुक्त यह वाक्य बड़े महत्त्व का है। इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के काल में 'देवानां प्रिय' शब्द आदर तथा सम्मान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। सूत के हृदय में वैयाकरण के लिए महती श्रद्धा की भावना विद्यमान है। फलतः मूर्ख की कल्पना अभी तक इस शब्द के साथ संयुक्त नहीं हुई थी। दूसरी महत्त्व की बात है प्राप्ति तथा इष्टि का अन्तर। 'प्राप्ति' वे स्थल हैं जहाँ तक वह सूत्र जा सकता है, उस सूत्र की पकड़ में आ सकते हैं। 'इष्टि'[2] (स्वीकृति) लोक-व्यवहार में आनेवाले प्रयोगों की स्वीकृति है। प्राप्ति को अपेक्षा भाष्यकार की सम्मति में इष्टि का महत्त्व है। लोक-व्यवहार की मुहर वाला शब्द ही व्यवहार्य है तथा उचित है। भाष्यकार की यह सम्मति वैयाकरणों के लिए सर्वमान्य है। शास्त्र तथा लोक के इस तारतम्य को दिखला कर महाकवि श्रीहर्ष ने लोक को व्याकरणशास्त्र से समधिक महत्त्वशाली माना है। तभी तो चन्द्रमा के लिए 'शशी' का प्रयोग उचित होने पर भी

---

१. इस शब्द का प्रयोग माघ ने किया है—

रंहोभाजामत्वधूः स्यन्दनानां।
हाहाकारं प्राजितुः प्रत्यनन्दत्॥

(शि० व० १८।७)

२. जो नियम सूत्रों में दिये गये हैं, उनके अपवाद या उनसे अधिक नियम इष्टि (मंजूरी, स्वीकृति, मानना, चाहिये) कहे जाते हैं। उन्हें जानने-वाला 'इष्टिज्ञ'।

तदनुरूप 'मृगी' (मृगः अस्ति अस्य) का प्रयोग लोकबाह्य होने से अस्पृहणीय है[1]।

पतञ्जलि की भाषा

पतञ्जलि की भाषा लोक व्यवहार के उपयोग में आनेवाली है। उन्होंने अनेक शब्दों को गढ़कर तैयार किया है जिनका प्रयोग बड़ा ही अन्वर्थक तथा प्रतिपाद्य भाव को अभिव्यक्त करने वाला है। ऐसे अर्थगर्भित शब्द महाभाष्य में प्रयुक्त हैं जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। कतिपय शब्दों का निर्देशमात्र यहाँ किया जा रहा है—

शब्दगड्डुमात्रम् (शब्दों का बकवास मात्र)।

काकपेया नदी (क्षीण, छिछले जलवाली नदी)।

वहंलिट् (चलते-चलते खेत चरनेवाला बैल या पशु)।

अषडक्षीण (दो व्यक्तियों के बीच की गुप्त मन्त्रणा)

अपस्किरण[2] (बैल की सींग से भूमि कुरेदना; कुत्ते या पक्षियों द्वारा भूमि कुरेदने की क्रिया)।

उष्णक (शीघ्र करने योग्य काम को शीघ्रता से करने वाला)।

शीतक (शीघ्र करने योग्य काम को ढिलाई से करने वाला)।

आशितंगु (चरागाह, जिसकी घास गायों द्वारा चर ली गयी हो)।

पुष्पक (आँख में फुल्ली वाला व्यक्ति)।

पार्श्वक (सीधे ढंग से करने योग्य काम को कपट उपायों से करनेवाला व्यक्ति)।

समाश (= सहभोज)।

चचा (= तृणमयः पुमान्। पशुओं को डराने के लिए खेत में घास से बनायी गई आकृति)।

केशक (बालों का शौकीन व्यक्ति)।

आयःशूलिक (मृदु उपाय-साध्य कार्य को जोर-जबरदस्ती से करने वाला व्यक्ति)।

महाभाष्य में अनेक स्थलों पर जीवन की अनुभूति पर आधृत अनेक मनोरम तथा रोचक सूक्तियों और कहावतों का प्रयोग किया गया है जिससे कथन में विशेष

---

१. भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥
—नैषध २२।८४।

२. इसका प्रयोग भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—
छायापस्किरमाण-विष्किर-मुख-व्याकृष्ट कीटत्वचः।

बल मिलता है। कभी-कभी ये सूक्तियाँ सोदाहरण मिलती हैं और कभी तथ्य के प्रकटनरूप में ही। इनका उपयोग भाष्यकार ने अपने किसी कथन को तथा तर्क को पुष्ट करने के लिए किया है। दो-चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) द्विबद्धं सुबद्धं भवति।

(२) समानगुण एव स्पर्धा भवति। न ह्याढ्याभिरूपौ स्पर्धेते।

(३) पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।

(४) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

(५) नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते; न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते॥

(६) आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे (पूछा आम, बतावे इमिली)।

पतञ्जलि का जीवन-चरित

पतञ्जलि शेषनाग के अवतार थे—यही सार्वत्रिकी प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त उनके जीवन-चरित के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य है। इधर द्रविड देश के सुकवि रामभद्र दीक्षित (समय १६ शती) ने 'पतञ्जलि-चरित' नामक काव्य में भाष्यकार के जीवन के विषय में नवीन तथ्यों की उद्भावना की है। उनका कहना है कि आचार्य गौडपाद (श्री शङ्कराचार्य के दादा गुरु) भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। इसकी पुष्टि में उन्होंने एक विचित्र घटना का उल्लेख किया है। कह नहीं सकते यह कहाँ तक परम्परा से पोषित है। उधर उनसे प्राचीन विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'शंकरदिग्विजय' में श्रीशङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य को पतञ्जलि का रूपान्तर माना है[1]। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतञ्जलि का सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त के सम्प्रदाय से आचार्यों ने जोड़ा है। कारण यही सम्भावित होता है कि शब्द ब्रह्म के प्रतिपादक पतञ्जलि शब्दाद्वैतवादी थे। वे शब्द की एक तथा अभिन्न सत्ता स्वीकार करते थे। शब्द से ही सृष्टि होती है और शब्द में ही सृष्टि का विलय होता है। इसी शब्दाद्वैत-वाद के प्रतिष्ठापक होने से पतञ्जलि को अद्वैतवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया गया है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' में तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' में महाभाष्य

---

१. दृष्ट्वा पुरा निज सहस्रमुखीमभैषु-
रन्ते वसन्त इति तामपहाय शान्तः।
एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान्
अन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम्॥
—शंकरदिग्विजय ५।९५ (हरिद्वार संस्करण, १९६७)

के ही तथ्यों के आधार पर अपना सुचिन्तित सिद्धान्त-प्रासाद खड़ा किया है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यातव्य है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि

पतञ्जलि के साथ कात्यायन के सम्बन्ध को यथार्थतः समझने से दोनों के माहात्म्य का पूर्ण परिचय किसी भी आलोचक को प्राप्त हो सकता है।

(क) कात्यायन का वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है। उनसे पूर्व व्याडि ने अपने 'संग्रह' ग्रन्थ में इस स्वरूप को भली-भाँति प्रकट किया था और यह स्वाभाविक है कि उनके पश्चाद्वर्ती कात्यायन के ऊपर उनके ग्रन्थ का प्रभाव पड़े। परन्तु लक्षश्लोकात्मक 'संग्रह' के कालकवलित हो जाने से कात्यायन के वार्तिकों के साथ उसका तुलना नहीं की जा सकती और न कात्यायन की अधमर्णता को मात्रा का हो पता लगाया जा सकता। कात्यायन का प्रथम वार्तिक है सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे। और पतञ्जलि ने 'सिद्ध' शब्द के 'नित्य' अर्थ की पुष्टि में संग्रह का प्रामाण्य उपस्थित किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि कात्यायन के ऊपर संग्रह का प्रभाव मानते थे—विशेषतः उन स्थलों पर जहाँ शब्दार्थ से सम्बद्ध दार्शनिक तथ्यों का विवरण उपन्यस्त है। यह सामान्य धारणा है जिसकी पुष्टि के लिए महाभाष्य का अनुशीलन अपेक्षित है।

(ख) पतञ्जलि का महाभाष्य कात्यायन के वार्तिकों का ही विस्तृत तथा विशद व्याख्यान है। पतञ्जलि कात्यायन के पूर्ण समर्थक हैं। वे स्वयं आक्षेप तथा सन्देह को उपस्थित कर वार्तिक के समाधान को गौरवमण्डित बनाते हैं। वे स्वयं दूषण देते हैं और तब उसका निरास करते हैं। वार्तिक के सिद्धान्तों की व्याख्या में—समर्थन में अनेक प्रकार की युक्तियाँ देते हैं जिससे भाष्यकार के बुद्धि-कौशल का ही पता नहीं चलता, प्रत्युत कात्यायन के प्रति उनकी पूर्ण आस्था का भी परिचय मिलता है। यथा **'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन'**—इस वार्तिक के भाष्य के अनुशीलन से उनकी कात्यायन के सिद्धान्तों के प्रति भूयसी आस्था अभिव्यक्त होती है। इसमें अनेक समाधानों को देकर तथा सम्भाव्य आक्षेपों का निराकरण कर पतञ्जलि ने कात्यायन के मत को पूर्णतः पुष्ट किया है। नये-नये प्रश्नों के उत्तर में वे मूल वार्तिक के ही समस्त शब्दों का नवीन विग्रह कर समुचित समाधान करते हैं। **'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'** के व्याख्यान के अवसर पर पदार्थ की समस्या उठ खड़ी

---

1. संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव। —पस्पशाह्निक।

होती है कि पदार्थ आकृति है अथवा द्रव्य। इन दोनों पक्षों के समर्थन में वे **'शब्दार्थ सम्बन्धे'** के दो प्रकार के विग्रह प्रस्तुत करते हैं और कात्यायन के मान्य सिद्धान्त को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। प्रत्याहाराह्निक में वर्ण की सार्थकता तथा अनर्थकता को सिद्ध करने के लिए अनेक वार्तिक हैं। इनकी व्याख्या पतञ्जलि ने उदाहरणों के द्वारा जिस मार्मिक ढंग से की है वह दर्शनीय है। उदाहरणों के वैशद्य के कारण यह प्रसंग खिल उठता है।

(ग) कात्यायन के वार्तिकों के ऊपर पतञ्जलि का महाभाष्य ही सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्यान है, प्रत्युत पतञ्जलि से पूर्व ही अन्य व्याख्याकारों ने इनके ऊपर व्याख्यायें लिखी थीं। इन व्याख्याकारों के नाम से तो हम परिचित नहीं हैं, परन्तु इनकी सत्ता के लिए महाभाष्य ही प्रमाण उपस्थित करता है। भाष्यकार ने अपनी व्याख्या लिखने के बाद इन प्राचीन व्याख्याकारों के मत का उल्लेख 'अपरस्त्वाह' कहकर किया है[1]। इसका ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि पतञ्जलि तथा कात्यायन के बीच में समय का पर्याप्त व्यवधान है, परन्तु कितने समय का ? इसका यथाथ उत्तर दुष्कर है।

(घ) कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि वेद के विशेष मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं। वेद का उनका अध्ययन गम्भीर तथा मौलिक था—यह निष्कर्ष उनके भाष्य के अनुशीलनकर्ता को पदे-पदे उपलब्ध होता है। पस्पशाह्निक में व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों के उल्लेख के अवसर पर इसका प्रमाण उपन्यस्त है। व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त पतञ्जलि ने चार वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया है तथा उनका व्याकरणपरक अर्थ भी किया है—(१) **चत्वारि शृंगा**[2] (**ऋ० ४।५८।३**), (२) **चत्वारि वाक् परिमिता**[3] (ऋ० १।१६४।४५); (३) **उत त्वः पश्यन्**······ (**ऋ० १०।७१।४**); (४) **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो** (ऋ० १०।७१।२)। इनसे अतिरिक्त अन्य मन्त्र तथा अनुष्ठान-वाक्य भी इस प्रसंग में दिये गये हैं। पतञ्जलि ने वेद, वैदिक शाखा, वैदिक चरण तथा वेदाध्ययन प्रणाली पर इतनी प्रचुर

---

१. यथा पस्पशाह्निक में 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' वार्तिक का एक नवीन व्याख्यान 'अपरस्त्वाह' शब्दों के अनन्तर प्रस्तुत किया गया है।

२. यह मन्त्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है—वाज० सं० १७।९१; तैत्ति० आर० १०।१०।२; नि० १३।७।

३. यह मन्त्र अन्यत्र भी उपलब्ध है—अथर्व ९।१०।२७; तै० ब्रा० २।८।८।५; शत० ब्रा० ४।१।३।१७; नि० १३।९।

सामग्री अपने भाष्य में भर दी है कि उसके आधार पर इन विषयों का सुव्यवस्थित स्वरूप हमारे मानसपटल के सामने सद्यः खड़ा हो जाता है। वेद का इतना गम्भीर तथा विस्तृत परिचय होना सचमुच आश्चर्य की घटना है। कठ तथा कलाप शाखा से महाभाष्य का गहरा परिचय दृष्टिगोचर होता है। काठकों की प्रतिष्ठा पाणिनि के काल में भी थी जिन्हें उनकी संहिता में प्रयुक्त होने वाले 'देवायन्तः' तथा 'सुम्नायन्तः' पदों के लिए एक विशिष्ट नियम[1] बनाने की आवश्यकता पड़ी। पतञ्जलि के युग में तो कठ और कलापी की संहितायें गाँव-गाँव में पढ़ाई जाती थीं[2]। ये दोनों वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे—उस वैशम्पायन के, जिन्होंने यजुर्वेद के प्रवचन को आरम्भ किया था। जिस प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनि की कृति को महत् तथा सुविहित (सुव्यवस्थित) कहा है, उसी प्रकार कठों की संहिता को भी[3]। कठों, कलापों तथा कौथुनों की संहिता के गान तथा उनके प्रति मंगल-कामना के उल्लेख भी भाष्य में मिलते हैं[4]। इस प्रकार पतञ्जलि के महाभाष्य के अध्ययन से वेद के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का आविष्करण हो सकता है। उनके समान वेद के ज्ञाता वैयाकरण की उपलब्धि उस प्राचीन युग में भी विरल थी। इसीलिए उन्होंने वेदज्ञान के लिए व्याकरण की भूयसी उपयोगिता मानी है।

---

१. देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ७।४।३८ सूत्र के द्वारा वे दोनों पद सिद्ध होते हैं। इस सूत्र का 'यजुषि' पद इस बात का प्रमाण है कि कठशाखा यजुर्वेद के अतिरिक्त भी है। हरदत्त के अनुसार कठशाखा ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। वहाँ 'देवान् जिगाति सुम्नयुः' ऐसा 'आत्' विरहित ही प्रयोग होगा। पदमंजरी के शब्द ध्यातव्य हैं—'बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा। ततो भवति प्रत्युदाहरणम्। अनन्ता वै वेदाः' (पूर्वसूत्र की पदमञ्जरी)। 'अनन्ता वै वेदाः' हरदत्त का आश्चर्यसूचक उद्गार है जो बतलाता है कि कठशाखा का प्रख्यात सम्बन्ध तो यजुर्वेद से ही है, परन्तु ऋग्वेद में भी उस शाखा का सम्भावित अस्तित्व है। विशेष द्रष्टव्य—डा० रामशंकर भट्टाचार्य का ग्रन्थ 'पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन' पृ० १९८–२०२ (वाराणसी, १९६६ ई०)।

२. ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते (४।३।१०१)।

३. यथेह भवति पाणिनीयं महत् सुविहितमिति, एवमिहापि कठं महत् सुविहितम् (४।२।६६)।

४. नन्दन्तु कठकालापाः, वर्धन्तां कठकौथुकाः (२।४।३)।

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्

पाणिनि व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसके स्रष्टा तीन महामुनि थे—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, जो क्रम से एक दूसरे से उत्तरोत्तर थे कालक्रम से। व्याकरण सम्प्रदाय का परिनिष्ठित मत है—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् अर्थात् उत्तरोत्तर मुनि का प्रामाण्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार पाणिनि से बढ़ कर कात्यायन का तथा उनसे भी बढ़कर प्रामाण्य है पतञ्जलि का। कुछ लोग इसे भट्टोजि दीक्षित का ही अविचारित-रमणीय मन्तव्य मानते हैं, परन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्त भी जो दीक्षित से सर्वथा प्राचीन वैयाकरण हैं इसी मन्तव्य के समर्थक थे। पदमंजरी का प्रामाण्य इस विषय में स्पष्ट है। इस तथ्य के पोषक कतिपय उदाहरण यहाँ उपन्यस्त हैं—

(१) **न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४) सूत्र का तात्पर्य है कि धात्वंशलोप निमित्तक आर्धधातुक परे रहने पर इक् को गुण तथा वृद्धि नहीं होती। बेभिदिता, मरीमृजक, लोलुव आदि इसके उदाहरण हैं। परन्तु पतञ्जलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। उनका कथन है कि सर्वत्र अकार के लोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव होने से गुण-वृद्धि नहीं होगी, तब सूत्र का प्रयोग ही क्या? आजकल समस्त वैयाकरण इस प्रत्याख्यान को ही आदर देते हैं, सूत्र को नहीं। सूत्र केवल शुद्ध अदृष्टार्थक ही माना जाता है।

(२) **न बहुव्रीहौ** (१।१।२८) सूत्र का अर्थ है कि बहुव्रीहि चिकीर्षित होने पर सर्वादि को सर्वनामता नहीं होती। इसके उदाहरण हैं **त्वत्कपितृकः (त्वं पिता यस्येति-विग्रहे)**। इस सूत्र पर पतञ्जलि की इष्टि है—**'अकच्-स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्त-संशयौ'** और इस दृष्टि के अनुसार उन्होंने अकच् घटित पद को ही मान्य बतलाया है—जिससे पूर्वोदाहृत पद होंगे **त्वकत्-पितृकः**, तथा **मकत्पितृकः**। इन रूपों को सिद्ध कर महाभाष्यकार ने सूत्र का प्रत्याख्यान किया। और आज यही मत सर्वत्र मान्य है, सूत्रकार का मत नहीं।

(३) **'नामन्त्रिते समानाधिकरणे'** (८।१।७३) अष्टाध्यायी का सूत्र है जिसके अनन्तर दूसरा सूत्र है **'सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने'**। यहाँ पर दूसरे सूत्र में 'बहुवचन' इस पद की पूर्ति कर **'सामान्यवचनम्'** का प्रत्याख्यान किया गया है। और 'विशेष वचने' पद का सम्बन्ध पूर्व सूत्र में स्थापित किया भाष्यकर ने। इससे सूत्र का अर्थ हुआ 'बहुवचनान्त विशेष्य समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण परे रहने पर अविद्यमानवत् होता है विकल्प से' और यही सूत्र का अर्थ सर्वत्र मान्य होता है। **'ब्राह्मणा वैयाकरणाः'** इस लक्ष्य में उत्तर वैयाकरणपद का विकल्प से निघात सिद्ध

होता है। और 'ब्राह्मण वैयाकरणः' इस लक्ष्य में तो निघात नित्य ही होता है। इस सूत्र में 'बहुवचन' पद के प्रवेश के अभाव में एकवचनान्तादिकों का अविद्यमानवद्भाव होने पर अनिष्ट की प्रसक्ति हो सकेगी। अतएव भाष्यकार की व्यवस्था इस सूत्र में सब वैयाकरणों के द्वारा स्वीकृत की जाती है।

(४) **'उपसर्गादनोत्परः'** (**८।४।२८**) सूत्र का अर्थ है—उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'नस्' के नकार को णत्व होता है, ओकार परभाग में नहीं होने पर। 'प्रणसः' इसका उदाहरण है। अब विचारणीय है—'प्रणा नय' इस लक्ष्य में ओकारपरत्व होने से णत्व सिद्ध नहीं होगा तथा 'प्र नः पूषा' इस लक्ष्य में ओकारपरत्व न होने से णत्व होगा—इस प्रकार अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति को देखकर भगवान् भाष्यकार ने सूत्र से 'अनोत् परः' इस पद को हटाकर उसके स्थान पर बहुलम् पद की योजना की है। इससे इष्ट प्रयोग की सिद्धि होती है। आज भाष्यकार की ही व्यवस्था शब्दवेत्ताओं के द्वारा समाहृत होती है।

(५) **'पदव्यवायेऽपि'** (**८।४।३८**) पाणिनि का सूत्र है। उसका अर्थ है—पूर्व पदस्थ निमित्त से परे प्रातिपादिकान्त विभक्ति-स्थित 'नुम्' के नकार को णत्व नहीं होता, यदि पद से व्यवधान होवे। इसका उदाहरण 'चतुरङ्ग-योगेन' है। इस सूत्र के ऊपर कात्यायन का 'अतद्धिते इति वक्तव्यम्' यह वार्तिक है जिसका अर्थ है कि सूत्र वाला नियम तद्धित से भिन्न स्थलों में ही होना चाहिए। इसलिए 'आर्द्र-गोमयेण' पद में णत्व का निषेध नहीं होता। परन्तु इस वार्तिक का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया। उन्होंने 'पदव्यवाये' इस सूत्रस्थ पद में 'पदे व्यवायः' यही सप्तमी-समास स्वीकृत किया और इस समास स्वीकार करने पर सर्वत्र इष्ट सिद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार का यह प्रकार ही सर्वसम्मति से स्वीकृत किया जाता है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में सूत्रकार तथा वार्तिककार की अपेक्षा भाष्यकार का मत प्रशस्त माना जाता है। इसका अभिप्राय वैयाकरण सम्प्रदाय में यह नहीं है कि सूत्रकार तथा वार्तिककार का मत अप्रमाण है, प्रत्युत उत्तर मुनि के तात्पर्य में ही उनका भी तात्पर्य है। कैयट की इस विषय में स्पष्ट उक्ति है—

> **पाणिनीय व्याख्यानभूतत्वेऽपि इष्ट्यादि-कथनेन**
> **अन्वाख्यातृत्वाद् अस्य इतरभाष्यवैलक्षण्येन महत्त्वम् ॥**
>
> **(प्रदीप १।१।१)**

मेरी दृष्टि में भाष्यकार की इष्टियाँ उन्हें 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' वैयाकरण सिद्ध कर रही हैं। भाष्यकार ने धातुओं के अर्थ-प्रसंग के दो शब्दों का व्यवहार किया है—विद्यते

तथा इष्यते। 'विद्यते' का अर्थ है कि धातु का वह अर्थ पाणिनि द्वारा आम्नात है—निर्दिष्ट है। 'इष्यते' का तात्पर्य है कि लोकव्यवहार में उसका भिन्न ही अर्थ विद्यमान है। इसी प्रकार लोकव्यवहार में प्रचलित शब्द की सिद्धि, जो सूत्र तथा वार्तिक द्वारा कथमपि नहीं हो सकती, 'इष्टि' के द्वारा ही सम्पन्न होती है। पतञ्जलि व्यवहार को शास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने वाले वैयाकरण हैं। फलतः व्यावहारिक प्रयोगों को शास्त्र की मर्यादा में बाँधने के लिए ही पतञ्जलि ने अपनी इष्टियों का निर्माण किया। इससे उनकी अलौकिक शेमुषी तथा भाषा और व्याकरण के परस्पर सन्तुलन की दृष्टि लक्ष्य में आती है। निःसन्देह पतञ्जलि संस्कृत भाषा के प्रखर प्रतिभाशाली महनीय वैयाकरण हैं।

तृतीय खण्ड

व्याख्या-युग

पाणिनीय सम्प्रदाय का व्याख्या-युग पञ्चम शती से लेकर १४ शती तक व्याप्त है। इससे पूर्व युग में जिन दो मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उन्हीं के ऊपर व्याख्या-ग्रन्थों का निर्माण कर उन्हें सुलभ तथा बोधगम्य बनाया गया। वार्तिकों को अन्तर्निविष्ट करने के कारण महाभाष्य ही अष्टाध्यायी के अनन्तर व्याख्या की आवश्यकता रखता था। फलतः इन्हीं दोनों के ऊपर व्याख्याग्रन्थों का निर्माण इस युग का निजी वैशिष्ट्य है। अष्टाध्यायी की अपेक्षा पातञ्जल महाभाष्य गम्भीर तथा दुरूह होने के कारण सर्वप्रथम व्याख्यान की अपेक्षा रखता था और इसीलिए इस युग में उसके ऊपर व्याख्या-ग्रन्थों की रचना हुई। अष्टाध्यायी के व्याख्या-ग्रन्थ का क्रम उसके अनन्तर प्रतीत होता है। इन्हीं दोनों ग्रन्थों की टीका-प्रटीका की रचना के कारण इस लम्बे काल को 'व्याख्या-युग' का अभिधान हम प्रदान करते हैं।

'व्याख्या-युग' का नामकरण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार प्राचीनतम सम्पूर्णवृत्ति 'काशिकावृत्ति' के निर्माण के कारण ही है, अन्यथा वृत्तियों का रचना सप्तम शती से पूर्वकाल की घटना है। काशिका ने अपने उपजीव्य ग्रन्थों में ही किसी 'वृत्ति' का निर्देश किया है[1]। इस 'वृत्ति' के विषय में पदमञ्जरी में हरदत्त ने कोई नाम निर्देश नहीं किया, परन्तु उनसे पूर्ववर्ती जिनेन्द्रबुद्धि ने इस श्लोक के अपने "न्यास' में **चुल्लिभट्टि** तथा **निर्लूर** की वृत्तियों का नाम्ना संकेत किया है। फलतः ये वृत्तियाँ काशिका से प्राचीनतर हैं, परन्तु इनमें से किसका आश्रयण काशिका में विशेषरूप से है ? इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इतना ही क्यों ? सूत्रवृत्ति की सत्ता पतञ्जलि महभाष्य से भी प्राक्कालीन है। उस युग में **कुणि** नामक आचार्य की वृत्ति नितान्त प्रख्यात थी। 'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७५) सूत्र में 'प्राचां' से क्या तात्पर्य माना जाय ? इस विषय में मत-द्वैविध्य है। सामान्यरूपेण यह शब्द प्राचीनिवासियों का ही वाचक माना गया था ('काशिका' को भी यही स्वीकार्य है) परन्तु कुणि की सम्मति में यह शब्द प्राक्देशीय आचार्यों

---

१. **वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनाम-पारायणादिषु।**
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥

—काशिका का प्रथम श्लोक।

का संकेतक है तथा इस सूत्र में व्यवस्थित विभाषा भी है। कुणि के इस मत को पतञ्जलि ने भी माना है। इस तथ्य का परिचय हमें इस सूत्र के प्रदीप में कैयट के शब्दों से वैशद्येन उपलब्ध होता है[1]। फलतः कुणि की पतञ्जलि से प्राक्कालीनता निःसंदिग्ध है।

इतने से सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सूत्रकार पाणिनि ही प्रथम वृत्तिकार भी प्रतीत होते हैं। वह वृत्ति तो आज उपलब्ध नहीं, परन्तु मान्य वैयाकरणों के उल्लेख इस तथ्य के मानने में प्रमाण माने जा सकते हैं। स्वयं महाभाष्यकार के वचन इस विषय में प्राचीनतम निर्देश माने जा सकते हैं। आ कडारादेका संज्ञा (१।४।१) सूत्र के पाठ के विषय में सन्देह उठाया गया है महाभाष्य में। और उत्तर है कि इस सूत्र के दो रूप हैं—आ कडारादेका संज्ञा तथा प्राक् कडारात्परं कार्यम्। और यह आचार्य के प्रामाण्य पर ही स्वीकार्य माना गया है—**'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिता केचिदा कडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति'**; महाभाष्य के ये वचन नितान्त स्पष्ट हैं।

काशिका ने अनेक सूत्रों की दो प्रकार की व्याख्यायें दी हैं और इसके लिए आचार्य को ही प्रमाण माना है। ५।१।५० सूत्र (**तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः**) पर दो प्रकार के अर्थ तथा दो प्रकार की शब्दसिद्धि दिखला कर काशिका कहती है—

सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। तदुभयथापि ग्राह्यम् (काशी सं०, चतुर्थ भाग, पृ० ५५)। ५।१।९४ सूत्र (तदस्य ब्रह्मचर्यम्) में इसी प्रकार व्याख्या के दो प्रकार हैं। एक के अनुसार प्रत्यय का अर्थ ब्रह्मचारी है और दूसरे के अनुसार ब्रह्मचर्य प्रत्ययार्थ है। ये दोनों अर्थ प्रमाण हैं दोनों प्रकार के सूत्र प्रणयन से—

पूर्वत्र ब्रह्मचारी प्रत्ययार्थः। उत्तरत्र ब्रह्मचर्यमेव।
उभयमपि प्रमाणम्। उभयथा सूत्र-प्रणयनात्[2] (काशिका)॥

---

१. **कुणिना प्रागग्रहणमाचार्य-निर्देशार्थं व्यवस्थित-विभाषार्थं च व्याख्यातम्……भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत् (१।१।७५ पर भाष्यप्रदीप)। पदमंजरी में भी यही मत स्वीकृत है।**

२. **इस वाक्य का अर्थ दोनों टीकाकारों के अनुसार एक समान ही है। उभयस्मिन्नपि ह्यत्रार्थे सूत्रमेतद्-आचार्येण प्रणीतम्। द्वयमपि प्रमाणम् (न्यास)। उभयोरप्यर्थयोः सूत्रकारेणैव सूत्रस्य व्याख्यातत्वात् (पदमंजरी)।**

अष्टाध्यायी का १।१।४५ सूत्र (**इग् यणः सम्प्रसारणम्**) सम्प्रसारण संज्ञा का विधान करता है। इस सूत्र के तात्पर्य के विषय में दो मत हैं (जिसका उल्लेख काशिका करती है)। एक के अनुसार वाक्यार्थ की संज्ञा सम्प्रसारण है और दूसरे के अनुसार यण् के स्थान में होने वाले इक् (वर्ण) की ही वह संज्ञा है। काशिकाकार ने इस द्वैविध्य के लिए प्रमाण नहीं दिया, परन्तु भर्तृहरि पाणिनि को ही इसका उत्थापक मानते हैं—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। केचिद् वाक्यस्य, केचिद् वर्णस्य[1]।

सारांश है कि भर्तृहरि के मत में आचार्य पाणिनि ने ही अपने शिष्यों को यह दो प्रकार का व्याख्यान दिया था। किन्हीं को वाक्य का ही सम्प्रसारण बतलाया था और किन्हीं को वर्ण को ही।

निष्कर्ष यह है कि काशिका, भर्तृहरि तथा पतञ्जलि जैसे प्राचीन आचार्यों के पूर्वोक्त उद्धरणों से हमें पता चलता है कि पाणिनि ने स्वयं ही अपने सूत्रों का प्रवचन कर शिष्यों को तात्पर्य समझाया था। फलतः सूत्रकार को ही प्रथम वृत्तिकार मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इस विषय में सम्प्रदाय की अक्षुण्णता अवलोकनीय है।

महाभाष्य की 'विपुल' टीका सम्पत्ति में तीन व्याख्यायें मुख्य तथा लोकप्रिय हैं—(१) भर्तृहरि रचित 'महाभाष्य दीपिका'; (२) कय्यट कृत 'महाभाष्य प्रदीप' तथा तदुपरि (३) नागेश निर्मित प्रदीपोद्योत। अष्टाध्यायी की व्याख्यायों (वृत्तियों) में मुख्य ये हैं—(१) जयादित्य तथा वामन रचित काशिका वृत्ति, जिसके गम्भीर अर्थ की व्याख्या जिनेन्द्र बुद्धि ने 'काशिका विवरण पञ्जिका (प्रख्यात अभिधान 'न्यास') में तथा हरदत्त ने पदमञ्जरी में की; (२) अज्ञातनामा आचार्य की 'भागवृत्ति' (३) पुरुषोत्तम देव की 'भाषा वृत्ति', (४) शरणदेव की 'दुर्घट वृत्ति' तथा (५) भट्टोजि दीक्षित कृत 'शब्द कौस्तुभ'। इस प्रकार व्याकरण के व्याख्या-युग के सर्व-प्राचीन आचार्य भर्तृहरि हैं।

भर्तृहरि

पाणिनीय सम्प्रदाय में भर्तृहरि के समान अशेष-तत्त्व-निष्णात वैयाकरण मिलना दुर्लभ नहीं, नितान्त असम्भव है। पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में व्याकरण के दार्श-

---

१. यह वचन उद्धृत है संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पृ० ४०४ पर।

निक पक्ष का जो रहस्य उद्घाटित किया है, उन्हीं से प्रेरणा तथा स्फूर्ति ग्रहण कर भर्तृहरि ने अपना अलौकिक पाण्डित्य-मण्डित ग्रन्थ लिखा जो वाक्य तथा पद के रहस्यों का यथाविधि उद्घाटन करने के हेतु 'वाक्यपदीय' के नाम से प्रख्यात है। पतञ्जलि की वैयाकरण-वैदग्धी के समीप तक जाने की योग्यता भर्तृहरि में निःसन्देह है। इनके देश-काल का यथार्थ परिचय उपलब्ध नहीं। पुष्यराज के प्रामाण्य पर इनके गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिंग के निराधार तथा भ्रान्त उल्लेखों ने विद्वानों में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। ये वैदिक धर्मानुयायी थे। इसका परिचय वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। जो व्यक्ति धर्म की व्यवस्थिति के लिए तर्क से अधिक महत्त्व आगम—वेद को देता है[1] और जो तर्क की मर्यादा को वेद तथा शास्त्र के अविरोधी होने पर ही मान्यता देता है[2], वह क्या बुद्धमतानुयायी कथमपि माना जा सकता है? गणरत्न-महोदधि के कर्ता जैन वर्धमान सूरि भर्तृहरि को वेदज्ञों को अलंकारभूत मानता है (**वेदविदामलङ्कारभूतः**)[3] काश्मीरी दार्शनिक उत्पलाचार्य ने भी इनके किसी मत को बौद्धमत के साथ साम्य दिखलाया है। फलतः ग्रन्थ की अन्तरंग तथा बहिरंग परीक्षा से ये निश्चित रूप से प्रौढ़ वैदिकमतानुयायी सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

भर्तृहरि-निर्मित महाभाष्य-व्याख्या को महाभाष्य की उपलब्ध टीकाओं में सर्व-प्राचीन मान सकते हैं, परन्तु प्रथम टीका नहीं, क्योंकि इसमें प्राचीन भाष्य-व्याख्यायों[4] का बहुशः उल्लेख है, नाम्ना नहीं, केवल 'अन्ये' 'अपरे' शब्दों के द्वारा ही। विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में इसके उद्धरण सिद्ध करते हैं कि भर्तृहरि ने समग्र महाभाष्य पर टीका लिखी थी,[5] परन्तु आज उपलब्ध है केवल त्रिपादी की व्याख्या ही। वर्धमान भर्तृहरि को महाभाष्य त्रिपादी का ही व्याख्याता मानता है—भर्तृहरिर्वाक्यपदीय-प्रकीर्णयोः

---

१. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
(वाक्यपदीय १।३६)।

२. वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
(वही १।१३६)।

३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२३।

४. भाष्यकारस्याभिप्रायमेतं व्याख्यातारः समर्थयन्ते।
(दीपिका का वचन)

५. द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग (पृष्ठ ३५४—३५५) अजमेर सं० २०२०।

कर्ता महाभाष्य-त्रिपाद्या व्याख्याता च । प्रतीत होता है कि विक्रम की १२ शती में, जब वर्धमानने अपने 'गणरत्नमहोदधि' का निर्माण किया, महाभाष्य-दीपिका की 'त्रिपादी' ही अवशिष्ट रह गई थी। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि की यह टीका पतञ्जलि के गूढ़ रहस्यों की उद्घाटिनी है।

वाक्यपदीय

'वाक्यपदीय' में तीन काण्ड हैं। इनमें से वाक्यपदीय कितने अंश का नाम है ? इस विषय में प्राचीन वैयाकरणों में तथा टीकाकारों में भी ऐकमत्य नहीं है। इस वैमत्य के कारण का यथार्थ पता नहीं चलता। 'गणरत्न-महोदधि' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणेता वर्धमान भर्तृहरि को वाक्यपदीय तथा प्रकीर्ण का कर्ता मानता है (भर्तृहरि-वाक्यपदीय-प्रकीर्णयोः कर्ता) अर्थात् तृतीय काण्ड के प्रकीर्ण काण्ड होने के कारण उसकी दृष्टि में प्रथम तथा द्वितीय काण्ड का ही अभिधान 'वाक्यपदीय' सुसंगत है। प्रकीर्ण काण्ड का टीकाकार हेलाराज प्रथम काण्ड का उल्लेख वाक्यपदीय नाम्ना करता है[१]। इससे यही सूचित होता है कि वह वाक्यपदीय को प्रकीर्ण काण्ड से पृथक् तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ मानता है। इस मत की सत्ता रहने पर भी हमें यही उचित प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण त्रिकाण्डी का ही नाम 'वाक्यपदीय' है, केवल प्रथम-द्वितीय काण्ड का नहीं।

इस मत की स्थापना का बीज हेलाराज की वृत्ति से भली-भाँति उपलब्ध होता है। ध्यान देने की बात है कि वैयाकरणों के अनुसार व्यवहार में उपयोगी होने से वाक्य ही प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण होता है। भाषा की वाक्य ही मुख्य इकाई है जिसके विश्लेषण करने पर हम पदों की सत्ता पर पहुँच जाते हैं। किसी भी व्यक्ति को घड़े के लाने में प्रवृत्त कराने तथा उस कार्य से निवृत्त कराने वाला वाक्य 'घटमानय' तथा 'घटं माऽऽनय' ही भाषाशास्त्रीय दृष्टि से मुख्यता रखता है। इन वाक्यों के अपोद्धार से ही तद्घटक पदों की सत्ता हमें उपलब्ध होती है। इस प्रकार वाक्य की ही मुख्यता होती है और तदवयवयभूत होने से पद की गौणता होती है। इस तथ्य की ओर भर्तृहरि ने स्वयं संकेत किया है तृतीय काण्ड के आरम्भिक पद्य में—

> द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
> अपोधृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥

फलतः तृतीय काण्ड का ही समुचित अभिधान है—पद-काण्ड। विषयों के वैभिन्य के कारण ही उसे प्रकीर्ण काण्ड के लोकप्रिय नाम से अभिहित करते हैं, परन्तु यथार्थतः वह पदकाण्ड ही है। द्वितीय काण्ड का विषयानुसारी नाम है—वाक्य-काण्ड और

इन काण्डों की भूमिका के रूप में आता है प्रथम काण्ड जिसमें व्याकरण-सम्मत मूल तथ्य शब्दब्रह्म-का विमर्श प्रौढि के साथ, परन्तु बड़े वैशद्य से, संक्षेप में किया गया है। वेद के स्वरूप का प्रतिपादन भी इसमें है। फलतः आगम काण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड के नाम से अभिधीयमान यह काण्ड पूरे ग्रन्थ के लिए भूमिका-प्रस्तावना का काम करता है। इस प्रकार इन तीनों काण्डों में परस्पर सुसंगति है तथा पौवापर्य का समुचित व्यवस्थापन है। इसलिए उचित यही प्रतीत होता है कि तीन काण्डों को मिलाकर 'वाक्यपदीय' नाम चरितार्थ होता है। फलतः तृतीय काण्ड मूल ग्रन्थ का अविभाज्य अंग है। उसे पृथक् काण्ड के रूप में मानना कथमपि न्याय्य तथा समुचित नहीं प्रतीत होता। वाक्य तथा पद—यही व्याकरण-सम्मत पौवापर्य है और इसीलिए इन दोनों के प्रतिपादक ग्रन्थ का समुचित अभिधान 'वाक्यपदीय' सर्वथा सुसंगत है।

तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय का अङ्ग मानने में हमने ऊपर जो अपना मत व्यक्त किया है उसकी सम्पुष्टि पुण्यराज के व्याख्यान से भी होती है। जैसे कि—

"वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद् वस्तुमात्रमुदाहृतम्।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा॥"
(वा० प० २।४८५)

इस कारिका पर टीका करते हुए उन्होंने कहा है—

"अत्रास्मिन् वाक्यकाण्डे काण्डद्वये वा केषाञ्चिदेव न्यायवर्त्मनां वस्तुमात्रं बीजमात्रं प्रदर्शितमेव। शिष्टे तु तृतीयेऽस्य ग्रन्थस्य पदकाण्डद्वयनिष्यन्दभूते न्यक्षेण आदरविशेषेण स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तवर्तिनां विचारणा युक्तायुक्तविचारपूर्वकनिर्णीतिर्भविष्यति। ततो नायमेतावान् व्याकरणागमसङ्ग्रह इति" (पृ०५७६)।

इस व्याख्यान से तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय ग्रन्थ का ही विशिष्ट भाग माना जा सकता है, क्योंकि व्याकरण का विवक्षित विषय दो काण्डों में पूर्णरूपेण वर्णित नहीं हुआ है। प्रकीर्ण विषयात्मक इस तृतीय काण्ड का पूर्ववर्ती दो काण्डों में अन्तर्भाव नहीं होता; ऐसा कहने का एकमात्र तात्पर्य है कि तीनों काण्डों को ही वाक्यपदीय यह नाम देना चाहिए। इस विषय में हम विशिष्ट विद्वानों के ही निर्णय को प्रमाण मान सकते हैं।

भर्तृहरि का देश

अब हम वाक्यपदीयकार आचार्य श्री भर्तृहरि के देश और काल पर विचार उपस्थापित करते हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को अनेक व्याकरण-ग्रन्थों में तथा तदितर शास्त्रीय ग्रन्थों में भी अनेक बार भर्तृहरि, हरि, और हरिवृषभ इन तीन नामों से उद्धृत किया गया है। प्रबल प्रमाण के अभाव में केवल यही निश्चयेन नहीं कहा

जा सकता कि वैयाकरणाग्रणी महात्मा भर्तृहरि भारतवर्ष के किस स्थान में किस समय उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनके जीवन-चरित के विषय में भी कुछ न कहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य भर्तृहरि ने न तो मूलकारिकाओं में, न प्रथम काण्ड की सम्पूर्ण स्वोपज्ञ वृत्ति में और न द्वितीय काण्ड की विच्छिन्न रूप में उपलब्ध स्वोपज्ञ वृत्ति में ही कहीं कोई निर्देश या संकेत किया है। अधिक क्या, भर्तृहरि ने अपने गुरु के भी नाम का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित कारिका-वचन से यही सिद्ध होता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की मूल कारिकाओं को अपने गुरु से ही सुनकर संगृहीत किया था। कारिका यह है—

> **"न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्,**
> **प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसङ्ग्रहः"।**
>
> (वा० प० २।४८४)
>
> **"पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः,**
> **स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।"**
>
> (वा० प० २।४८३)।

इस कारिका के व्याख्यानावसान में—

"अथ कदाचिद् योगतो विचार्य तत्रभगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः सञ्ज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्याऽस्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वक्रममभिधातुमाह— न्यायप्रस्थानेति" (संस्कृत वि० वि० संस्करण वाले ग्रन्थ के ५७४ पृष्ठ पर पुण्यराज की वृत्ति)। इस पुण्यराज के वक्तव्य से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि के गुरु का वसुरात यह नाम था। इन्हीं महात्मा वसुरात ने वाक्यपदीय के मूलभूत व्याकरण-शास्त्रीय पदार्थों का संग्रह किया था, इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

यद्यपि भर्तृहरि ने अपने जन्मस्थानादि का निर्देश नहीं किया है, तथापि किन्हीं सम्भावित विशुद्ध प्रमाणों के आधार पर हमें यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के पूर्व पुरुषों का निवास स्थान काश्मीर देश था। कारण यह है कि वाक्यपदीय यह शब्द **"शिशुक्रन्द-यमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः"** (अष्टाध्यायी ४।३।८८) सूत्र के द्वन्द्व समास से 'छ' प्रत्यय के उदाहरण रूप में सर्वप्रथम काशिका में उपन्यस्त हुआ है। काशिका शब्द की व्युत्पत्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त ने 'काशिषु भवा' यह की है। ऐसी प्रसिद्धि है कि काशिका ग्रन्थ के रचयिता वामन तथा जयादित्य काश्मीर देश के ही रहने वाले थे। स्वभावतः किसी ग्रन्थकार के द्वारा समीपवर्ती ही किसी अन्य ग्रन्थकार का परिचय दिया जाता है। अतः काश्मीर-निवासी वामन एवं जयादित्य के द्वारा जो वाक्यपदीय ग्रन्थ का नाम्ना प्रथम परिचय काशिका में प्रस्तुत किया गया है, इससे

यह सम्भावना की ही जा सकती है कि भर्तृहरि के साथ वामन और जयादित्य का अत्यन्त घनिष्ठ तथा निकट देशज सम्बन्ध था।

द्वितीय प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि काश्मीर-वास्तव्य कुछ शैवमतानुयायी आचार्यों ने भर्तृहरि की कारिकाओं को कहीं पर खण्डन करने के उद्देश्य से तथा कहीं पर अपने मत का समर्थन करने के उद्देश्य से उद्धृत किया है। इन शैवाचार्यों ने भर्तृहरि की केवल कारिकाओं पर ही नहीं किन्तु प्रथम काण्ड की स्वोपज्ञ वृत्ति पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। स्वोपज्ञवृत्तिस्थ कारिकाओं एवं किन्हीं विशिष्ट लक्षणों पर भी इन तन्त्रशास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों ने आलोचना की है। जैसे—

(क) आचार्य सोमानन्द (८८० ई०) ने अपने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ के द्वितीय आह्निक में जहाँ पर वैयाकरण-समस्त शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है, उस प्रसंग में **"अनादिनिधनं ब्रह्म"** (वा० प० १।१) तथा **"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके"** (वा० प० १।१२३) इन दो कारिकाओं को उद्धृत किया है। किञ्च भर्तृहरि-विरचित समझ कर—

"अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा,
स्वरूपज्योतिरेवाऽन्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।"

इस कारिका का भी उल्लेख किया है।

वस्तुतः यह कारिका भर्तृहरि-विरचित नहीं है, क्योंकि १।१४२ कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में भर्तृहरि ने किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धरण रूप में इस कारिका का निर्देश किया है।

(ख) आचार्य सोमानन्द के साक्षात् शिष्य श्री उत्पलाचार्य (९२५–९५० ई०) **'शिवदृष्टि'** ग्रन्थ की व्याख्या में आचार्य भर्तृहरि की कारिका तथा स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख करते हैं। साथ ही "अनादिनिधनं ब्रह्म" (वा० प० १।१) कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में उपन्यस्त विवर्त के लक्षण को भी उद्धृत करते हैं। विवर्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः।"

विद्वानों को यह विदित होना चाहिए कि भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ग्रन्थ के व्याख्याता हेलाराज और पुण्यराज का अभिजन काश्मीर देश ही था। इनमें दशम शताब्दी (९५० ई०) के मध्य में होने वाले व्याख्याकार हेलाराज शैवाचार्य श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। इन्होंने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या की है जिसमें प्रमेय पदार्थों के विवक्षित रहस्य को सरल ढंग से बताया गया है। इस समय

तृतीय काण्ड की प्रसिद्ध 'प्रकाश' नामक व्याख्या मुद्रित रूप में उपलब्ध होती है। 'पूर्ववर्ती ब्रह्मकाण्ड और वाक्यकाण्ड पर इन्होंने व्याख्या की थी' ऐसा इनके ही द्वारा किये गए स्पष्ट निर्देश से ज्ञात होता है। परन्तु काल के प्रभाव से इस समय उसका नाम भी सुनाई नहीं पड़ता है तो फिर उसके प्राप्ति की चर्चा ही कैसे की जा सकती है। इसी प्रकार पुण्यराज का भी अभिजन काश्मीर देश ही माना जाता है।

उपरि प्रदर्शित प्रमाणानुसार काश्मीरक जयादित्य (छठी शताब्दी) के द्वारा काशिका में वाक्यपदीय ग्रन्थ का प्रथम नामोल्लेख किए जाने से, सोमानन्द (९वीं शताब्दी) प्रभृति प्राचीन काश्मीरक शैवाचार्यों के द्वारा वाक्यपदीय ग्रन्थ की कारिकाओं उद्धृत किए जाने से एवं काश्मीरक हेलाराज तथा पुण्यराज के द्वारा इस ग्रन्थ की व्याख्या किए जाने से यह अनुमान किया जा सकता है कि वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि का अभिजन काश्मीर देश ही था। इस विषय में प्रस्तावित मत की सम्पुष्टि के लिए अन्य भी प्रमाण अपेक्षित हैं।

भर्तृहरि का काल

आचार्य भर्तृहरि का समय भी अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। वाक्यपदीय की अन्तरंग परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्य में वर्णित विषय के रहस्य को समझकर व्याकरणशास्त्र को अनेक शाखाओं में विभक्त किया। कहा भी गया है—

> **"पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः,**
> **स नीतो बहु-शाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।"**
>
> (वा० प० २।४८६)।

इस कारिका में भर्तृहरि के द्वारा निर्दिष्ट चन्द्राचार्य का देश और काल प्रमाणाभाव से निश्चित नहीं किया जा सकता। कल्हण ने राजतरंगिणी में व्याकरण-प्रणेता चन्द्राचार्य का इस प्रकार स्पष्ट स्मरण किया है—

> **"चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम्,**
> **प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्।"**
>
> **(राजतरंगिणी १।१७६)।**

उपर्युक्त वाक्यपदीय तथा राजतरंगिणी इन दोनों ग्रन्थों में नामतः निर्दिष्ट चन्द्राचार्य एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। कविवर कल्हण के वचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य ने अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी बनाया था।

व्याकरणशास्त्र के वाङ्मय में पाणिनीय-व्याकरण से भिन्न क्रम का अनुसरण करने वाला चन्द्रगोमि-प्रणीत चान्द्र-व्याकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध-सम्प्रदाय में 'गोमिन्' शब्द का प्रयोग अतिशय पूज्य-भाव को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि वाक्यपदीय तथा राजतरंगिणी में चन्द्रगोमी के लिए ही चन्द्राचार्य का निर्देश किया गया है। चन्द्राचार्य का जन्म-समय किसी स्वतन्त्र प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण आचार्य भर्तृहरि के भी जन्म-समय में निःसन्देह रूप से कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

(क) मैंने पहले यह कहा है कि काशिका में ही सर्वप्रथम वाक्यपदीय ग्रन्थ का नामतः निर्देश उपलब्ध होता है। इससे इतना तो निश्चित ही है कि काशिका की रचना के पूर्व वाक्यपदीय ग्रन्थ की रचना हुई थी। किञ्च काशिका में **"प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च"** (अष्टा० १।३।१३) सूत्र की व्याख्या में **"संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः"** (किरातार्जुनीय ३।१४) इस किरातार्जुनीय काव्य के श्लोकांश को उद्धृत किया गया है। अतः काशिका की रचना 'भारवि' (४५० ई०) के पश्चात् ही की गई मालूम होती है। इस काशिका-ग्रन्थ का निर्माण-काल अनुमानतः यदि ४७५ ई० माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस समय से पूर्व ही भगवान् भर्तृहरि हुए थे।

(ख) शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री हरिस्वामी **"वाग्वा अनुष्टुब् वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति"** (श० प० ब्रा० १।३।२।१६) इस अंश का व्याख्यान करते हुए अपने अभीष्टार्थ की सम्पुष्टि में पहले मनुवचन को तदनन्तर तैत्तिरीयोपनिषत् के **"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः (सम्भूतः)"** इस वाक्य को प्रमाणरूप में उद्धृत करने के बाद कहते हैं—

"अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया इत्यत आहुः।"

इस प्रकार प्रदर्शित उद्धरण-क्रम से ज्ञात होता है कि—**"विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"** (वा० प० १।१) कारिका के रचयिता आचार्य भर्तृहरि हरिस्वामी के समय से अधिक पूर्वकालिक नहीं हो सकते। अतः अनुमानतः हम यह कह सकते हैं कि भर्तृहरि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री हरिस्वामी के निकट पूर्ववर्ती आचार्य थे।

(ग) प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य दिङ्नाग भोट भाषा में लिखे गए (संस्कृत भाषा में अनुपलब्ध) अपने त्रैकाल्यपरीक्षा नामक ग्रन्थ में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति को भोटभाषा में परिणत करके इस प्रकार लिखते हैं—

"अथ विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः,
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।

तदेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया,
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते।"

(डेक्कन कालेज सं०, 'सवृत्ति वाक्यपदीयम्', पृ० १३–१४, श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, पूना १९६६)।

अतः आचार्य दिङ्नाग से आचार्य भर्तृहरि अवश्य ही पूर्वभावी सिद्ध होते हैं। प्राचीन इतिहासवेत्ता आचार्य दिङ्नाग का समय ५०० ई० मानते हैं।

उक्त तीन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ४०० ई० से लेकर ४५० ई० पर्यन्त समयावधि में उत्पन्न हुए थे। अतः सामान्य रूप से यही समय आचार्य भर्तृहरि का निश्चित करना संगत प्रतीत होता है।[1]

कारिकाओं की संख्या

कारिकात्मक वाक्यपदीय ग्रन्थ में ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड एवं पदकाण्ड यह तीन भाग हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण में भर्तृहरि की ही नहीं, अपि तु उनके गुरु आचार्य श्री वसुरात की भी कुशलता परिलक्षित होती है। आचार्य भर्तृहरि की निर्माण-कुशलता का द्योतक यह ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय से बहिर्भूत स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। किन्तु आचार्य वसुरात के द्वारा प्रयोज्य यह व्याकरणागम प्राचीन व्याकरण की परम्परा का अनुयायी है। इसकी कारिकाओं का स्वरूप तथा उनकी संख्या इत्यादि का निर्णय अनेक हस्तलेखों के अनुसन्धानात्मक अनुशीलन पर आधारित है। ऐसा देखा जाता है कि अभ्यंकर–लिमये द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में १५६ कारिकाएँ हैं, परन्तु श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित वृत्ति-पद्धतियुक्त वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में १४७ ही कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसमें उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि १०८वीं कारिका से लेकर ११५वीं कारिका तक जो ८ कारिकाएँ अन्यत्र देखी जाती हैं वे ग्रन्थकार के द्वारा अपने मत की सम्पुष्टि के लिए किसी अज्ञात ग्रन्थ से प्रमाणरूप में उद्धृत की गई हैं। सम्पादक महोदय के इस मत का समर्थन स्वोपज्ञवृत्ति के उपोद्घात से भी होता है। इसी प्रकार कोई भी विवेचक हस्तलेखादि की सहायता से तीनों वृत्तियों का सम्यक् परिशीलन करके मूल कारिकाओं की संख्या तथा उनके स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ हो सकता है। और ऐसा निर्णय भर्तृहरि की कारिकाओं के वास्तविक तात्पर्यार्थ को समझने में विशेष उपयोगी होगा। परन्तु इस कार्य-सम्पादन के लिए अधिक से अधिक प्रयास अपेक्षित है।

---

१. भर्तृहरि के समय के सम्बन्ध में अभ्यंकर-लिमये द्वारा पूना से १९६५ ई० में संपादित वाक्यपदीय ग्रन्थ की भूमिका पृ० १२–१३ देखनी चाहिये।

अब हम पुण्यपत्तन (पूना) से प्रकाशित वाक्यपदीय में उल्लिखित कारिकाओं[1] की संख्या प्रस्तुत करते हैं। जो इस प्रकार है—

(क) प्रथम (ब्रह्म) काण्ड में १५६ कारिका।

(ख) द्वितीय (वाक्य) काण्ड में ४८७।

(ग) तृतीय (पद) काण्ड अथवा प्रकीर्णक काण्ड में—

(१)	जाति समुद्देश में	१०६ कारिका
(२)	द्रव्य समुद्देश में	१८
(३)	सम्बन्ध समुद्देश में	८८
(४)	भूयोद्रव्य समुद्देश में	३
(५)	गुण समुद्देश में	९
(६)	दिक् समुद्देश में	२८
(७)	साधन समुद्देश में	१६७
(८)	क्रिया समुद्देश में	६४
(९)	काल समुद्देश में	११४
(१०)	पुरुष समुद्देश में	९
(११)	संख्या समुद्देश में	३२
(१२)	उपग्रह समुद्देश में	२७
(१३)	लिङ्ग समुद्देश में	३१
(१४)	वृत्ति समुद्देश में	६२७
		१३२३

ऊपर के प्रदर्शित क्रम से तीनों काण्डों की समग्र कारिका-संख्या १९६६ होती है। पूना से प्रकाशित संस्करण में पद्य द्वारा तृतीय काण्ड के समुद्देशों का नाम इस प्रकार बताया गया है—

---

१. संख्यैषा श्री अभ्यङ्कर-आचार्य लिमये महाभागाभ्यां सम्पादित वाक्यपदीयानुसारिणी वर्तते। पूना विश्वविद्यालयात् १९६५ ई० वर्षे प्रकाशितमेतत् संस्करणं नानोपयोगिसामग्रीसंवलितं प्रामाणिकं पाण्डित्यमण्डितं चेति नास्त्यत्र सन्देहः। एतदर्थं सम्पादकमहाभागयोरुपकारततिं प्रदर्शयन्ति वाक्यपदीयरहस्यजिज्ञासवः सर्वे विद्वांसः।

"जातिर्द्रव्यं च सम्बन्धो भूयोद्रव्यं गुणस्तथा,
दिक् साधनं क्रिया कालः पुरुषो दशमः स्मृतः ।
संख्या चोपग्रहो लिङ्गं वृत्तिः पुनरिति स्मृता" ।

टीका-सम्पत्ति

प्रथम काण्ड की टीका

दार्शनिक विषय का वर्णन करने वाली काण्डत्रयात्मक इस वाक्यपदीय ग्रन्थ के मुख्य भाग की कारिकाएँ, जिनमें प्रमेय पदार्थों का तथा परिभाषिक शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग हुआ है, क्या बिना ही व्याख्यान के अपना गम्भीर रहस्य किसी विद्वान् को भी बताने में समर्थ होंगी ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक स्वर में ही देना होगा। यही कारण है कि कारिकाओं को इस दुर्ज्ञेयता को सरलतापूर्वक समझाने के लिए स्वयं आचार्य भर्तृहरि ने ही आदि के दो काण्डों पर स्वोपज्ञ वृत्ति बनाई है। उसमें प्रथम काण्ड (ब्रह्म या आगम काण्ड) को स्वोपज्ञवृत्ति का प्रकाशन श्री **चारुदेव** शास्त्री ने अपने महान् प्रयत्न से किया है। यह वृत्ति वाक्यपदीय के रहस्य को जानने की इच्छा करने वाले विद्वानों के लिए परमोपकारिणी है। इस स्वोपज्ञवृत्ति के ही आधार पर काश्मीरक हेलाराज ने प्रथम काण्ड की व्याख्या की थी। तृतीय काण्ड के 'प्रकाश' नामक व्याख्यान में वह स्वयं कहते हैं—

**"काण्डद्वयेयथावृत्ति सिद्धान्तार्थ-सतत्त्वतः,
प्रबन्धो विहतोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः ।
तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन् सप्रपञ्चे स्वरूपतः,
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते"** ।

यहाँ प्रथमश्लोकोक्त 'यथावृत्ति' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें वृत्तिशब्द स्वोपज्ञवृत्ति का ही द्योतक है। आदि के दो काण्डों पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति बनाई थी, जिसको आधार मानकर ही हेलाराज ने अपनी वृत्ति की रचना की। तृतीय काण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति का परिचय हेलाराज ने कहीं पर भी नहीं दिया है, इससे मेरा ऐसा विश्वास है कि तृतीय काण्ड पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति की रचना नहीं की थी। यदि ऐसा होता तो उसका उल्लेख निश्चय ही उक्त पद्य में किया जाता। ब्रह्मकाण्ड पर हेलाराज के द्वारा प्रणीत वृत्ति का नाम शब्द-प्रभा था; ऐसा हेलाराज के वचन से ही सिद्ध होता है। जैसे—

(क) [1]**क्रमाख्या कालशक्तिब्रह्मणो जन्मवत्सु पदार्थेषु जन्मादिक्रियाद्वारकमेव पौर्वापर्येणावभासोपगमविधायिनी, नापरो द्रव्यभूतः कालः ।**

---

१. डेक्कन कालेज पूना, वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, हेलाराज वृत्ति सहित, १९६३, पृ० ४४-४५ ।

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः,
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।

(वा० प० १।३) ।

इत्यत्र शब्दप्रभायां निर्णीतोऽयमर्थः ।

(ख) ज्ञानं त्वस्मद्विशिष्टानां तासु सर्वेन्द्रियं विदुः,
अभ्यासान्मणिरूप्यादि-विशेष्येष्विव तद्विदाम् ।

(वा० प० ३।१।४६) ।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए हेलाराज ने स्वरचित शब्दप्रभा का नामोल्लेख किया है । उन्होंने कहा है—

"तदेवागमप्रामाण्यमाश्रित्य सर्वज्ञसिद्धिरत्र सूचिता पूर्वार्धेन । विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम् ।"

दुर्भाग्यवश यह शब्दप्रभा भी आज उपलब्ध नहीं है । यदि कहीं पर इसका हस्तलेख मिल जाय, तो वाक्यपदीय का गूढार्थ समझने में विद्वानों को सरलता हो जाय । और यह विषय उनके लिए अत्यन्त हर्षकारक हो ।

ब्रह्मकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रणीत सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञवृत्ति के कर्तृत्व-विषय में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता[1] । इस वृत्ति में कारिकार्थ का यद्यपि भली भाँति विवेचन किया गया है, तथापि शास्त्रीय शब्दों का अधिक प्रयोग होने से स्पष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती । अतः विद्वानों को वृत्तिकार का अभिप्राय भी शीघ्र समझ में नहीं आता है । इसकी पूर्ति करने के लिए ही श्री वृषभदेव[2] ने 'पद्धति' नामक व्याख्या की रचना की है जिसमें न केवल कारिकाओं के ही, अपि तु स्वोपज्ञवृत्ति के भी तात्पयार्थ को विशद रूप में वर्णित किया गया है । इससे जिज्ञासुओं को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त होता है । वस्तुतः स्वोपज्ञवृत्ति का तात्पर्यार्थ इस 'पद्धति' व्याख्या के

---

१. श्रीमद्भिः सुब्रह्मण्य अय्यर महाभागैर्विषयोऽयं दृढतरप्रमाणोपन्यासेन नूनं समर्थितः । तन्मतावगतये द्रष्टव्यो ब्रह्मकाण्डस्याङ्ग्लभाषानुवादे भूमिकाभागः, पृ० १८—३८ । प्रकाशक : डेक्कन कालेज पूना, १९६५ ।

२. वृत्तिपद्धति-सहितं वाक्यपदीयम्—प्रथमकाण्डम्, सं० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदयः । प्रकाशक : डेक्कन कालेज पूना, १९६६ ।

अनुशीलन से ही स्पष्ट जाना जा सकता है। यद्यपि विशुद्ध हस्तलेखों के अभाव में किन्हीं स्थलों पर इस व्याख्या में भी अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता है, जिससे विद्वानों को क्लेश होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अर्थज्ञान की अभिव्यञ्जिका होने से यह व्याख्या निःसन्देह परम उपकारिणी ही मानी जा सकती है।

द्वितीय काण्ड की टीका

इस वाक्यकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा रचित स्वोपज्ञवृत्ति पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं होती है। श्री चारुदेव शास्त्री ने इस वृत्ति का जितना अंश प्रकाशित किया है, उतने को ही हम परम गौरव का विषय मानते हैं। केरल देश में मूलतः मलयालम लिपि में लिखित तदनु देवनागराक्षरों में परिणत की गई जो प्रतिलिपि मद्रास के हस्तलेख-पुस्तकालय में सुरक्षित है वह तो अत्यन्त अशुद्ध तथा बीच-बीच में त्रुटित होने से प्रकाशन के सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः उससे विद्वानों का कोई उपकार नहीं हो सकता। सम्प्रति इस काण्ड पर केवल पुण्यराज-कृत एक ही टीका प्राप्त होती है जो कि स्वोपज्ञवृत्ति के सारांश को अभिव्यक्त करने में समर्थ होने के कारण स्वोपज्ञवृत्ति के ही आधार पर रचित कही जा सकती है। द्वितीय काण्ड पर की गई टीका निश्चित ही प्रथमकाण्डीय टीका की सत्ता को सिद्ध करती है। इससे यह सम्भावना की जा सकती है कि पुण्यराज ने प्रथमकाण्ड पर भी अपनी कोई टीका अवश्य ही बनाई थी। सामान्यतः हमारा विश्वास है कि पुण्यराज बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

तृतीय काण्ड की टीका

(क) इस प्रकीर्णात्मक तृतीयकाण्ड पर हेलाराज कृत 'प्रकाश' नामक सम्पूर्ण व्याख्या कारिकाओं के तात्पर्य को प्रकाशित करती है। यह व्याख्या कुछ ही स्थलों पर त्रुटित हुई है।

तन्त्रालोक से ऐसा ज्ञात होता है कि हेलाराज परम-माहेश्वर श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। आचार्य अभिनवगुप्त का जन्म-समय उन्हीं के द्वारा कुछ ग्रन्थों के अन्त में ग्रन्थ निर्माण-काल का निर्देश किए जाने से स्पष्ट जाना जा सकता है। उन्होंने क्रम-स्तोत्र की रचना लौकिक वर्ष ६६ (९९० ई०) में, भैरवस्तव की लौकिक वर्ष ६८ में, अर्थात् क्रमस्तोत्र की रचना से दो वर्ष बाद (= ९९२ ई०) तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी नामक टीका की रचना लौकिक वर्ष ९० (= १०१४ ई०) में की थी। अतः इनका जन्म समय साधारणतः ९५० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इस प्रकार अभिनव गुप्त के गुरु श्री हेलाराज भी ईशवीय दशम शताब्दी के प्रारम्भ में हुए। ऐसा निश्चय होता है। हम यह कह सकते हैं कि आचार्य हेलाराज का जन्म ९२५ ई० से लेकर १००० पर्यन्त समय में हुआ था और इसी समय के अन्तर्गत इन्होंने वाक्यपदीय की व्याख्या का भी प्रणयन किया था।

(ख) हेलाराज ने अपने इतर तीन ग्रन्थों का उल्लेख प्रकाश में किया है— क्रियाविवेक (वा० प० तृतीय काण्ड पृष्ठ ६०), अद्वयसिद्धि (वही, पृष्ठ० ११७), तथा वार्तिकोन्मेष (वही)।

(ग) सम्भवतः ये वही हेलाराज हैं जिन्होंने काश्मीर के राजाओं के विषय में द्वादश सहस्र श्लोकात्मक ग्रन्थ का निर्माण किया था। कल्हण का यही कथन है (राजतरंगिणी १।१७-१८)।

(घ) प्रकाश के अन्त में हेलाराज ने अपना परिचय दिया है। प्रत्येक समुद्देश की टीका के अन्त में वे अपने को 'भूतिराज तनय' लिखते हैं। उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज भी भूतिराज के पुत्र थे। अतः सम्भव है हेलाराज तथा इन्दुराज भाई हों।

(ङ) पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने लिखा है कि पुण्यराज तथा हेलाराज दोनों ही भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य थे। प्रमाणों के अभाव में यह कथन नितान्त निराधार है। हेलाराज के 'प्रकाश' का अनुशीलन बतलाता है कि उनसे पहिले भी वाक्यपदीय के टीकाकार हो गये थे जिन्हें उन्होंने पूर्वे, केचित्, अन्ये आदि शब्दों से संकेत किया है। इतना ही नहीं, हेलाराज के समय में पाठ भेद भी उत्पन्न हो गये थे। जाति-सुमुद्देश के श्लोक २४, ५० तथा ५७ वीं टीका में उन्होंने इस पाठभेद का विवरण दिया है। क्या भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य होने पर अन्यकर्तृक पाठभेद की कथमपि सम्भावना प्रतीत होती है? नहीं, कभी नहीं। भर्तृहरि तथा हेलाराज के बीच में अनेक शताब्दियों का अन्तर प्रतीत होता है।

(च) प्रकाश का अन्तिम श्लोक बतलाता है कि ये काश्मीर के राजा मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण वंश में उत्पन्न हुये थे, तथा इनके पिता का नाम भूतिराज था[१]।

---

१. मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमगमत् कश्मीर-देशे नृपः
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोत् श्री भूतिराजात्मजः॥

वाक्यपदीय के संस्करण—

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति के साथ सं० चारुदेव शास्त्री (प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, १९३४)।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति तथा वृषभदेव की पद्धति। सं० सुब्रह्मण्यम एय्यर डेक्कन कालेज, पूना, १९६६।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति का अंग्रेजी अनुवाद। संम्पादक तथा प्रकाशक पूर्ववत्, १९६७।

वाक्यपदीय (सम्पूर्ण, मूलमात्र) सम्पादक प्रो० काशीनाथ शास्त्री अभ्यङ्कर तथा आचार्य विष्णु प्रभाकर लिमये। प्र० पूना विश्वविद्यालय, पूना, १९६५ ई०।

लक्ष्मण तथा हेलाराज के बीच कितनी पीढ़िया बीती थीं—इसका स्पष्ट निर्देश न होने से इनके समय का पता नहीं चलता। इतना ही ज्ञात होता है कि ये काश्मीरी थे। पुण्यराज तथा हेलाराज की व्याख्या के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्ययुग में काश्मीर व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रधान केन्द्र था—भाष्य तथा वाक्यपदीय का अनुशीलन विशेष रूप से यहाँ सम्पन्न किया गया था; इस तथ्य के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इन दोनों वैयाकरणों ने भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका का विशद अध्ययन किया था और उसी को आधार मानकर अपनी व्याख्यायें निबद्ध की थीं।

'प्रकाश' के अध्ययन से हेलाराज की अलौकिक वैदुषी, निखिलशास्त्र-पारंगामिता तथा प्रकृष्ट व्युत्पत्ति का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। भर्तृहरि की कारिकायें सूत्रों के समान गम्भीरार्थ से मण्डित हैं। उस अर्थ का प्रकाशन कर 'प्रकाश' अपना नाम सार्थक कर रहा है। भर्तृहरि ने संक्षेप में अपनी कारिकाओं में विपुल तथ्यों पर अपना पाण्डित्य भर दिया है। उसका प्रकाशन हेलाराज की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। जाति-समुद्देश के ४६ श्लोक की ईश्वर तथा शास्त्र के परस्पर सम्बन्ध तथा नित्यत्व आदि विषयों की प्रकाशिका व्याख्या उदाहरण के तौर पर द्रष्टव्य है।

प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड)

वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में शब्द को ही ब्रह्म बताया गया है। अतः प्रथम काण्ड की प्रसिद्धि ब्रह्मकाण्ड के रूप में है। 'आगमसमुच्चय' के रूप में भी इसका स्मरण किया जाता है—"आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डम्[1]"। वस्तुतः यह काण्ड उत्तरवर्ती काण्डद्वय की भूमिका के रूप में निबद्ध है।

ब्रह्म शब्दतत्त्वात्मक है तथा जगत् की प्रकृति शब्द है। यद्यपि शब्द ब्रह्म एक है तथापि शक्तियों की भिन्नता के कारण उसमें नानात्व व्यवहार होता है। शब्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय 'वेद' है। वेद की महिमा बहुत अधिक है। वह एक है किन्तु शाखाभेद के कारण वह भी अनेक मार्गों वाला है। उससे स्मृतियों की रचना की गयी है। विभिन्न दर्शनों के मूल में वेद संनिहित है। समस्त विद्याभेदों के मूल में भी वेद विद्यमान है। वेद का प्रधान अङ्ग व्याकरण है—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ १, ११।

---

१. स्वोपज्ञटीका की पुष्पिका।

पदार्थों के निबन्धन शब्द ही हैं। शब्द के आधार पर पदार्थों का बोध होता है। और शब्दों का बोध व्याकरण के बिना नहीं होता। अतः व्याकरण परब्रह्म-प्राप्ति का साधन है। शब्द और अर्थों का सम्बन्ध नित्य है। शब्द अनादि हैं। व्याकरण शब्द-साधुत्व-ज्ञान में उपाय है। धर्म-निर्णय में तर्क की अपेक्षा आगम प्रबल होता है। आर्ष ज्ञान आगमपूर्वक होता है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. उपादान और निमित्त। प्रयोक्ता की बुद्धि में स्थित शब्द श्रोता की बुद्धि में स्थित प्रत्यायक शब्द का निमित्त होता है। नादध्वनि स्फोट का व्यञ्जक होती है। ध्वनि क्रमशः उत्पन्न होती है। उस क्रम रूप से तब एक होता हुआ भी स्फोट भेदवान्-सा प्रतीत होने लगता है। वह स्फोट स्वयं क्रमरहित है। उसमें पूर्वत्व और अपरत्व कुछ नहीं है। नाद = ध्वनि के क्रम से उत्पन्न होने का कारण स्थान, करण, अभिघात आदि हैं जो क्रमपूर्वक होते हैं। इसलिए उन स्थान-करण आदि के क्रम से जायमान नाद भी क्रमवान् हो जाता है।

पद-ध्वनि से व्यज्यमान स्फोट पद के रूप में और वाक्य ध्वनि से व्यज्यमान वाक्य ध्वनि के रूप में मान लिया जाता है। ऐसा होने पर भी वस्तुतः स्फोट में न तो पदत्व है और न वाक्यत्व ही। पदध्वनि की अवयव भूत वर्णध्वनियाँ भी अभाग पदस्फोट के भागभूत की भाँति दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि स्फोट के एक होने पर भी वृत्ति के भेद से औपाधिक भेद हो जाता है।

ध्वनियाँ भी प्राकृत तथा वैकृत दो होती हैं। शब्द की अभिव्यक्ति के समय नीर-क्षीरन्यायेन ध्वनि और स्फोट की उपलब्धि पृथक् रूपेण न हो सके उस ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। उस स्फोट को उस ध्वनि की प्रकृति = स्वभाव जैसा मान लेने से उसे प्राकृत ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत ध्वनि के अनन्तर होने वाली ध्वनि स्थितिभेद की हेतु होने के कारण विलक्षण ही उपलब्ध होती है। अतः उस ध्वनि से स्फोट में विकार जैसा होने लगता है। इसलिए उसे वैकृत ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत और वैकृत ध्वनि के विषय में संग्रहकार व्याडि का श्लोक इस प्रकार है—

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

विश्वजनिका शक्ति शब्दाश्रित हो है। समस्त अर्थ शब्द के आश्रित हैं। लोक में समस्त इतिकर्तव्यता शब्दाधीन है। समस्त ज्ञान शब्द में अनुविद्ध है। संसारियों का चैतन्य वाग्रूपता ही है। जाग्रदवस्था के समान स्वप्न में भी वाणी ही व्यवहार का साधन है। शब्द का संस्कारक होने से धर्मजनन द्वारा व्याकरण ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। धर्म की उत्पत्ति में साधु शब्दों का ही सामर्थ्य है। धर्म साधन के विषय में शुष्क

तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। व्याकरण शब्द के साधुत्व और असाधुत्व का नियामक है। अतः धर्मावबोध में प्रमाण है। व्याकरणस्मृति वैखरी आदि तीन वाणियों का ज्ञापक है।

अपभ्रंश शब्दों का बोध साधु शब्द स्मरण पूर्वक होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साक्षात् रूपेण वाचक नहीं हैं। उन-उन अर्थों में परम्परया अपभ्रंशों की लोक प्रसिद्धि के कारण स्त्री शूद्र आदि को अपभ्रंश से ही अर्थ-बोध हो जाता है। यह सारांश वाक्यपदीय के प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड) का है।

द्वितीय काण्ड (वाक्यकाण्ड)

अब द्वितीय काण्ड के सम्बन्ध में लिखा जाता है। वाक्य स्वरूप के विस्तारपूर्वक प्रतिपादन के लिए द्वितीय काण्ड का प्रारम्भ किया गया है। अतः विद्वान् इस काण्ड को **'वाक्यकाण्ड'** कहते हैं। आचार्यों के मतभेद को लेकर वाक्य-स्वरूप आठ प्रकार का माना जाता है। वे आठ पक्षभेद इस प्रकार हैं—(१) आख्यात शब्द वाक्य है; (२) पदसमूह वाक्य है, (३) संघातवर्तिनी जाति वाक्य है; (४) अनवयव एक शब्द वाक्य है; (५) क्रम वाक्य है; (६) बुद्धि की अनुसंहृति वाक्य है; (७) आद्य पद ही वाक्य है; और (८)—सभी साकाङ्क्ष पद वाक्य है। ४८५ श्लोकों के इस द्वितीय काण्ड में वाक्य-स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

तृतीय काण्ड (पदकाण्ड)

तृतीय काण्ड को विद्वानों ने प्रकीर्णकाण्ड के नाम से अभिहित किया है क्योंकि इसके अन्तर्गत १४ समुद्देशों का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं—

(१) जातिसमुद्देश; (२) द्रव्यसमुद्देश; (३) सम्बन्धसमुद्देश; (४ भूयोद्रव्यसमुद्देश; (५) गुणसमुद्देश; (६) दिक्समुद्देश; (७) साधनसमुद्देश; (८) क्रियासमुद्देश; (९) कालसमुद्देश; (१०) पुरुषसमुद्देश; (११) संख्यासमुद्देश; (१२) उपग्रहसमुद्देश; (१३) लिङ्गसमुद्देश; और (१४) वृत्तिसमुद्देश। व्याकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का वाक्यपदीय महार्णव है। थोड़े में वर्णन असम्भव है।

महाभाष्य का पाठोद्धार

महाभाष्य के प्रथम पाठोद्धार की घटना भर्तृहरि से पूर्व की घटना है, क्योंकि इन्होंने अपने वाक्यपदीय (२।४८७—४८९) में चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार का उल्लेख किया है[1] और यह घटना राजतरङ्गिणी के द्वारा प्रमाणित तथा

---

१. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्य बीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
(वा० प० २।४८९)।

पुष्ट की गई है[1]। महाभाष्य के पुनः विलुप्त हो जाने पर द्वितीय बार उद्धार की घटना अष्टम शती में काश्मीर के राजा जयापीड़ के द्वारा सम्पन्न की गई भर्तृहरि से लगभग तीन सौ वर्ष बाद[2]। राजा जयापीड़ ने क्षीर नामक शब्द-विद्योपाध्याय के द्वारा यह कार्य सिद्ध किया। क्षीर के व्यक्तित्व के विषय में विद्वानों को सन्देह है। विन्टर नित्स इस क्षीर को कोषकार अमर के टीकाकार क्षीरस्वामी से भिन्न नहीं मानते, परन्तु काल की दृष्टि से यह तादात्म्य समर्थित नहीं होता। अपनी अमर टीका में भोजराज को उद्धृत करने वाले क्षीरस्वामी ११ शती ई० से कथमपि पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। उधर जयापीड़ के समसामयिक क्षीर उपाध्याय नवमशती से पश्चाद्वर्ती नहीं हो सकते। फलतः महाभाष्य के द्वितीय उद्धारक क्षीर उपाध्याय क्षीरस्वामी से नितान्त भिन्न हैं। इस युग के महाभाष्य के अध्ययन की दुर्दशा का संकेत नैषधकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष ने इस प्रकार किया है—

फणिभाषितभाष्य-फक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

महाभाष्य के विषम पंक्तियों का रहस्य जब नहीं खुलता था, तब पण्डितगण उनके चारों ओर गोलाकार कुण्डली लगा दिया करते थे। ऐसी कुण्डलना शताब्दियों तक बनी रहीं और इनका उद्धार तभी हुआ जब आचार्य कैयट ने महाभाष्य पर प्रदीप का निर्माण कर इनकी दुर्बोधता को चुनौती देकर ध्वस्त कर दिया। काशी की विद्वन्मण्डली की यही मान्यता है।

कैयट

इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि के बाद कैयट के समान महभाणय का मर्मवेत्ता दूसरा वैयाकरण नहीं हुआ। कैयट (कय्यट) काश्मीर के निवासी थे और काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट के अग्रज होने की किम्बदन्ती काल-वैभिन्य के हेतु स्वतः असंगत है। प्रदीप की पुष्पिका से पता चलता है कि इनके पिता का नाम उपाध्याय जैयट था। कैयट ने अपने समय का संकेत नहीं किया है, परन्तु पदमञ्जरी तथा प्रदीप की तुलना करने से कय्यट हरदत्त से पूर्वकालीन सिद्ध होते हैं। पदमञ्जरी

---

१. चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम् ।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥
(रा० त० १।१७६)।

२. देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः ।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥
क्षीराभिधानाच्छब्द-विद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः ।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः ॥
(रा० त० ४।४८८, ४८९)

में प्रदीप के मत का उद्धरण तथा खण्डन अनेकत्र है। इस विषय में संशय का स्थान नहीं रह जाता, जब पदमञ्जरी 'भाष्यं व्याचक्षाणा' कह कर भाष्य की व्याख्या की ओर स्पष्ट संकेत करती है[1]। इस पौर्वापर्य से इनके समय का भी पता चलता है। सर्वानन्द ने अपने अमर-व्याख्यान 'टीका सर्वस्व' की रचना १२१५ सं० (=११५८ ई०) में की थी। इसमें उल्लिखित है मैत्रेयरक्षित का धातुप्रदीप। मैत्रेय ने धातु प्रदीप में धर्मकीर्ति और उनके रूपावतार का निर्देश किया है। धर्मकीर्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करते हैं और हरदत्त कय्यट का स्पष्ट निर्देश करते हैं। प्रति ग्रन्थकार पच्चीस वर्ष का काल व्यवधान मानने पर कय्यट का समय ईस्वी ११ शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है[2]—(१००० ई०—१०५० ई० लगभग)।

महाभाष्य प्रदीप नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है और बिना इसकी सहायता के महाभाष्य का मर्म समझना नितान्त कठिन है। काश्मीर महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन का गढ़ था। फलतः काश्मीरी वैयाकरणों की पूरी वैदुषी इस प्रदीप के माध्यम से हमारे सामने प्रतिफलित होती है। इसकी गम्भीरता का अनुमान इसकी व्याख्या-सम्पत्ति से भली-भाँति किया जा सकता है। कैयट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी, उन सबका सार-संकलन कर इन्होंने अपना यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

प्रदीप के ऊपर भी अनेक व्याख्यायें प्राप्त हैं, परन्तु वे अधिकतर अप्रकाशित ही हैं। नागेशभट्ट की टीका, जिसका नाम 'उद्योत' या विवरण है, नितान्त प्रख्यात है। नागेशभट्ट (या नागोजी भट्ट) काशीवासी प्रख्यात वैयाकरण थे समय था १८वीं शती का पूर्वार्ध। उद्योत सचमुच ही प्रदीप के गूढ़ रहस्यों को उद्योतित करने में समर्थ है। इस उद्योत के ऊपर भी नागेश के ही प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने **छाया** नाम्नी अपनी व्याख्या लिखी—जो नवाह्निक तक ही उपलब्ध होती है[3]। नागेश से पूर्ववर्ती वैयाकरण अन्नंभट्ट ने (१६०० ई०—१६५० ई०) 'प्रदीपोद्योतन' नामक व्याख्या प्रदीप पर निबद्ध की है जिसके प्रथम अध्याय का प्रथम पाद मुद्रित

---

१. अन्ये तु हे त्रप्विति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीति भाष्यं व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति। पदमञ्जरी ७।१।७२। यह मत महाभाष्य प्रदीप में विद्यमान है। द्रष्टव्य इसी सूत्र का भाष्य प्रदीप। प्रदीप का कथन है—हे त्रपु हे त्रपो इति। हे त्रपु इति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीत्यर्थः (७।१।७२)।

२. द्रष्टव्य संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६५—३६८।

३. पं० शिवदत्त शर्मा के द्वारा सम्पादित तथा निर्णय सागर द्वारा मुद्रित नवाह्निक सं० में यह टीका प्रदीप तथा उद्योत के साथ प्रकाशित है।

होकर प्रकाशित हैं। अन्नंभट्ट तैलंगदेश के प्रौढ़ वैयाकरण थे। नागेश की टीका के साथ इस व्याख्या के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों ग्रन्थकारों के दृष्टिकोण का पार्थक्य भली-भाँति समझा जा सकता है।

अष्टाध्यायी की वृत्तियाँ

अष्टाध्यायी के ऊपर प्राचीन काल में अनेक वृत्तियों की सत्ता का पता वैयाकरण ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु काशिका वृत्ति ही ऐसी सर्वमान्य व्याख्या है जिसके सहारे हम पाणिनि का मर्म भलीभाँति समझने में कृतकार्य होते हैं। प्राचीन तथा आज लुप्त-प्राय वृत्तियों के अर्थ का परिचय हमें इसी वृत्ति से होता है। यहाँ अनेक प्राचीन उदाहरण दिये गये हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त उल्लेखनीय है। इसके रचयिता दो महनीय वैयाकरण हैं—जयादित्य तथा वामन। इन्होंने प्राचीन सूत्र-वृत्तियों के आधार पर इसका निर्माण किया। जयादित्य ने प्रथम पाँच अध्यायों की तथा वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों की व्याख्या लिखकर इसे अपने सम्मिलित प्रयास का परिणत फल बनाया। न्यास तथा पदमञ्जरी के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जयादित्य तथा वामन ने पृथक रूप से समग्र ग्रन्थ पर भी पूर्ण वृत्तियाँ लिखी थीं जिनमें कहीं परस्पर विरोध भी था। सम्भवतः ये पूर्ण वृत्तियाँ उनके युग में उपलब्ध भी थीं, परन्तु कालान्तर में दुर्लभ हो चलीं। आज उपलब्ध काशिका वृत्ति इस वैयाकरण युगल का सम्मिलित प्रयास है।

काल का निर्णय बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है—

(१) भाषावृत्ति के अनुसार भागवृत्ति काशिका का खण्डन करती है। फलतः इसे प्राचीनतर होना चाहिए भागवृत्ति से। सीरदेव की 'परिभाषा वृत्ति' के अनुसार भागवृत्ति ने भारवि तथा माघ के द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को असाधु माना है। फलतः काशिका वृत्ति माघ से प्राचीनतर है। भागवृत्ति का समय ७०१ सं० तथा ७०५ सं० के मध्य में कहीं पड़ता है (६४४ ई०—६४८ ई०)। भागवृत्ति से प्राचीनतर होनेवाली काशिकावृत्ति सप्तमी शती के मध्य-काल से अर्वाचीन नहीं हो सकती। यह हुआ बहिरंग प्रमाण।

(२) 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) सूत्र की व्याख्या में काशिका 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' पद्यांश को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करती है। न्यास के अनुसार यह किरातार्जुनीय महाकाव्य ३।१४ का एकदेश है। फलतः भारवि के अनन्तर ही जयादित्य का समय है। दक्षिण देश के राजा दुर्विनीत ने (राज्यकाल ५३९ वि०—५६९ वि० अर्थात् ४८२ ई०–५१२ ई०) ने किरात के १५वें सर्ग की व्याख्या लिखी है। फलतः भारवि का समय पञ्चम शती ई० का मध्यकाल (५४० ई०) है।

अतः काशिका का रचना-काल ४५० ई०–६०० ई० के बीच में कहीं पड़ता है—पञ्चम शती का अन्त तथा षष्ठ शती का आरम्भ मानना उपयुक्त होगा (५०० ई०–५२५ ई०)।

वामन ने काशिकावृत्ति के अन्त में इसकी विशिष्टता का प्रतिपादन स्वयं किया है जिसका निर्देश न्यासकार ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया है—

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्न-रूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम[1] ॥

इष्टियों के उपसंख्यान, शुद्ध गणों का विवरण, सूत्र के गूढ़ अर्थों की विवृत्ति तथा व्युत्पन्न रूपों की सिद्धि—इन चारों तथ्यों से समन्वित होना इस काशिकावृत्ति का वैशिष्ट्य है। वास्तव में ये विशिष्टतायें यहाँ पूर्णतया प्रदर्शित की गई हैं।

काशिकावृत्ति ही पाणिनीय सूत्रों के यथाविधि अर्थ जानने के लिए उपलब्ध प्राचीनतम वृत्ति है। उपलब्ध वृत्तियों में यह प्राचीनतम है, परन्तु प्रथम वृत्ति नहीं है। इससे पूर्व भी अनेक वृत्तियों का निर्माण हो चुका था जिनके अस्तित्व का तथा विशिष्ट मत का निर्देश प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों में प्राप्त है। पदमञ्जरी में वृत्त्यन्तरों का वैशिष्ट्य गणपाठ का अभाव बतलाया गया है, परन्तु काशिका में गणपाठ का आवश्यक सूत्रों में निर्देश निश्चित रूपेण है। काशिकावृत्ति के अध्ययन से हम सूत्रों का विधिवत् अर्थ जानने में समर्थ होते हैं; इतना ही नहीं, काशिका प्राचीन वृत्तियों के व्याख्यानों का भी निर्देश करती है जिसकी सहायता से हम सूत्रों के अर्थ केविषय में प्राचीन मत का संकेत स्पष्ट पा सकते हैं। प्राचीन वृत्तियों में विशिष्ट तथा विलक्षण उदाहरण भी दिये गए थे; इसका भी पता हमें काशिका भली-भाँति देती है। यथा 'अव्ययं विभक्तिसमीप' इत्यादि सूत्र (२।१।६) के व्याख्यान के अवसर पर सादृश्य अर्थ में निष्पन्न अव्ययीभाव समास का उदाहरण 'सदृशः किख्या सकिखि' प्राचीन वृत्ति के आधार पर ही है। 'किखी' शब्द का अर्थ है छोटा परिमाणवाला शृगाल और इसी अर्थ में बंगला में यह शब्द 'खेंके सियार' के रूप में आज भी उपलब्ध है। इस शब्द के यथाविधि अर्थ का परिचय पदमञ्जरी से ही चलता है[2]। आजकल अप्रचलित

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—इस कारिका की पदमञ्जरी। न्यास के अनुसार यह ग्रन्थ के अन्त की कारिका है, परन्तु पदमंजरी की दृष्टि में यह काशिका के प्रारम्भ की द्वितीय कारिका है और वहीं इसकी व्याख्या भी लिखी है।

२. अपचितपरिमाणः शृगालः किखी। अप्रसिद्धोदाहरणम् चिरन्तनप्रयोगात्।
(२।१।६ की पदमंजरी)।

तथा अज्ञात होने से इसके स्थान पर 'सहशः सख्या ससखि' पाठ प्रचलित हो गया है।

क्षेपे (२।१।४७) सूत्र का अर्थ है कि निन्दा गम्यमान होने पर सप्तम्यन्त का क्त प्रत्ययान्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है। इसका उदाहरण है—अवतप्ते नकुलस्थितं तवैतत्। इसका अर्थ है—यह तुम्हारी चपलता है। एक कार्य में न टिक कर अस्त-व्यस्त चित्त होने वाले व्यक्ति के लिए इस वाक्य का प्रयोग होता है। यह प्राचीनों का प्रयोग है[1]। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र के अनुसार यहाँ विभक्ति का लुक् नहीं होता। फलतः यह अलुक् तत्पुरुष है।

भाग-वृत्ति

भागवृत्ति काशिका के पश्चात् निर्मित वृत्तियों में अपना महनीय स्थान रखती है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लौकिक तथा वैदिक सूत्रों में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं किया। लौकिक प्रयोगों का वैशिष्ट्य दिखाते समय उन्होंने वैदिक प्रयोगों की सिद्धि के लिए सूत्रों का निर्माण किया। प्राचीन वृत्तियाँ तथा काशिका इस नियम का अक्षरशः पालन करती हैं, परन्तु भागवृत्ति लौकिक तथा वैदिक सूत्रों का विभाजन कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करती है[2]। फलतः भागशः वृत्ति होने के कारण उसका 'भागवृत्ति' नामकरण सर्वथा सार्थक है। भागवृत्ति की रचना के पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने भागवृत्ति के इस वैलक्षण्य से काशिकावृत्ति को पृथक् करने के लिए उसके लिए 'एकवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। 'एकवृत्ति' का तात्पर्य हुआ एक तन्त्र से या एक क्रम से उभयविध सूत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत करने वाली वृत्ति। 'एकवृत्ति' नाम का प्रयोग पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में किया है (सूत्र १।१।१६) और उनके टीकाकार सृष्टिधर की

---

१. इस प्रयोग का यथाविधि अर्थ हरदत्त ने पदमंजरी में दिया है—चिरन्तनप्रयोगः। तस्यार्थमाह—चापलमेतत् तव। यथा अवतप्ते प्रदेशे नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याणि आरभ्य यश्चापलेन न चिरं तिष्ठति; स एवमुच्यते इत्यर्थः। द्रष्टव्य—२।१।४७ की पदमंजरी। पदमंजरी की यह व्याख्या न्यास के ही अनुसार है। द्रष्टव्य—इस सूत्र का न्यास।

२. अतएव भाषावृत्तौ भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च क्वसुकानजे विधानलक्षणं न लक्षितवान् इति गोयीचन्द्रः। अथवैतन्न वक्तव्यं छान्दसत्वात्। अतएव भागवृत्तौ भाषाभागे न। —संक्षिप्तसार टीका।

व्याख्या से 'काशिका' के लिए 'एकवृत्ति' नामकरण का पूर्वोक्त वैशिष्ट्य भली-भाँति गम्य होता है[1]।

भागवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने बड़े परिश्रम से व्याकरण ग्रन्थों में उद्धृत उसके अंशों को एकत्र कर 'भागवृत्ति-संकलन' नाम से इसका सम्पादन-प्रकाशन किया है[2]। उन्होंने काशिका तथा भागवृत्ति के वैशिष्ट्य का निर्देश करते लिखा है कि भागवृत्ति जहाँ महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानकर चलती है, वहाँ काशिका सम्भवतः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर, महाभाष्य का स्थान-स्थान पर खण्डन करती है। भट्टोजिदीक्षित तथा उनके सम्प्रदाय वाले वैयाकरण इसीलिए काशिका के मत में उतनी आस्था नहीं रखते और उसे खण्डन करने से पराङ्मुख नहीं होते। भागवृत्ति के प्रति उनकी दृष्टि आस्थाबहुल है। भट्टोजि ने अपने शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त-कौमुदी दोनों ग्रन्थों में भागवृत्ति से अनेक उद्धरण दिये हैं।

भागवृत्ति के देश-काल—भागवृत्ति के कर्ता का परिचय यथार्थतः नहीं मिलता। 'कातन्त्र परिशिष्ट' के रचयिता श्रीपतिदत्त (समय लगभग १२ वीं शती) भागवृत्ति को 'विमलमति' नामक किसी लेखक की रचना बतलाते हैं[3], उधर उनके अवान्तर-कालीन सृष्टिधर (१५ शती) अपनी 'भाषावृत्त्यर्थ-विवृति' में भागवृत्त के रचयिता का नाम भर्तृहरि मानते हैं जिन्होंने श्रीधरसेन नरेन्द्र के आदेश से इसका निर्माण किया[4]। इस प्रकार का मतद्वैविध्य उपलब्ध होता है। भट्टिकाव्य के निर्माता महाकवि भट्टि भी भर्तृहरि के नाम से विख्यात हैं जिन्होंने वलभी के श्रीधरसेन नरेद्र के आदेश से अपने प्रसिद्ध शास्त्र-काव्य का प्रणयन किया था। ऐसी दशा में क्या भट्टि काव्य के वैयाकरण रचयिता भर्तृहरि या भट्टि ही भागवृत्ति के भी प्रणेता हैं ? नहीं भागवृत्ति भट्टि काव्य के रचयिता भर्तृहरि या भट्टि कवि की रचना कथमपि नहीं हो सकती, क्योंकि भागवृत्ति में भट्टि काव्य के अनेक प्रयोगों के साधुत्व-असाधुत्व की मीमांसा की गई है। 'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि' (भट्टि ६।१३८), 'उपायंस्त महास्त्राणि'

---

१. अनार्ष इत्येव वृत्तावप्युक्तम्। भाषावृत्ति १।१।१६ एकवृत्तौ साधारणवृत्तौ वैदिके लौकिके च विवरणे इत्यर्थः। एकवृत्ताविति काशिकायां वृत्तौ इत्यर्थः। —सृष्टिधरस्य व्याख्याने।

२. प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०२१।

३. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाऽप्येवं निपातितः। (सन्धिसूत्र १४२)।

४. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता। (८।१।६७ सूत्र की विवृति)।

(भट्टि १५।२१), 'शस्त्राण्युपायंसत जित्वराणि' (भट्टि १।१६)—भट्टि के इन विशिष्ट प्रयोगों पर भागवृत्ति ने अपना विचार प्रकट किया है ।

भागवृत्ति के समय का निरूपण उसमें निर्दिष्ट ग्रन्थों के काल से किया जा सकता है । भारवि के अनेक प्रयोगों को सिद्ध करने का यहाँ प्रयास है । यथा 'आजघ्ने विषम-विलोचनस्य वक्षः (किरात १७।६३) में 'आजघ्ने' की सिद्धि के विषय में भागवृत्ति बहुत युक्तियाँ प्रस्तुतः करती है । इसी प्रकार माघ के 'पुरातनी नदी' (१२।६०) प्रयोग को भागवृत्ति प्रामादिक मानती है । फलतः भागवृत्ति भारवि, भट्टि तथा माघ (सप्तम शती का उत्तरार्ध ६५० ई०–७०० ई०) से अवान्तर कालीन है । जो विद्वान् भागवृत्ति की रचना ७०० वि० सं० अर्थात् ६४४ ईस्वी में मानते हैं[1], उनका मत माघ के उद्धरण भागवृत्ति में मिलने के कारण स्वतः ध्वस्त हो जाता है । भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में कैयट ही प्राचीनतम है और कैयट का समय ११ शती का पूर्वार्ध है । फलतः भागवृत्ति का समय माघ तथा कैयट के मध्य युग में कभी होना चाहिए । इस वृत्ति को नवम शती के पूर्वार्ध में मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

भागवृत्ति का वैशिष्ट्य

प्राचीनकाल में भागवृत्ति काशिकावृत्ति के सदृश ही आदरणीय तथा प्रामाणिक मानी जाती थी । काशिका के साथ भागवृत्ति का अनेक अंश में विरोध था । काशिका भाष्यैकशरणा न थी; प्राचीन वृत्तियों के विशिष्ट विवरणों से गर्भित होने वाली काशिका अनेक व्याख्यानों में भाष्य से विरोध प्रकट करती है । भागवृत्ति वस्तुतः भाष्यैकशरणा है । भाष्य का पूर्णतः आधार लेकर वह प्रवृत्त होती है । भागवृत्ति की प्रामाणिकता काशिका से किसी प्रकार न्यून नहीं है । पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति' इस विषय में प्रमाण उपस्थित करती है अपने अन्तिम श्लोक में—

काशिका-भागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः ।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम ॥

भागवृत्ति शब्दों के साधुत्व के विषय में बड़ी जागरूक है तथा नये-नये प्रयोगों की ओर भी उसका ध्यान है[2]। (१) 'युवतीनां समूहः' इस अर्थ में युवति शब्द से

---

१. युधिष्ठिर मीमांसा—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ ४३४ (द्वि० सं०) ।

२. यमुपास्ते पुण्यभाग्ं कलाकुशलयौवनम् ।
सरसं नित्यशस्तन्वि ! सफलं तस्य यौवनम् ॥
यहाँ पूर्वार्ध का अन्तिम 'यौवन' शब्द युवतियों के समूह का वाचक है ।

'यौवत' शब्द की सिद्धि 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८) से जयादित्य को अभीष्ट है, परन्तु भागवृत्ति यहाँ पुंवद्भाव कर 'यौवन' शब्द को प्रामाणिक मानती है। शब्द-शक्ति प्रकाशिका भागवृत्तीय अर्थ से संवलित 'यौवन' शब्द वाले प्राचीन पद्य को उद्धृत करती है। (२) 'अक्ष्णा काणः' में काशिका की सम्मति में समास नहीं होता, परन्तु भागवृत्ति 'अक्षिकाणः' पद को साधु मानती है। (३) 'न षट् स्वस्रादिभ्यः' (४।१।१०) सूत्र में भागवृत्ति 'नप्तृ' शब्द का पाठ मानती है। फलतः उसके मत में 'नप्ता कुमारी' बनेगा, भागुरि के मत में 'नप्त्री कुमारी' होना चाहिये। (४) 'न शस दद वादि गुणानाम्' (६।४।१२६) अनुसार वकारादि धातु होने से वम धातु का लिट् लकार में ववमतुः तथा ववमुः रूप बनते हैं, परन्तु भागवृत्ति यहाँ वेमतुः तथा वेमुः रूप मानती है। पुराणेतिहास ग्रन्थों में यह पद प्रयुक्त जो है— 'वेमुश्च केचिद् रुधिरं' (सप्तशती २।५७) तथा 'वेमुश्च रुधिरं वीराः' (भीष्मपर्व, महाभारत ५७।१५)। (५) क्वसु तथा कानच् प्रत्यय वेद में ही प्रयुक्त होते हैं— भाष्य के व्याख्यानों का यह मत भागवृत्ति को भी अभिप्रेत है। इसीलिए वह भाषा भाग में इन प्रत्ययों का विधान वर्णित नहीं करती। यह संक्षिप्तसार टीका का मत है[1]। (६) भागवृत्ति महाकवियों के अपाणिनीय प्रयोगों को प्रमाद कहने से तनिक भी संकोच नहीं करती। भारवि तथा माघ द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को वह प्रमाद मानती है। किरात में 'पुरातनमुनेर्मुनिताम्' (६।१६) तथा शिशुपाल वध में 'पुरातनीर्नदीः (१२।६०) 'पुरातन' शब्द का प्रयोग है, परन्तु भागवृत्ति इस पर कहती है—**गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते। न तेषां लक्षणं चक्षुः**[2]।

(७) **आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः** (किरात १७।६३) पद्य में 'आजघ्ने' पाणिनि सूत्र से अनिष्पन्न प्रयोग है इस स्थल पर, परन्तु इसकी सिद्धि के निमित्त भागवृत्ति की युक्तियाँ देखने योग्य हैं[3]। फलतः भागवृत्ति प्राचीन प्रयोगों की समर्थिका भी है।

भाषावृत्ति

पुरुषोत्तम देव बंगाल के निवासी बौद्ध मतानुयायी महावैयाकरण तथा कोषकार थे। राजा लक्ष्मणसेन के आदेश पर इन्होंने अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों को छोड़कर इतर

---

१. क्वसु कानचौ छन्दस्येव विहिताविति भाष्य-व्याख्यातृभिर्व्यवस्थितम्। अतएव भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च क्वसु-कानज् विधान-लक्षणं न लक्षितवान्। —संक्षिप्तसार टीका।

२. भागवृत्ति संकलन् पृ० ४, षष्ठ उद्धरण।

३. वही पृ० ८, उद्धरण २८।

सूत्रों के ऊपर वृत्ति की रचना की जो एतदर्थ 'भाषा-वृत्ति' के नाम से प्रख्यात है। अमर के टीकाकार सर्वानन्द (११६० ई०) के द्वारा इनके ग्रन्थों का बहुशः निर्देश किया गया है। फलतः इनका समय ११५० ई० से पूर्व ही होना चाहिये। इन्होंने व्याकरण तथा कोश सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हैं— (१) भाषा वृत्ति—अष्टाध्यायी की व्याख्या; (२) दुर्घटवृत्ति—दुर्घट शब्दों की साधिकावृत्ति (केवल निर्दिष्ट); (३) त्रिकाण्ड शेष तथा (४) हारावली—कोष ग्रन्थ; (५) महाभाष्य लघुवृत्ति (अप्रकाशित)। शरणदेव ने भी इनका 'देव' नाम से अपने ग्रन्थ 'दुर्घटवृत्ति' में बहुशः उल्लेख किया है। सर्वानन्द ने पुरुषोत्तमदेव के द्वारा 'दुर्घटवृत्ति' में व्याख्यात 'गुर्विणी' पद को असाधु माना है।

दुर्घटवृत्ति

शरणदेव की एकमात्र रचना 'दुर्घटवृत्ति'[1] है। इसमें सामान्य रीति से अव्याख्येय तथा अपाणिनीय पदों की पाणिनि-सम्मत व्याख्या की गई है। इन पदों के साधक सूत्रों की ही व्याख्या उन्होंने इस नाम से की है। रचना काल १०९५ शाके = ११७३ ईस्वी। मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' को नमस्कार इन्हें बौद्ध मतानुयायी सिद्ध कर रहा है। फलतः पुरुषोत्तमदेव के समान ही ये भी बौद्ध वैयाकरण थे। १२वीं शती में बंगाल के बौद्ध पण्डितों ने पाणिनीय व्याकरण की उल्लेखनीय सेवा की जिसके लिए पण्डित समाज उनका सर्वदा कृतज्ञ रहेगा। ये गौड के अन्तिम स्वाधीन शासक लक्ष्मण-सेन (काल ११७५ ई०–१२०५ ई०) की सभा के लब्धप्रतिष्ठ सदस्य थे। जयदेव ने **'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः'** पद्यांश में दुरूह पदों को पिघलाने में 'श्लाघ्य' कह कर इन्हीं की प्रशंसा की है। फलतः इनका आविर्भाव काल १२ वीं शती का उत्तरार्ध है।

शब्दकौस्तुभ

भट्टोजि दीक्षित ने इस ग्रन्थ का निर्माण अष्टाध्यायी की वृत्ति के रूप में किया था। वे कौमुदी के उत्तर कृदन्त के अन्त में स्वयं लिखते हैं कि सिद्धान्त-कौमुदी लौकिक शब्दों का संक्षिप्त परिचय है। विस्तार तो 'शब्दकौस्तुभ' में पूर्व ही दिखलाया जा चुका है[2]। वास्तव में यह कौस्तुभ अष्टाध्यायी की बड़ी विशद व्याख्या है, परन्तु दुःख है कि अधूरी ही मिलती है। आरम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। शब्दकौस्तुभ काशिका के समान लघ्वक्षरा वृत्ति न होकर प्रौढ़ विस्तृत निबन्ध ग्रन्थ है। आरम्भ में यह महाभाष्य के मन्तव्यों की व्याख्या करता है और इसलिए

---

१. अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

२. इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथा शास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

वह आह्निकों में विभक्त भी है। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं पतञ्जलि के ऋण को ग्रन्थान्तर में स्वीकार किया है—तत्त्वकौस्तुभ के आरम्भ में वे स्पष्ट कहते हैं—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः। इसका फलितार्थ है कि महाभाष्य में जिन विस्तृत विषयों का विवेचन किया गया है उनका बहुमूल्य सार भाग यहाँ संकलित है। तथ्य तो यह है कि शब्दकौस्तुभ वैयाकरण प्रमेयों का विस्तार से विवेचन करने वाला मौलिक निबन्ध है जिसमें प्राचीन आचार्यों के मतों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। स्वरूप इसका व्याख्या का ही है। फलतः यह अष्टाध्यायी के वृत्ति-साहित्य के भीतर निर्देश पा रहा है[1]।

काशिका की व्याख्या

न्यास

काशिकावृत्ति के गूढ़ अर्थ को सुबोध बनाने के लिए दो आचार्यों ने उस पर अपनी पाण्डित्यपूर्ण वृत्तियाँ लिखीं जिनमें पहिले हैं जिनेन्द्रबुद्धि तथा दूसरे हैं हरदत्त। इनमें जिनेन्द्र बुद्धि की व्याख्या का नाम 'काशिका विवरण पञ्जिका' है, परन्तु इसका प्रख्यात अभिधान 'न्यास' है। हरदत्त की व्याख्या का नाम पदमञ्जरी है। न्यास की प्रति आचार्य-पुष्पिका में जिनेन्द्रबुद्धि के लिए प्रयुक्त 'बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' पद से उनके बौद्ध होने तथा उदात्त चरित आचार्य होने की स्पष्ट सूचना मिलती है। हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में 'न्यास' का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। फलतः न्यास की पूर्व-कालिकता विशदतया अनुमेय है। कैयट के साथ इन दोनों आचार्यों के मतों का तारतम्य विचारने से दोनों की ऐतिहासिक स्थिति का परिचय भली-भाँति मिल सकता है। कैयट ने अपने महाभाष्य-प्रदीप में न्यासकार के मतका अक्षरशः अनुवाद कर खण्डन किया है। उधर हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में प्रदीप की विशिष्ट सामग्री का पूर्णतया उपयोग किया है। फलतः न्यासकार कैयट से प्राचीन है और पदमञ्जरीकार कैयट से अर्वाचीन हैं : कैय्यट का समय विक्रम की ११ शती का अन्तिम काल है। ईस्वी गणना से उनका समय १०२५ ईस्वी के आस-पास पड़ता है। फलतः न्यासकार ईस्वी १०म शती से निःसन्देह प्राचीन है। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट के 'यदा ह्याचार्यस्याप्येतदभिमतमिति कैश्चिद् व्याख्यायते' (पृष्ठ २१८, बड़ौदा सं०) इस वाक्य की व्याख्या करते समय दुर्वेक मिश्र ने 'कैश्चिद्' पद के द्वारा 'ईश्वरसेनजिनेन्द्र प्रभृतिभिः' शब्दों से जिनेन्द्रबुद्धि की ओर संकेत किया है। अर्थात् जिनेन्द्रबुद्धि अर्चट से प्राचीन हैं[2]।

---

१. शब्द कौस्तुभ चौखम्भा संस्कृत सीरीज में यावदुपलब्ध प्रकाशित है।

२. द्रष्टव्य, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६४–४६५।

अर्चट का समय ईसा की सप्तम शती का अन्त है। फलतः न्यासकार को सप्तम शती के मध्यकाल में होना अनुमान सिद्ध है (६५० ईस्वी लगभग)। न्यास में अनेक प्राचीन वृत्तिकारों जैसे चूल्लि, भट्टि नल्लूर आदि के नाम निर्दिष्ट हैं। बाणभट्ट ने भी 'कृतपदन्यासो लोक इव व्याकरणेऽपि' लिखकर अपने से पूर्व न्यास ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। फलतः 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' (२।११४) के द्वारा माघ कवि का निर्देश इन्हीं में से किसी प्राचीन न्यास की ओर प्रतीत होता है। न्यास काशिका का बड़ा ही प्रौढ़, प्रमेयबहुल तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान है। इसमें ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ मूल के तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया है। अवान्तर ग्रन्थकारों पर इसका प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है।

पदमञ्जरी

इसकी अपेक्षा 'पदमञ्जरी' का स्थान कुछ घट कर है। पदमञ्जरी के रचयिता हरदत्त मिश्र के पिता का नाम पद्मकुमार, माता का श्री, अग्रजका अग्निकुमार तथा गुरु का 'अपराजित' था—इसका परिचय ग्रन्थ के उपोद्घात से चलता है। वे द्रविड देश के निवासी थे (विश्रुतो दशसु दिक्षु दक्षिणः) गौतम धर्म सूत्र की टीका (१।१८) में यह कथन इनके द्रविड भाषी होने का प्रमाण है—किलासः त्वग्दोषः, तेमल् इति द्रविडभाषायां प्रसिद्धः'। कावेरी नदी के तीरवर्ती किसी ग्राम के ये निवासी थे। ये वैयाकरण ही न थे, प्रत्युत श्रौत के महापण्डित थे। आश्वलायन गृह्य, गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्बगृह्य, आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों की व्याख्या इनके श्रौत-विषयक महनीय टीका ग्रन्थ हैं। इन्होंने कैयट के महाभाष्यप्रदीप की विशिष्ट सामग्री खण्डन-मण्डन के निमित्त अपनी पदमञ्जरी में सन्निविष्ट की है। फलतः इनका आविर्भावकाल कैयट से से पश्चाद्वर्ती है—११५४ विक्रमी के आसपास (११०० ई० लगभग)।

इन ग्रन्थों के ऊपर कालान्तर में व्याख्या ग्रन्थ रचे गये। दोनों में न्यास की लोकप्रियता पदमञ्जरी की अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है, क्योंकि जहाँ 'पदमञ्जरी' का एक टीका ग्रन्थ उपलब्ध है (रङ्गनाथ यज्वा का मञ्जरी-मकरन्द), वहाँ न्यास की अनेक टीका-प्रटीकायें मिलती हैं। इनमें मैत्रेयरक्षित रचित 'तन्त्रप्रदीप' बड़ा ही विशाल है। मैत्रेय का समय सन् १०७५–११२५ ई० (अर्थात् वि० ११३२–११७२) माना गया है। मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत' नाम्नी व्याख्या लिखी थी जिसे किरातार्जुनीय की

१. काशिका न्यास तथा पदमञ्जरी के साथ ६ खण्डों में प्रकाशित है (तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६)।

टीका में उन्होंने स्वयं उद्धृत किया है तथा जिसे सायण ने भी अपनी धातुवृत्तिमें उद्धृत किया है[1]। काशिका की टीका सम्पत्ति का यह चित्र दर्शनीय है।

---
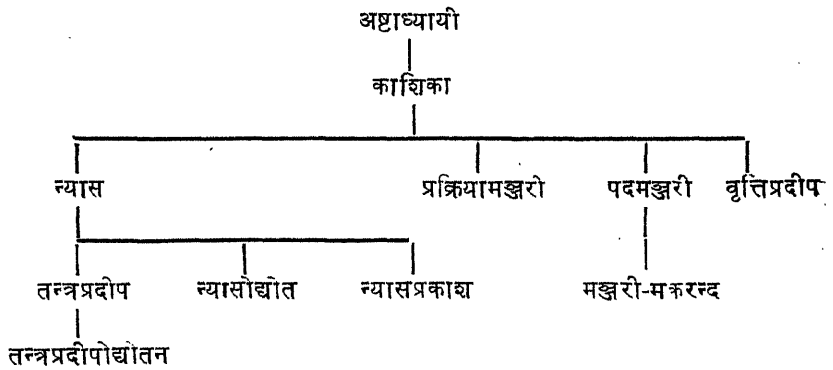
1. द्रष्टव्य—माधवीया धातुवृत्ति (काशी सं० १९६४), पृष्ठ ४३ तथा २१४।

चतुर्थ खण्ड

प्रक्रिया-युग

अष्टाध्यायी की रचना का मूल उद्देश्य शब्दों की सिद्धि नहीं था। उद्देश्य था व्याकरण का शास्त्रीय परिचय और यह लिखी गई थी उन शिष्टों के लिए जिनकी मातृ-भाषा ही संस्कृत थी। ये शिष्ट व्याकरण का अष्टाध्यायी से परिचय प्राप्त कर भली-भाँति अपनी मातृभाषा की विशुद्धि का परिचय पा सकते थे। फलतः कालान्तर में संस्कृत का वह महनीय स्तर कुछ निम्नगामी हुआ, वह लोक-भाषा तथा शिष्ट भाषा न होकर पण्डित-भाषा बन गई। तब उसके शब्दों के प्रयोग करने के समय रूपसिद्धि का ज्ञान नितान्त आवश्यक हो गया। अष्टाध्यायी के निर्माण-क्रम का किञ्चित् परिचय पूर्व दिया गया है। अब रूप-सिद्धि की आवश्यकता सामने आई। संस्कृत रूपों के व्यावहारिक ज्ञान के निमित्त ही तो कातन्त्र व्याकरण का निर्माण सम्पन्न हुआ। शर्ववर्मा ने अपने आश्रयदाता के संस्कृत-भाषा गत अज्ञान को दूर करने के ही लिए तो इस नवीन वैयाकरण सम्प्रदाय की नींव डाली जिसका प्रमुख लक्ष्य था संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान। इस पद्धति ने अल्पाभ्यास से साध्य तथा व्यवहार के अनुकूल होने से पाणिनीय शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन विद्वानों ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को नवीन क्रम में ढालने का तथा यथा-साध्य उन्हें अल्पायास-गम्य करने का नवीन मार्ग निकाला। यह नवीन युग—प्रक्रिया युग—इस सुबोध शैली के प्रचार का डिंडिम घोष करता है।

ऐसे ग्रन्थों में सर्व-प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ धर्मकीर्ति का रूपावतार है। ग्रन्थ के मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' को प्रणाम करने से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकर्ता बौद्ध था, परन्तु इसे बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति से अभिन्न मानना नितान्त अयुक्त है। रूपावतार हरदत्त का नाम्ना निर्देश करता है[1] तथा स्वयं मैत्रेय रक्षित द्वारा तन्त्रप्रदीप में निर्दिष्ट किया गया है[2]। फलतः इसे द्वादश विक्रमी शती के मध्य भाग में मानना उचित होगा। रूपावतार दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में सुबन्त का वर्णन है और वह आठ 'अवतारों' (अर्थात् प्रकरणों) में विभक्त है। उत्तरार्ध तिङन्त तथा कृदन्त का

---

१. दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः। रूपावतार, भाग २, पृष्ठ १५७।

२. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सति एकाच्त्वात् यङ् उदाहृतः चोचूर्यते इति (मिलाइये-रूपावतार, भाग २, पृष्ठ २०६)।

परिचायक है। इसे ही प्रक्रिया पद्धति का उपलब्ध आदिम ग्रन्थ मानना उपयुक्त है। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में विशेष प्रसिद्ध हुआ। प्राकृत भाषा के एतत्सदृश व्याकरण ग्रन्थ का नामकरण इसी के सादृश्य पर 'प्राकृत रूपावतार' रखा इसके रचयिता सिंहराज ने (रचना काल १५ शती)। पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में इसने एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया जिसका आधार मानकर कालान्तर में ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा।

प्रक्रिया कौमुदी के प्रणेता

प्रक्रिया कौमुदी ही प्रक्रिया-युग की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके प्रणेता का नाम था—रामचन्द्राचार्य। कौमुदी पर प्रसाद नाम्नी वृत्ति के रचयिता विट्ठल आचार्य रामचन्द्र के पौत्र थे। उन्होंने इस वृत्ति के आरम्भ में तथा अन्त में अपने वंश का विस्तृत वर्णन किया है। उसके आधार पर हम इस वंश के आचार्यों के विषय में विशिष्ट विवरण दे सकते हैं। रामचन्द्र का वंश आन्ध्र देश से सम्बद्ध था। यह 'शेष' नामक वंश कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी था। इस वंश का वृक्ष इस प्रकार है—
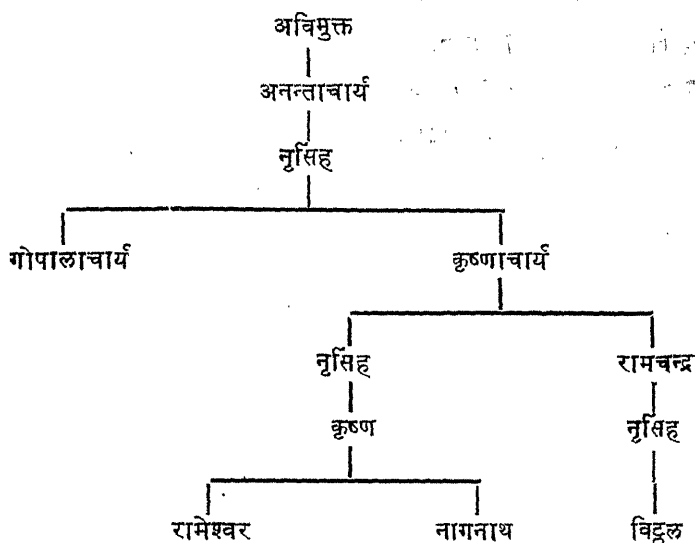
इन वंश के प्रधान पुरुषों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **अनन्ताचार्य**—अविमुक्त के पुत्र, शिष्य का नाम रामस्वामी; कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण; ये वैष्णव थे तथा पाञ्चरात्र आगम की व्याख्या करने में नितान्त निपुण थे।

(२) **नृसिंह**—आगम, नियम, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा गणित के प्रौढ़ विद्वान्; सौदर्शन भाष्य का विवरण प्रस्तुत किया।

(३) **कृष्णाचार्य**—अष्टादश विद्याओं के पारगामी विद्वान; राम नामक किसी राजा के दरबार में सूत्रवृत्ति की व्याख्या की। अनन्त के पौत्र तथा नृसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे।

(४) **रामचन्द्र**—कृष्णाचार्य के कनिष्ठ पुत्र; ये सार्वभौम विद्वान थे—चतुर्दश विद्याओं का अध्यापन करते थे जिसमें पतञ्जलि का महाभाष्य भी सम्मिलित था; इन्होंने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया था—(क) प्रक्रिया-कौमुदी, (ख) काल-निर्णयदीपिका तथा (ग) वैष्णव-सिद्धान्त दीपिका; इन्होंने अपने ज्येष्ठ पितृव्य गोपालाचार्य तथा पिता कृष्णाचार्य से शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये दोनों इनके गुरु थे।

(५) **नृसिंह**—रामचन्द्र के पुत्र; इनके गुरु पितृव्यपुत्र कृष्ण थे। पिता के 'काल-निर्णयदीपिका' के ऊपर 'विवरण' नामक व्याख्यान लिखा जिसमें गुरु कृष्ण की अनुकम्पा से विद्या के अभ्यास तथा विवरण के लिखने का वर्णन है।

(६) विट्ठल—नृसिंह के पुत्र; प्रक्रिया कौमुदी की वृत्ति 'प्रसाद'[1] नाम्नी लिखी तथा अपने पितामह के वैष्णव-मत विषयक ग्रन्थ 'वैष्णव सिद्धान्त दीपिका' के ऊपर 'न्यायस्नेह प्रपूरणी' नामक व्याख्या रची[2]! इन्होंने अपने गुरुओं का नाम-निर्देश तथा संक्षिप्त परिचय टीका के अन्त में दिया है—(क) यतिवर राघव जिन्होंने वादीन्द्रों को परास्त कर अद्वैतमत की स्थापना की तथा भाष्यादिकों का संस्कार किया। (ख) विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त; (ग) गोपाल गुरु के पुत्र आचार्य बुध-रामचन्द्र; (घ-ङ) कृष्ण-गुरु के पुत्र रामेश्वराचार्य तथा नागनाथ; (च) वेदान्त-निष्णात यतिवर जगन्नाथाश्रम।

प्रक्रिया-कौमुदी का रचनाकाल

ग्रन्थकार के रचनाकाल का निर्देश स्वयं नहीं किया, परन्तु बाह्य साधनों से निर्माण-काल की अवगति होती है। विट्ठल के 'प्रक्रिया-कौमुदी प्रकाश' का सर्वप्राचीन हस्तलेख १५३६ वि० सं० (=१४८० ई०) का है। विट्ठल को इस तिथि से प्राचीन होना चाहिये (लगभग १४२५ ई०) तथा उनके पितामह रामचन्द्र को उनसे लगभग

---

१. प्रक्रिया-कौमुदी प्रसाद टीका के साथ सं० पण्डित कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ८२, दो भागों में प्रकाशित १९२५ (प्रथम भाग) तथा १९३१ (द्वितीय भाग) बम्बई।

२. द्रष्टव्य—प्रसाद का द्वितीय खण्ड, पृ० ४ (वही प्रकाशन)।

पचास पूर्व होना चाहिये (१३७५ ई०)। प्रक्रिया-कौमुदो के उत्तरार्ध के सर्वप्राचीन कीटदष्ट हस्तलेखका काल १४९३ संवत् (अर्थात् १४३७ ई०) है। फलतः रामचन्द्र का समय चतुर्दश शती का उत्तरार्ध मानना उचित प्रतीत होता है (१३५० ई०—१४०० ई० लगभग)। रामचन्द्राचार्य का 'काल-निर्णय दीपिका' ग्रन्थ माधवाचार्य के 'काल-निर्णय' का संक्षिप्तसार प्रस्तुत करता है। ये माधवाचार्य वेदभाष्य के कर्ता सायण के अग्रज है—बुक्कराम प्रथम (१३५० ई०—१३७९ ई०) के प्रधानामात्य। इस तथ्य से भी पूर्व निर्दिष्ट समय-सीमा की पुष्टि होती है।

प्रक्रिया-कौमुदी

प्रक्रिया-कौमुदी के दो भाग हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में सुबन्त शब्दों के ज्ञान के लिए क्रम से संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्री-प्रत्यय, विवेक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित का वर्णन है। उत्तरार्ध में तिङन्तों का विवरण है जिसमें भ्वादि दशगणीय धातु, ण्यन्तादि धातु तथा कृत्-प्रत्ययों का क्रमशः विवेचन किया गया है। रूप की सिद्धि के लिए आवश्यक तथा उपादेय सूत्रों का यहाँ प्रतिप्रकरण में संकलन है तथा लघुवृत्ति के साथ उचित दृष्टान्त दिये गये हैं। वैदिक शब्द के साधक सूत्रों का यहाँ सर्वथा सद्भाव है। रामचन्द्र वैष्णव मतानुयायी थे। फलतः उदाहरणों में सर्वत्र वैष्णवता का पुट है। रूपावतार तथा काशिका में 'इको-यणचि' सूत्र के उदाहरण 'दध्यत्र' तथा 'मध्वत्र' दिये गए हैं, वहाँ इस ग्रन्थ में 'सुद्ध्युपास्य' तथा 'मध्वरि' दृष्टान्त दिये गए हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी वैष्णव-मतानुयायी उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। रूपावतार में अजन्त पुंल्लिग 'वृक्ष' के स्थान पर प्रक्रिया-कौमुदी 'राम' शब्द को प्रस्तुत करती है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' में इन उदाहरणों को ही मुख्यतया स्थान दिया गया है। रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में महाभाष्य तथा काशिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, वहाँ सूत्र १ १।१० तथा १।३।२ की व्याख्या के अवसर पर 'रूपावतार' के भी श्लोक दिये हैं। प्रक्रिया-शैली का प्राचीन प्रौढ़ ग्रन्थ होने से 'प्रक्रिया-कौमुदी' का माहात्म्य स्पष्ट है। भट्टोजिदीक्षित ने यहीं से स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी' का निर्माण किया। यह तथ्य दोनों ग्रन्थों की तुलना से नितान्त स्पष्ट हो जाता है।

टीकायें

प्रक्रिया-कौमुदी की टीका-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण समृद्ध है।

---

१. प्रक्रिया-कौमुदी का संस्करण प्रसाद टीका के साथ के० पी० त्रिवेदी ने किया है। बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ८५, बम्बई, १९२५-१९३१।

(क) **प्रक्रिया-प्रसाद**—इसके रचयिता ग्रन्थकार के पौत्र विट्ठलाचार्य हैं। समय १४५० ई० के आस-पास। संक्षेप करने के कारण आवश्यक होने पर भी परित्यक्त सहस्र से अधिक सूत्रों की यहाँ व्याख्या देकर मूल ग्रन्थ को पुष्ट तथा पूर्ण बनाने का श्लाघनीय प्रयास है। इसलिए यह टीका पर्याप्तरूपेण विपुल है। प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व भी किसी ने व्याख्या लिखी थी जिसमें प्रक्षेपों द्वारा मलिनी-कृत मूल के उद्धारार्थ इस 'प्रसाद' टीका का उद्देश्य है[२]।

(ख) **प्रक्रिया-प्रकाश**—शेष वंश के प्रख्यात विद्वान् शेषकृष्ण ने इस विस्तृत टीका का प्रणयन किया है। ये अकबर के समकालीन थे। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री वीरवर (बीरबल) के आदेश से उन्हीं के 'कल्याण' नामक पुत्र को व्याकरण सिखाने के लिए इन्होंने यह व्याख्या लिखी। इसका परिचय टीका के आरम्भिक पद्यों से चलता है। शेष नृसिंह के आत्मज शेषकृष्ण १६वीं शती के वैयाकरणों में मुख्य थे। भट्टोजिदीक्षित ने इन्हीं से व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था। शेष श्रीकृष्ण ने इसके आरम्भ में अपने आश्रयदाता राजा वीरबल (बादशाह अकबर के सभा-सचिव) का पूरा वंशवृक्ष तथा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। वीरबल का यह विवरण समसामयिक व्यक्ति के द्वारा निर्दिष्ट होने से प्रामाणिक है। ब्रह्मावर्त के 'पत्रपुञ्ज' (पटौंजा) नामक ग्राम में ब्राह्मण वंश में उनका जन्म हुआ था। बीरबल के पितामह का नाम महाराज रूपधर, तथा पिता का महाराज गङ्गादास। यह ब्राह्मणवंश राजा की पदवी धारण करता था। राजा बीरबल अकबर बादशाह के मन्त्री तथा उपदेष्टा के रूप में विख्यात हैं। वह रूप यथार्थ है जो यहाँ उनकी विरुदावलि से सुस्पष्ट है[१]। फलतः वीरबल को ब्रह्मभट्ट वंश में उत्पन्न मानने की जो प्रथा आजकल प्रचलित है वह नितान्त दूषित तथा अप्रामाणिक है। वीरबल के पुत्र कल्याणमल्ल अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि तथा स्वभावतः व्याकरण के प्रेमी थे। इन्हें ही पाणिनि की शिक्षा देने के लिए राजा वीरबल के द्वारा आदिष्ट होकर शेष श्रीकृष्ण ने प्रक्रिया कौमुदी की यह पाण्डित्य-मण्डित व्याख्या लिखी 'प्रक्रिया-प्रकाश' नाम्नी।

---

१. कामो वामदृशां निधिर्नयजुषां कालानलो विद्विषां
स्वःशाखी विदुषां गुरुर्गुणवतां पार्थो धनुर्धारिणाम्।
लीलावासगृहं कलाकुलभुवां कर्णः सुवर्णार्थिनां
श्रीमान् वीरवरः क्षितीश्वरवरो वर्वर्ति सर्वोपरि॥
—आरम्भ का २१ श्लोक।

नामसाम्य कितना भ्रामक होता है। प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याकार शेष कृष्ण के पिता का नाम नृसिंह था। उधर प्रक्रिया-कौमुदी के भ्रातुष्पुत्र का भी नाम कृष्ण ही था। इस नामसमता से डा० रामकृष्ण भण्डारकर को भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही है कि दोनों एक ही थे, वरन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(१) भट्टोजिदीक्षित ने अपने 'प्रौढमनोरमा' में विट्ठल तथा कृष्ण के मतों का स्थान-स्थान पर खण्डन किया। वे विट्ठल को यदाकदा 'तत्पौत्र' अर्थात् रामचन्द्र का पौत्र कहते हैं, परन्तु कृष्ण को कभी भी तद्भ्रातीय या तद्भ्रातुष्पुत्र नहीं कहते। कभी प्राच्, कभी व्याख्यातरः आदि शब्द ही कृष्ण के लिए प्रयुक्त हैं।

(२) श्रीकृष्ण ने 'प्रक्रिया-प्रकाश' में विट्ठल के मत का खण्डन किया है और उस अवसर पर उनके लिए 'प्राच्' (प्राचीन) शब्द का प्रयोग किया है। यह असम्भव-सी बात है, क्योंकि विट्ठल कृष्ण के पितृव्य के पौत्र थे—अर्थात् अवस्था में उनसे छोटे थे। अतः प्रक्रियाप्रकाश के कर्ता विट्ठल के सम्बन्धी नहीं थे।

(३) 'कालनिर्णय-दीपिका-विवरण' के अन्त में विट्ठल के पिता नृसिंह ने कृष्णाचार्य को अपना गुरु बतलाया है तथा उन्हें काव्यों की टीका लिखने वाला कहा है। यदि प्रक्रिया-प्रकाश वाले कृष्ण यही कृष्णाचार्य होते, तो उनके इस महनीय ग्रन्थ का यहाँ उल्लेख अवश्य किया गया होता।

(४) दोनों के देशकाल में भी पर्याप्त पार्थक्य है। रामचन्द्र के भ्रातुष्पुत्र कृष्ण आन्ध्रदेशीय तथा १५वीं शती के ग्रन्थकार थे। उधर प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता कृष्ण महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे तथा वीरबल के पुत्र के शिक्षणार्थ इस ग्रन्थ की रचना के कारण १६ वीं शती के व्यक्ति थे।

फलतः ये दोनों विभिन्न व्यक्ति थे।

कृष्ण शेषकुल में उत्पन्न हुए थे और इसीलिए वे शेष-कृष्ण अथवा कृष्ण-शेष के नाम से विख्यात थे। व्याकरण के अतिरिक्त काव्य-नाटक के निर्माण में भी वे नितान्त दक्ष थे। उनकी कतिपय रचनायें ये हैं—

(क) कंसबध (नाटक)—इस नाटक के रचयिता कृष्ण को डा० औफ्रेक्ट ने अपनी बृहत् ग्रन्थ सूची में प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता से भिन्न माना है। परन्तु इस नाटक की अन्तः परीक्षा दोनों की अभिन्नता की साधिका है। व्याकरण की महिमा का प्रशंसक यह पद्य दोनों ग्रन्थों में मिलता है—

रसालंकार-सारापि वाणी व्याकरणोज्झिता ।
शिवत्रोपहत-गात्रेव न रञ्जयति सज्जनान्[१] ॥

नाटककार अपने को वैयाकरण लिखने में गौरव का अनुभव करता है—'आर्ये भूषणमेतत् न दूषणं कवीनां व्याकरण-कोविदता' इति (कंसवध, पृष्ठ ७) ।

(ख) परिजात-हरण चम्पू; (ग) शब्दालङ्कार, (घ) पदचन्द्रिका, (ङ) कृष्ण कौतूहल (पद-चन्द्रिका का विवरण) ।

(च) प्रक्रिया प्रकाश—यह प्रक्रियाकौमुदी की विपुलार्था विस्तृत व्याख्या है । प्रक्रियाकौमुदी की लोकप्रियता का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राजा बीरबल ने अपने पुत्र के शिक्षण के लिए इसी ग्रन्थ को चुना और टीका लिखने के लिए शेष कृष्ण से प्रार्थना की । विट्ठल के 'प्रक्रिया-प्रसाद' के बहुस्थलों पर खण्डन करने पर भी प्रक्रिया-प्रकाश प्रसाद से प्रभावित है । विट्ठल अपने सौजन्य दिखलाने से कभी नहीं चूकते । उधर शेष-कृष्ण औद्धत्य का प्रदर्शन करते हैं ।

प्रक्रिया-कौमुदी का वैशिष्ट्य

प्रक्रिया-कौमुदी का लक्ष्य लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का साधुता की परीक्षण है । लक्ष्यैकचक्षुष्क होना वैयाकरणों के लिए भूषण ही नहीं है, प्रत्युत नितान्त आवश्यक भी है । फलतः रामचद्राचार्य ने एक सौ से अधिक अपाणिनीय—पाणिनीय सूत्र से अव्याख्यात, परन्तु लोक में व्यवहृत-प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए सुन्दर व्यवस्था की है । इसीलिए मुनित्रय से अतिरिक्त वैयाकरणों की भी प्रमाणता उन्हें स्वीकृत है—विशेषतः कातन्त्र व्याकरण का तथा वोपदेव रचित मुग्धबोध-व्याकरण का । रामचन्द्र के ऊपर वोपदेव का प्रभाव शब्दों की सिद्धि के विषय में अपाणिनीय वैयाकरणों में सर्वाधिक लक्षित होता है । इस विषय में दो चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) इन्द्रवाचक तुरासाह् शब्द की सिद्धि पाणिनिनय में ण्विप्रत्यय से वेद में ही मान्य है (छन्दसि सहः ३।२।२५ सूत्रानुसार) परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी इसे लोक में भी मान्यता देती है और इस विषय में कातन्त्र तथा मुग्धबोध का ही प्रामाण्य उसे प्राप्त नहीं है, प्रत्युत कवि-प्रयोग[२] भी उसे साहाय्य देता है ।

---

१. यह श्लोक कंसवध (काव्यमाला में प्रकाशित) के पृष्ठ ७ पर है । प्रक्रिया प्रकाश की आदिम प्रस्तावना का यह २४ वाँ श्लोक है । 'कंसवध' का अभिनय बादशाह अकबर के प्रख्यात मन्त्री तोडरमल (टोडरमल) के पुत्र गिरिधारी या गोवर्धनधारी के सामने किया गया था ।

२. (क) तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः । (कुमारसम्भव, २।१) ।
(ख) धरातुराषाहि मदर्थयाच्ञा
कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते (नैषध ३।६५) ।

(२) 'पृष्ठवाह' शब्द की सिद्धि 'वहश्च' (३।२।६८) सूत्र से ण्विविधान से होती है, परन्तु 'छन्दसि सहः' (३।२।२५) से छन्दसि की अनुवृत्ति होने से यह भी वेदमें ही मान्य है, परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी किसी के मत में इसे लोक में भी मान्यता देती है। इस तथ्य के निर्णय में वह मुग्धबोध की मान्यता स्वीकार करती है (ढात्भज-वह-सहो विण् (१०२८) सूत्र को, जो लोक में भी इस पद को सिद्ध करता है। लोक में इसका प्रयोग भी होता है[1]।

(३) 'कुत्सितः पन्थाः' इस विग्रह में 'का पथ्यक्षयोः (६।३।१०४) सूत्रानुसार पाणिनि-नय में 'कापथः' ही सिद्ध होता है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र कहते हैं— कुपथोऽपीति केचित्। यहाँ केचित् पद द्वारा मुग्धबोध की ओर संकेत है, जहाँ 'पथि पुरुषे वा' सूत्र (४१०) द्वारा यह पद (कुपथ) सिद्ध होता है। भागवत तथा महाभारत इस शब्द को प्रयोग में भी लाते हैं[2]।

इसी प्रकार रामचन्द्राचार्य मुग्धबोध के अनुसार (४) 'पद्मगन्धि' के साथ ही साथ 'पद्मगन्ध' को मान्यता देते हैं तथा 'घृतगन्धि' (घृतमल्पं यस्मिन् भोजने तत् 'घृतगन्धि' भोजनम्; अल्पाख्यायाम् (५।४।१३६ सूत्रानुसार) के साथ (५) 'घृत-गन्ध' शब्द को भी समर्थन देते हैं[3]।

निष्कर्ष यह है कि रामचन्द्राचार्य ने पाणिनि से विभिन्न वैयाकरणों का भी मत प्रक्रिया-कौमुदी में संगृहीत कर लिया है—लोक-व्यवहार को दृष्टि में रखकर। और इसके लिए उन्होंने सूत्रों तथा वार्तिकों में नवीन शब्द का सन्निवेश भी रख दिया है जो प्राचीन आचार्यों के मत से विरुद्ध भी पड़ता है। महाभाष्य तथा काशिका उभय ग्रन्थों में 'प्राद्व-दो-ढ्य-षैष्येषु' यही वार्तिक का स्वरूप है, परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी में यहाँ 'ऊह' शब्द भी पठित है जिससे 'प्रौह' पद की निष्पत्ति होती है। इसके ऊपर प्रक्रिया प्रसाद के कर्ता विट्ठल का कथन है—**अन्यमतोपसंग्रहार्थं वार्तिक-मध्य ऊह-**

---

१. (क) **पृष्ठवाड् युगपार्श्वगः (अमरकोश २।९।६)।**

(ख) **दारुकं पृष्ठवाहं तु कृत्वा केशव ईश्वरः**

(हरिवंश, भविष्यपर्व ५।१।३१)।

२. **कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः संप्रवर्तयिष्यते ॥**

(भागवत ५।६।१०)

३. **ऐसे पदों के रूप तथा सिद्धि के लिए द्रष्टव्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र—प्रक्रिया-कौमुदी-विमर्शः (पृष्ठ ८६–११४; प्र० संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, सं० २०२३)।**

शब्दस्य प्रक्षेपः 'प्रौहः' इत्युदाहरणं च। यहाँ वोपदेव के मत का संग्रह किया गया है। ऐसे उदाहरण न्यून हैं, परन्तु उनकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रक्रिया-कौमुदी को इसीलिए विट्ठल **'स्वपरमतयुतां प्रक्रिया-कौमुदीं ताम्'** कहते हैं। रामचन्द्र का यह पाणिनितन्त्र में अन्यतन्त्र-सिद्ध मतों का सन्निवेश उनका भट्टोजि-दीक्षित से स्पष्ट पार्थक्य सिद्ध कर रहा है।

शेष श्रीकृष्ण

शेष-वंशावतंस श्रीकृष्ण नृसिंह के पुत्र थे। उन्होंने प्रक्रिया-कौमुदी पर प्रकाश' नाम्नी व्याख्या लिखी। यह व्याख्या बड़ी विशद तथा विस्तृत है। इसमें विट्ठल-रचित प्रसाद का भी स्थान-स्थान पर खण्डन है। परन्तु शेषकृष्ण ने प्रक्रिया-कौमुदी की अपनी वृत्ति को 'सत्-प्रक्रिया-व्याकृत' नाम दिया है, परन्तु वह 'प्रकाश' के नाम से विशेष प्रख्यात है। भट्टोजिदीक्षित इन्हीं शेषकृष्ण के व्याकरणशास्त्र में शिष्य थे, तथापि अपनी प्रौढ़मनोरमा में, प्रक्रिया-प्रकाश में उपन्यस्त मत के खण्डन करने से वे कथमपि पराङ्मुख नहीं हुए। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ दीक्षित ने श्रीकृष्ण शेष के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ ने शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। अतएव अपने गुरु के पूज्य पिता के ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित के द्वारा प्रदर्शित दोषों की कल्पना उनके लिए असह्य हो उठी और इसीलिए उन्हें बाध्य होकर मनोरमा का खण्डन लिखना पड़ा था। इस प्रकार शिष्य के हाथों गुरु के मतखंडन को महान् अपराध मानकर पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित को 'गुरुद्रोही' की अपमानजनक उपाधि से मण्डित किया और 'मनोरमा कुच-मर्दन' नामक अपने वैयाकरण ग्रन्थ में उन्होंने शेषकृष्ण के मूल आशय को प्रकट कर उसका मण्डन तथा दीक्षित के प्रत्याख्यानों का खण्डन बड़ी ही प्रौढ़ता से किया। कृष्णशेष के पौत्र तथा वीरेश्वर के पुत्र 'चक्रपाणिदत्त' ने 'प्रौढ-मनोरम-खण्डन' लिख कर प्रक्रिया-प्रकाश के दूषणों का प्रत्याख्यान पूर्व ही किया था। इन्होंने 'प्रक्रिया-प्रदीप' नामक अन्य ग्रन्थ भी बनाया था।

प्रक्रिया-कौमुदी के ये दो महनीय व्याख्यायें हैं। इनके अतिरिक्त जयन्त-कृत 'तत्त्वचन्द्र' (प्रक्रिया-प्रकाश के आधार पर) वारणवनेश रचित 'अमृतसृति', विश्वनाथ

---

१. यह टीका संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्प्रति मुद्रित हो रही है।

२. द्रष्टव्य—इन खण्डन-मण्डनों के लिए डा० के० पी० त्रिवेदी की प्रक्रिया-कौमुदी की प्रस्तावना पृ० ३४–३५, आद्याप्रसाद मिश्र—प्रक्रिया-कौमुदी-विमर्शः (तृतीय परिच्छेद; पृ० ४५–८५)।

शास्त्री रचित 'सत्-क्रिया व्याकृति', विश्वनाथ दीक्षित-कृत 'प्रक्रिया-रञ्जन' आदि टीकायें [1]हस्तलेखों में ही उपलब्ध हैं। इनसे ग्रन्थ की विपुल प्रसिद्धि की स्पष्ट सूचना मिलती है।

शेषकृष्ण तथा भट्टोजिदीक्षित का वंशवृत्त
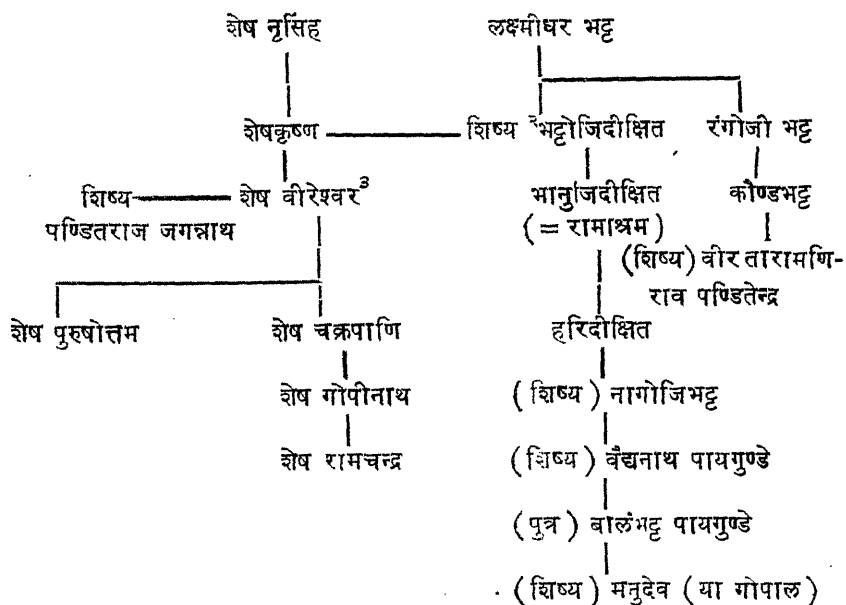
भट्टोजिदीक्षित

सिद्धान्त-कौमुदी के यशस्वी प्रणेता भट्टोजिदीक्षित मूलतः आन्ध्र देश के निवासी थे। उन्होंने तथा उनके भ्रातुष्पुत्र ने अपने ग्रन्थ में 'कालहस्तीश्वर' की वन्दना की

---

१. द्रष्टव्य—पूर्व ग्रन्थ पृ० १२३–१३० ।

२. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः) शेष-वंशावतंसानां श्रीकृष्ण-पण्डितानां चिरायार्जितयोः पादुकयोः प्रसादासादितशब्दानुशासनाः। तेषु च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं······दूषणैः स्वयं निर्मितायां मनोरमायामाकुलयकार्षुः।

३. सा (मनोरमा) च प्रक्रिया-प्रकाशकृतां पौत्रैः······अस्मद्गुरु पण्डित-वीरेश्वराणां तनयैर्दूषिताऽपि स्वमति-परीक्षार्थं पुनरस्माभिर्निरीक्ष्यते।

—'मनोरमाकुचमर्दन' का उपोद्घात।

है। यह देवस्थान मद्रास के चित्तूर जिले में हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे, महाराष्ट्रीय नहीं। इनके कुल को व्याकरणशास्त्र के पारंगत विद्वानों को उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। इनके पिता का नाम था लक्ष्मीधरभट्ट, भ्राता का रंगोजीभट्ट, पुत्र का भानुजिदीक्षित (संन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम'), भ्रातुष्पुत्र का कौण्डभट्ट, पौत्र का हरिदीक्षित। भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण और धर्मशास्त्र का अध्ययन किया प्रक्रियाकौमुदी व्याख्याकार शेष-कृष्ण से, वेदान्त का नृसिंहाश्रम से (जिनकी 'तत्त्वविवेक' टीका पर स्वयं 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी) तथा मीमांसा का अप्पयदीक्षित से (दक्षिण भारत के भ्रमण अवसर पर)। इन्होंने वेदान्त तथा धर्मशास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थों—मौलिक तथा टीका ग्रन्थ—का प्रणयन किया, परन्तु वैयाकरण-रूप में ही इनकी प्रसिद्धि लोक-विश्रुत हुई। काशी में ही इन्होंने अपने नाना ग्रन्थों का प्रणयन सिद्धान्त-कौमुदी से पूर्व ही किया। इन्होंने अष्टाध्यायी की व्याख्या 'शब्दकौस्तुभ' के नाम से रची थी जो अधूरी ही मिलती है—आरम्भ से अढाई अध्याय तथा बीच का चतुर्थ अध्याय। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं 'प्रौढमनोरमा' नाम से कौमुदी की प्रथम व्याख्या लिखी। वे खण्डन-रसिक पण्डित थे। इसलिए न्यास, पदमञ्जरी तथा काशिका का उनका खण्डन आश्चर्य में विद्वानों को उतना नहीं डालता, जितना डालता है अपने ही गुरुवर्य शेष-कृष्ण के प्रक्रियाप्रकाश-स्थित मतों का प्रौढ़ मनोरमा में पदे-पदे प्रचुर खण्डन। वे वैयाकरणों के मतों के खण्डन में बद्धादर थे। तभी तो वे कहते हैं[१] कैयट से लेकर आज तक के विद्वानों के ग्रन्थ शिथिल ही हैं। दीक्षित का व्याकरण-शास्त्र का वैदुष्य नितान्त स्पृहणीय तथा आदरणीय था—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। उनकी सिद्धान्त-कौमुदी के अध्ययन की अखिल भारतीय परम्परा रही है और आज भी है।

भट्टोजिदीक्षित के आविर्भावकाल के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है, परन्तु हस्तलेखों के आधार पर उनका समय निर्णीत किया जा सकता है। काशी के अद्वैत वेदान्त के प्रौढ तथा प्रचुर लेखक नृसिंहाश्रम भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। उन्होंने १५४७ ई० में अपना दार्शनिक ग्रन्थ 'वेदान्त-तत्त्व-विवेक'[१] (या तत्त्व-विवेक) तथा अगले वर्ष उस पर स्वोपज्ञ व्याख्यान 'दीपन' का निर्माण किया। इस दीपन पर व्याख्या लिखी भट्टोजिदीक्षित ने जिसका नाम 'वाक्य माला' या 'दीपन व्याख्या'

---

१. तस्मात् कैयट-प्रभृति अर्वाचीनपर्यन्तं सर्वेषां ग्रन्था इह शिथिला एवेति स्थितम्—प्रौढमनोरमा, उत्तर भाग पृष्ठ ७४२।

२. अब्दे वेद-वियद्रसेन्दुगणिते पौषासिते श्रादिते।
रक्षोनामनि पूरुषोत्तमपुरे ग्रन्थं मुदाऽचीकरत् ॥
(भण्डारकर शो० सं० का हस्तलेख)।

अथवा 'तत्त्वविवेक टीका-विवरण' है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने १६९३ विक्रमी में (= १६३७ ई०) में **शब्दशोभा** नामक अपना व्याकरण-शास्त्र-सम्मत ग्रन्थ लिखा। इन्हीं दोनों संवतों के बीच में दीक्षित का समय होना चाहिये। वत्सराज ने 'वाराणसी-दर्शन प्रकाशिका' नामक व्याख्या-सहित मूल ग्रन्थ का प्रणयन संवत् १६९८ (= १६४२ ई०) में किया। इसके आरम्भ में उन्होंने अपने गुरु रामाश्रम तथा उनके पूज्य पिता भट्टोजिदीक्षित का उल्लेख किया है। नीलकण्ठ शुक्ल-कृत निर्देश इससे पाँच वर्ष पहिले ही है। इनके 'शब्द-कौस्तुभ' का एक हस्तलेख १६३३ ई० का बंगाल हस्तलेख सूचीपत्र में हरप्रसाद शास्त्री ने उल्लिखित किया है। फलतः दीक्षित का समय इससे पूर्व होना चाहिये। इसलिए उनका समय लगभग १५६० ई०–१६१० ई० के बाच मानना प्रमाण पुरःसर प्रतीत होता है।

भट्टोजिदीक्षित के ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र तथा वेदान्त के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग चौतीस है, परन्तु इन सब ग्रन्थों के दीक्षितकर्तृत्व होने की पूर्ण मीमांसा अभी यथार्थतः नहीं हुई। अतः उनके विषय में अभी सन्देह है। धर्मशास्त्र के विषय में उनके निःसंदिग्ध ग्रन्थों के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं[1]—**आशौच-प्रकरण** (हस्तलेख १७२० सं० = १६६४ ई०); **तिथि-निर्णय** (हस्तलेख १८१० वि० = १७५४ ई०); **त्रिस्थली-सेतु** (हस्तलेख १७३२ विक्रमी = १६७६ ई०)। वेदान्त के विषय में इनके ग्रन्थ हैं (क) वेदान्ततत्त्व कौस्तुभ या **तत्त्वकौस्तुभ**। इसके आरम्भ में केलदी-नरेश वेंकट के आदेश से इसकी रचना का संकेत दिया गया है[2]। (ख) **दीपन व्याख्या** या तत्त्वविवेक टीका-विवरण—नृसिंहाश्रम ने १६०४ विक्रम संवत् (१५४७ ई०) में **वेदान्ततत्त्व विवेक** तथा उसकी टीका 'दीपन' का प्रणयन किया था। उसी पर भट्टोजिदीक्षित की यह टीका है। (ग) **अद्वैत-कौस्तुभ**। क्या ऊपर निर्दिष्ट 'वेदान्ततत्त्व कौस्तुभ' से अभिन्न है? (घ) तत्त्व-सिद्धान्त-चन्द्रिका। विविध-विषय—(१) **तन्त्राधिकार-निर्णय**—इसमें पाञ्चरात्र के प्रामाण्य तथा अधिकार का विचार किया गया है। इसमें भट्टोजि ने अपने को 'अद्वैतसिद्धान्त-प्रतिष्ठापक' तथा 'श्रौतस्मार्त-सत्-सम्प्रदाय-

---

१. धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम के लिए द्रष्टव्य—गोपीनाथ कविराज रचित 'काशी की सारस्वत साधना', पृ० ४८–४९ (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६५)।

२. केलदीवेङ्कटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषां मुदे।
ध्वान्तोच्छित्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभः॥

प्रवर्तक' कहा है जिससे उनकी अद्वैतनिष्ठा तथा धार्मिक आस्था का पूरा संकेत मिलता है। (२) **वेदभाष्य-सार**—इस अपूर्व पुस्तक की एक ही हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमें वेद के कुछ मन्त्रों का सायणाश्रित भाष्य है[1]। (३) तत्त्वसिद्धान्त-दीपिका तथा (४) तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य। भट्टोजिदीक्षित के विषय में यह किम्वदन्ती है कि इन्होंने तीर्थयात्रा तथा विद्याग्रहण करने के लिए दक्षिण-यात्रा की थी। वहाँ जाकर इन्होंने अप्पयदीक्षित से वेदान्त तथा मीमांसा का अध्ययन किया था। उस समय अप्पयदीक्षित के संरक्षक वेंकटपति थे जिससे अप्पय ने भट्टोजि का परिचय करा दिया। प्रसिद्धि है कि वेंकटपति के अनुरोध पर भट्टोजि ने एक ग्रन्थ वेदान्त पर तथा एक मीमांसा पर रचा था। वेदान्तवाला ग्रन्थ तो निश्चयेन वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ है, पर मीमांसावाले ग्रन्थ का पता नहीं। तन्त्रसिद्धान्त में भट्टोजि ने अप्पयदीक्षित को गुरुरूप में नमस्कार किया है—

> अप्पय्यदीक्षितेन्द्रान् अशेषविद्यागुरूनहं नौमि।
> यत्-कृति-बोधाबोधौ विद्वदविद्वद्विभाजकोपाधी॥

व्याकरण के विषय में भट्टोजिदीक्षित के ये ग्रन्थ प्रख्यात हैं—(१) शब्द-कौस्तुभ, (२) सिद्धान्त कौमुदी, (३) प्रौढ मनोरमा, (४) धातुपाठनिर्णय तथा (५) लिङ्गानुशासन-वृत्ति। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थ दीक्षित की शास्त्रीय वैदुषी के स्तम्भ-स्थानीय हैं। शब्दकौस्तुभ का उल्लेख सिद्धान्त-कौमुदी के अन्त में (उत्तर कृदन्त) किया गया है। अतः यह सिद्धान्त-कौमुदी के निर्माण से प्रथम ही विरचित हो गया था। शब्दकौस्तुभ व्याकरण शास्त्र का बड़ा ही प्रौढ तथा व्यापक ग्रन्थ है। दुःख है कि यह ग्रन्थ तृतीय अध्याय के चतुर्थ आह्निक तक ही लिखा गया था। है तो यह अष्टाध्यायी की ही विस्तृत वृत्ति, परन्तु महाभाष्य में प्रतिपाद्य विषयों का भी समीक्षण तथा परिबृंहण करने के कारण यह महाभाष्य का भी विवेचक माना जा सकता है। इसके विषय में दीक्षित स्वयं लिखते हैं कि महाभाष्यरूपी समुद्र से उद्धृत किया गया यह कौस्तुभ है (फणिभाषित-भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः) फलतः दीक्षित जी स्वयं इस ग्रन्थ को महाभाष्य के सिद्धान्तों का निचोड़ मानते थे।

सिद्धान्त कौमुदी का विवरण आगे दिया गया है। भट्टोजिने अपनी इस मौलिक कौमुदी पर **प्रौढमनोरमा** नाम्नी विशद-विस्तृत व्याख्या रची। मनोरमा में खण्डन-मण्डन का प्राचुर्य है, महाभाष्य के ऊपर ग्रन्थकार की भूयसी आस्था है। फलतः उसी

---

१. माधवाचार्य-रचितात् वेदभाष्यमहार्णवात्।
श्रीभट्टोजिदीक्षितेन सार उद्ध्रियतेऽधुना॥ —श्लोक २।

के केन्द्रबिंदु से वे अपने व्याकरण गुरु शेषकृष्ण के प्रक्रिया-प्रकाश में निहित मतों के खण्डन करने से वे पराङ्मुख नहीं हुए। शेषकृष्ण के मतों के इस खण्डन से उनके पक्षवाले पण्डितों को क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। मनोरमा में दीक्षित द्वारा उद्भावित दोषों का निराकरण कर प्रक्रिया-प्रकाश की गौरव रक्षा दो विद्वानों ने की—(१) शेषकृष्ण के पौत्र तथा शेष वीरेश्वर के पुत्र शेष चक्रपाणि के 'परमतखण्डन' लिखकर। (२) तदनन्तर शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर के शिष्य पण्डितराज जगन्नाथ ने **'मनोरमा-कुचमर्दन'** लिखकर। तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजि-दीक्षित ने अपने पिता के मतों का फिर समर्थन करते हुए **'मनोरमा-मण्डन'** का निर्माण किया। इस प्रकार यह शास्त्रार्थ दोनों ओर से खूब चलता रहा।

सिद्धान्त कौमुदी

'प्रक्रिया-कौमुदी' प्रक्रिया-पद्धति का अनुसरण करण करने वाला प्राथमिक प्रयास था, इसलिए रामचन्द्राचार्य ने नितान्त आवश्यक सूत्रों के संकलन करने में ही अपने को सीमित रखा। 'सिद्धान्त-कौमुदी' इस शैली का चूडान्त परिबृंहित अध्यवसाय है, क्योंकि यहाँ अष्टाध्यायी के समग्र सूत्र तत्तत् प्रकरणों में सन्निविष्ट कर लिए गये हैं। पूर्वार्ध में सुबन्त, समास तथा तद्धित का विवरण है, उत्तरार्ध में तिङन्त के अन्तर्गत गणानुसारी धातुओं का संकलन, णिजन्तादिकों तथा भागद्वय में विभक्त कृदन्त का क्रमशः प्रतिपादन है। भट्टोजिदीक्षित ने वैदिक तथा स्वर प्रक्रिया को पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया है। वैदिकी तो अष्टाध्यायी के अध्यायानुकूल संकलित है, परन्तु स्वर-प्रक्रिया में यह नियम सर्वांशतः गृहीत नहीं किया गया है। प्रतीत होता है कि मूल-ग्रन्थ में केवल लौकिक शब्दों की सिद्धि अभीष्ट रही। फलतः उत्तर कृदन्त की समाप्ति के साथ ही कौमुदी की भी समाप्ति है[1]। स्वरवैदिकी की कल्पना अवान्तरकालीन प्रतीत होती है। मूल कौमुदी में सूत्रों की संख्या ३३८६ है, वैदिक प्रक्रिया में २६३ तथा स्वर प्रक्रिया में ३२९। इसप्रकार समस्त सिद्धान्त-कौमुदी में ३९७८ सूत्र व्याख्यात है। माहेश्वर सूत्रों को सम्मलित कर यह संख्या चार सहस्रों के पास तक पहुँच जाती है (तीन सहस्र नौ सौ बानवे = ३९९२ सूत्र)। 'स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका' के अनुसार सूत्रों की संख्या इससे केवल तीन ही अधिक बतलाई जाती है[2]। फलतः 'सिद्धान्त-

---

१. इत्थं लौकिक-शब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

२. चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्र-विवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥ —श्लोक १५।

कौमुदी' अष्टाध्यायी के समग्र सूत्रों का प्रक्रियानुसारी संकलन है। और यही उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

सिद्धान्त-कौमुदी के व्याख्याकार

अपने उत्पत्तिकाल से ही सिद्धान्त-कौमुदा ने टीका लिखने के लिए व्याकरण के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। यों तो मूललेखक भट्टोजिदीक्षित ने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी **प्रौढ़मनोरमा,** जिसके ऊपर अनेक टीका-प्रटीका उपलब्ध हैं। कौमुदी के ही व्याख्यारूप बृहत् शब्देन्दु-शेखर तथा लघुशब्देन्दुशेखर की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ अन्य टीकाकारों का उल्लेख करना अभीष्ट है।

कौमुदी के सर्वप्राचीन टीकाकार हैं **ज्ञानेन्द्र सरस्वती** जिनकी **तत्त्वबोधिनी** टीका प्रौढमनोरमा पर आश्रित होने से विशेष प्रख्यात तथा प्रामाणिक मानी जाती है। ये भट्टोजिदीक्षित के समकालीन माने जाते हैं। फलत: इनका समय है लगभग १५८० ई०–१६४० ई०। स्थान काशी। दूसरी लोकप्रिय तथा छात्रोपयोगी व्याख्या है—**बालमनोरमा** जिसके रचयिता है **वासुदेव** दीक्षित। महादेव वाजपेयी तथा अन्नपूर्णा के पुत्र थे ये वासुदेव दीक्षित। तँजोर के महाराष्ट्र राजा **शाहजी** (१६८४ ई०–१७१० ई०) के प्रधानमत्री प्रख्यात त्र्यम्बकराय मखी तथा सरफोजी प्रथम तथा तुक्कोजी महाराजाओं के (शासन-समय लगभग १७११ ई०–१७३५ ई०) मुख्य अमात्य आनन्दराय मखी के द्वारा सम्पादित यज्ञों में महादेव वाजपेयी ने अध्वर्यु का कार्य किया था। फलत: वासुदेव दीक्षित का समय १८ शती का पूर्वार्ध है (लगभग १७०० ई०–१७६० ई०)। ये वैयाकरण होने के संगमें प्रौढ मीमांसक भी थे। इनका ग्रन्थ **'अध्वरमीमांसा-कौतूहलवृत्ति'** पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर विशाल, विशद तथा परमत-विदूषक व्याख्या होने से नितान्त प्रख्यात है। इनकी कौमुदी-व्याख्या बालमनोरमा बहुत ही उपयोगी, सरल-सुबोध तथा नितान्त लोकप्रिय है। कौमुदी के लगभग बीस टीकाओं का नाम डा० आउफ्रेक्ट ने अपने 'बृहत्पुस्तक-सूची' में दिया है। परन्तु शिवराम की **विद्या-विलास** नाम्नी व्याख्या भी सिद्धान्त-कौमुदी के ही ऊपर है जिसका निर्देश उन्होंने नहीं किया है। शिवराम का पूरा नाम **शिवराम त्रिपाठी** था। ये त्रिलोकचन्द्र के पौत्र, कृष्णराज के पुत्र तथा गोविन्दराम, मुकुन्दराम और केशवराम के अग्रज थे। इन्होंने प्राचीन काव्यों पर टीका लिखने के अतिरिक्त नवीन काव्यों की भी रचना की। काव्यप्रकाश की **विषमपदी** नामक व्याख्या, वासवदत्ता, कादम्बरी तथा दशकुमारचरित की टीकायें, लक्ष्मीनिवासाभिधान नामक उणादि कोश आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। कौमुदी की टीका का नाम **कौमुदी-विद्याविलास** या केवल **विद्याविलास** ही है (**विद्याविलासः कौमुद्यां शिवराम-विनिर्मितः**)। इसकी अधूरी प्रति उपलब्ध है। इसमें नागेशभट्ट का तथा उनके दोनों

ग्रन्थ शब्देन्दुशेखर तथा पारिभाषेन्दुशेखर का नाम निर्दिष्ट है। फलतः शिवराम त्रिपाठी का समय नागेश से अर्वाक्कालीन है—१८वीं शती का मध्यभाग (लगभग १७२५ ई०–१७७५ ई०)। इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों का नाम-निर्देश टीका के आरम्भ में किया है[१]। ध्यातव्य है कि निर्दिष्ट नामों में उणादि कोश का ही नाम 'लक्ष्मीनिवासाभिधान' तथा कौमुदीवृत्ति का ही अभिधान 'विद्याविलास' है।

भट्टोजिदीक्षित का परिवार

दीक्षित का परिवार अपनी विद्वत्ता के लिए प्रख्यात था। उसके सदस्यों ने विभिन्न शास्त्रों में प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की है जिनका आदर तथा सत्कार आज भी निखिल भारतवर्ष में है। इन सदस्यों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **रङ्गोजीभट्ट**—कौण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के आरम्भ में 'पितरं रंगोजि-भट्टाभिधम्' द्वारा रंगोजिभट्ट को अपना पिता घोषित किया है। 'भट्टोजीदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये' कहकर भट्टोजिदीक्षित को अपना पितृव्य द्योतित किया है। फलतः भट्टोजिदीक्षित तथा रंगोजीभट्ट दोनों सहोदर भ्राता थे। रंगोजि ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैत-चिन्तामणि' के अन्त में भट्टोजिदीक्षित को अपना गुरु लिखा है और यह गुरुत्व भट्टोजिदीक्षित के अनुज होने पर ही उनमें सुसंगत होता है। फलतः रंगोजी कनिष्ठ भ्राता थे, ज्येष्ठ भ्राता मानना उचित नहीं। 'नृसिंहश्रम' के मतका उल्लेख इस ग्रन्थ में तीन बार है और तीनों स्थानों पर वे 'गुरुचरण' कहे गये हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका में वे अपने को 'आनन्दाश्रम-चरणविन्द-सेवा-परायण' लिखते हैं। फलतः रंगोजी इन

---

१. इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों का निर्देश इस टीका के आरम्भ में किया है—

काव्यानि पञ्चतनयो युग-सम्मिताश्च,
टीकास्त्रयोदश चैक उणादिकोशः।
भूपालभूषणमथो रसरत्नहारो
विद्याविलास इनपूर्वं फलाचिरब्दे॥
ग्रन्थान् मया विरचितान् परिशीलयन्तु।
शीलान्विताः सुमनसो मनसो मुदे मे॥

द्रष्टव्य—डा० गोडे–स्टडीज् इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री भाग १, पृ० २३७–२४१।

२. वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा।
भट्टोजीभट्टसंज्ञं तं गुरुं नौमि निरन्तरम्॥

—अद्वैतचिन्तामणि पृ० ७१।

दोनों स्वामियों के शिष्य थे—नृसिंहाश्रम तो उस युग के प्रौढ वैदुषीसम्पन्न, अद्वैत-दीपिका, वेदान्ततत्त्व विवेक, भेदधिक्कार आदि अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों के प्रख्यात लेखक थे जिनके शिष्य होने का गौरव भट्टोजिदीक्षित को भी प्राप्त था। रंगोजीभट्ट अद्वैत वेदान्त के पण्डित थे, क्योंकि इस विषय में इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं—(१) अद्वैतचिन्तामणि[1] तथा (२) अद्वैतशास्त्र-सारोद्धार। अद्वैतचिन्तामणि दो परिच्छेदों में विभक्त है, प्रथम में न्याय वैशेषिक के पदार्थों का विस्तृत खण्डन है तथा द्वितीय में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का यथाविधि विवरण उपन्यस्त है। (३) ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति जिसका निर्देश कौण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के पृष्ठ ६४ पर किया है (के० पी० त्रिवेदी का संस्करण)।

(२) **भानुजिदीक्षित**—भट्टोजिदीक्षित के ये पुत्र थे। इनका अपरनाम वीरेश्वर दीक्षित था। संन्यास लेने पर इनका नाम रामाश्रम था। इन्होंने भी ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें अमरकोश की टीका व्याख्यासुधा[2] (रामाश्रमी के नाम से ख्यात) विद्वत्ता के कारण बड़ी लोकप्रिय तथा प्रामाणिक मानी जाती है। धर्मशास्त्र-विषय में इनका ग्रन्थ है—दानविवेक तथा व्याकरण में मनोरमामण्डन जिसमें शेष चक्रपाणि के 'परमत-खण्डन' का खण्डन कर भट्टोजिदीक्षित के मत का मण्डन है।

(३) **कौण्डभट्ट**—रंगोजीभट्ट के पुत्र तथा भट्टोजिदीक्षित के भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट ने व्याकरण तथा न्याय-वैशेषिक पर ग्रन्थ लिखे हैं—(क) व्याकरण में—वैयाकरण सिद्धान्त-दीपिका, वैयाकरण-सिद्धान्तभूषण तथा उसका संक्षेप 'वैयाकरण सिद्धान्त-भूषणसार' और स्फोटवाद। (ख) न्याय-वैशेषिक में—तर्कप्रदीप (राजा वीरभद्र के अनुरोध से रचित), तर्करत्न (न्यायपदार्थदीपिका में उल्लिखित) तथा न्याय-पदार्थ-दीपिका (प्रकाशित)।

(४) **हरिदीक्षित**—भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा भानुजिदीक्षित के पुत्र थे। ये प्रौढ़ वैयाकरण माने जाते थे। नागोजीभट्ट के गुरु होने का गौरव इन्हें प्राप्त है। शब्दरत्न के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—लघु शब्दरत्न तथा बृहत् शब्दरत्न। इनके रचयिता के विषय में पण्डितों में मत-वैविध्य है। पण्डितों की मान्यता है कि लघु शब्दरत्न का प्रणयन नागेशभट्ट ने ही किया, परन्तु अपने पूज्य गुरु हरिदीक्षित के नाम पर उसे प्रचारित किया। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने शब्दरत्न की 'भाव प्रकाशिका' नाम्नी विस्तृत प्रमेय-बहुल व्याख्या लिखी। उसके आरम्भ में वे लिखते हैं—

---

१. सरस्वती भवन टेक्स्ट्स (संख्या २) में प्रकाशित (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; १९२०)।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३४४—३४५।

गुरुं नत्वा श्रये बद्धशब्दरत्नेन्दुशेखरम् ।

आशय है कि शब्दरत्नेन्दु शेखर के निर्माता अपने गुरु का प्रणाम कर टीका लिख रहा हूँ। पायगुण्डे के पूज्य गुरु नागेशभट्ट थे। अतः उनकी सम्मति में यह उनके गुरु की ही रचना है। नागेश ने अपने प्रौढ ग्रन्थों के नाम में 'इन्दु-शेखर' शब्द रखा है यथा शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर और आचारेन्दुशेखर। उसी शैली में इस ग्रन्थ का भी पूरा नाम था—शब्दरत्नेन्दुशेखर जो सामान्यतः संक्षिप्त 'शब्दरत्न' नाम से ही अभिहित किया जाता है। शिष्य को गुरु की सच्ची रचना से परिचित होना स्वाभाविक ही है। सुनते हैं बृहत्-शब्द-रत्न हरिदीक्षित की रचना है जिसका संक्षेप नागेश लघु शब्दरत्न में प्रस्तुत किया।

शब्दरत्न स्वयं प्रौढमनोरमा की टीका है और उसके ऊपर प्राचीन-अर्वाचीन नाना टीकायें समय-समय पर लिखी गई जिनमें वैद्यनाथ पायगुण्डे की भाव-प्रकाशिका तथा भैरव मिश्र की 'रत्न-प्रकाशिका' (प्रख्यात नाम भैरवी) नितान्त प्रसिद्ध हैं। भैरव मिश्र के पिता का नाम भवदेव तथा माता का सीता था। अगस्त्य गोत्र में में उत्पन्न हुए थे। नागेश की रचनाओं के व्याख्याता होने के नाते विशेष प्रसिद्ध हैं। १८ वीं शती में मध्य भाग में वर्तमान भैरव मिश्र व्याकरण के बड़े प्रौढ़ विद्वान् माने जाते थे।

कोण्डभट्ट

कोण्डभट्ट के वैयाकरण-भूषण तथा वैयाकरण-भूषणसार ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों के प्रकाशक ग्रन्थरत्नों में अन्यतम हैं। ये भट्टोजिदीक्षित के अनुज रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। व्याकरण के अतिरिक्त न्यायदर्शन के विषय में भी इन्होंने प्रौढ ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनके समय का परिचय भली-भाँति लगता है।

वैयाकरण-भूषण के एक हस्तलेख का काल १७६२ वि० (=१७०६ ई०) है तथा वैयाकरण-भूषणसार के हस्तलेख का समय १७०६ वि० = १६५० ई० है। इससे स्वतः सिद्ध होता है कि वैयाकरण-भूषण तथा उसके साररूप वैयाकरण-भूषण-सार का प्रणयन १६५० ई० से पूर्व ही हो गया था। न्याय-पदार्थदीपिका (अथवा पदार्थदीपिका[1]) में कोण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण और तर्करत्न नामक अपने ग्रन्थों का उल्लेख किया है। फलतः पदार्थदीपिका की रचना वैयाकरणभूषण के बाद की घटना है। वैयाकरणभूषण में उन्होंने अपने से प्राचीन अनेक आचार्यों तथा उनके

---

1. काशी संस्कृत सीरीज में प्रकाशित। इसमें वैयाकरणभूषण का निर्देश पृ० ३२ तथा ३६ पर तथा तर्करत्न का पृ० ५१ पर मिलता है।

प्रख्यात ग्रन्थों का विधिवत् नाम्ना निर्देश किया है। इनमें चार ग्रन्थकार प्रमुख हैं—(क) अप्पय दीक्षित[1] (भट्टोजि दीक्षित के गुरु), (ख) नृसिंहाश्रम[2] (भट्टोजि के दूसरे गुरु), (ग) भट्टोजि दीक्षित[3] (ग्रन्थकार के पितृव्य) तथा उनके तीनों प्रख्यात ग्रन्थ—मनोरमा, शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त-कौमुदी; (घ) रङ्गोजिभट्ट[4] (ग्रन्थकार के पिता)। कोण्डभट्ट का एक अन्य ग्रन्थ था तर्कप्रदीप जिसकी एक खण्डित प्रति डा० हाल को मिली थी जिन्होंने इसके विषय में लिखा है कि यह ग्रन्थ राजा भद्रेन्द्र के पुत्र राजा वीरभद्र के आदेश से निर्मित किया गया तथा इसमें यज्ञानुष्ठान को प्रोत्साहित करने के लिए राजा वीरभद्र की संस्तुति की गई है। यह ग्रन्थ न्यायलीलावती तथा अद्वैतचिन्तामणि को उद्धृत करता है। यहाँ राजा वीरभद्र का उल्लेख ग्रन्थ के काल-निर्णय में पूर्णतया सहायक है।

ये राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४५ ई०) भद्रप नायक के पुत्र थे। ये मूलतः इक्केरि के शासक थे परन्तु जब राजा शहाजी ने इक्केरि जीत लिया तब ये बेदनूर नामक स्थान में रहने लगे और बेदनूर के राजा के नाम से पीछे प्रख्यात हो गये। यह जगह मैसूर प्रान्त में था। इस स्थान के शासन वीरशैव मतानुयायी तथा केलदी नायक की आख्या से प्रख्यात थे। १६वीं शती के अन्त तथा १७वीं शती के पूर्वार्ध में इनका उस प्रान्त पर बड़ा व्यापक प्रभुत्व था। सबसे प्रख्यात थे वेंकटप्प नायक (राज्यकाल—१५९२–१६२९ ई०)। उनसे पुत्र थे भद्रप्प और पौत्र थे वीरभद्रप्प नायक (१६२९ ई०–१६४५ ई०)। वेंकटप्प ने पौत्र वीरभद्र को ही अपना उत्तराधिकारी चुना, क्योंकि भद्रप्प की मृत्यु उनके जीवित काल में ही हो गई थी। केलदि वंशी इन नायक राजाओं के साथ भट्टोजिदीक्षित के वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसकी पुष्टि मे प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि भट्टोजिदीक्षित, उनके अनुज रंगोजिदीक्षित या रंगोजिभट्ट तथा उनके भ्रातुष्पुत्र कोण्डभट्ट इन नायक राजाओं के आश्रय में रहते थे और उनके आदेश से महनीय ग्रन्थों का प्रणयन करते थे।

(क) भट्टोजिदीक्षित ने अपने तत्त्व कौस्तुभ नामक अद्वैत-वेदान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ की रचना केलदी वेंकटेन्द्र के आदेश से की। तत्त्वकौस्तुभ के आरम्भ में (हस्तलेख) इसका स्पष्ट उल्लेख है—

केलदी-वेङ्कटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषां मुदे।
ध्वान्तोच्छित्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभः॥

---

१. वैयाकरणभूषण (के० पी० त्रिवेदी का संकरण, १९१५; बाम्बे) पृ० २३२।
२. वही, पृ० ७७, ७८ तथा १६५।
३–४. वही, पृ० १।

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः ।
शाङ्करादपि भाष्याब्धेः तत्त्वकौस्तुभमुद्धरे ॥

भण्डारकर शोध संस्थान वाली हस्तलिखित प्रति में यही बात ग्रन्थ के अन्त में दुहराई गई है। यह पता चलता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण के कारण भट्टोजिदीक्षित 'विशुद्धाद्वैत-प्रतिष्ठापक' विरुद से भूषित किये गये थे। 'वेंकटेन्द्र' 'वेंकटप्प नायक' का ही नामान्तर है जिनके राज्यकाल का निर्देश ऊपर किया गया है। यह निर्देश भट्टोजि-दीक्षित के समय का पर्याप्त सूचक है कि वे लगभग १६२५ ई० या इसके आसपास तक अवश्य विद्यमान रहे।

(ख) केलदी के ये नायक राजा वीरशैव मतानुयायी थे। यह वंश 'इक्केरि' नामक स्थान पर राज्य करता था जो वर्तमान मैसूर राज्य के शिमोगा जिले में था। ये शासक शृंगेरी के शंकराचार्य-स्थापित अद्वैत मठ के प्रति विशेष आस्थावान् थे। इसलिए ये अद्वैत ग्रन्थों के निर्माण में विद्वानों को आश्रय तथा उत्साह प्रदान करते थे। भट्टोजि के अनुज रङ्गोजिभट्ट को भी केलदी वेङ्कटप्प नायक प्रथम से विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। इसका उल्लेख कोण्डभट्ट ने अपने वैयाकरण-भूषण के इस श्लोक में किया है—

विद्याधीश-वडेरु-संज्ञकयतिं श्रीमाध्वभट्टारकं
जित्वा केलदिवेङ्कटप्पसविधेऽप्यान्दोलिकां लब्धवान् ।
यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा
माध्वानां तमहं गुरुमुपगुरुं रङ्गोजिभट्टं भजे ॥

इस पद्य की आरम्भिक पंक्तियों का सारांश है कि रङ्गोजिभट्ट ने केलदि वेङ्कटप्प के दरबार में वडेरु नामक माध्वमतानुयायी यति को शास्त्रार्थ में जीता था जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें पालकी का सम्मान प्रदान किया। इसका तात्पर्य है कि भट्टोजि तथा उनके अनुज रङ्गोजि दोनों को वेङ्कटप्प नायक प्रथम ने विशिष्ट सम्मान प्रदान किया था।

(ग) रङ्गोजि के पुत्र कोण्डभट्ट को भी वेङ्कटप्प नायक के पौत्र तथा उत्तरा-धिकारी वीरभद्र नायक से विशेष सम्पर्क था। ऊपर कहा गया है कि कोण्डभट्ट ने अपना 'तर्कप्रदीप' नामक ग्रन्थ का प्रणयन राजा वीरभद्र के आदेश से किया था। इन वीरभद्र का राज्यपाल १६२९ ई० से लेकर १६४५ ई० तक है। फलतः इसी समय कोण्डभट्ट को केलदि-दरबार से मान्यता प्राप्त हुई थी। यह तैलंग ब्राह्मण कुटुम्ब रहता तो काशी में ही और वहीं इन्होंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थों का प्रणयन भी किया, परन्तु मैसूर में स्थित इस राज-परिवार से इस वंश का घनिष्ठ सम्पर्क था। इसका रहस्य यह है कि भट्टोजि-

दीक्षित आन्ध्रप्रदेशी तेलुगु ब्राह्मण थे। रङ्गोजि कालहस्तीश्वर के उपासक थे। अपने शिवोल्लास नामक ग्रन्थ में इस देवता के प्रति उनका भावपूर्ण संकेत निश्चयेन उन्हें इस क्षेत्र का निवासी सिद्ध कर रहा है—

ग्रन्थेऽस्मिन् तव विलसिते कालहस्तीश नित्यं।
कृत्वाऽभ्यासं भवति विजयी भक्तिभावैकनिष्ठः॥

भगवान् कालहस्तीश्वर का पुण्य क्षेत्र मद्रास के चित्तूर जिले में स्थित है और आज भी विशेष सम्मान और आदर का भाजन है। भट्टोजि का कुटुम्ब इसी भूखण्ड का मूल निवासी था। अतएव केलदि-नायकों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध होने की घटना पूर्णतया संगत है।

कोण्डभट्ट का ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य का सार अंश अपने शब्द-कौस्तुभ में संग्रह किया है और उसमें निर्णीत व्याकरण-दर्शन के तथ्यों को उन्होंने ७० श्लोकों में निबद्ध किया[1]। यह श्लोक-सप्तति व्याकरणदर्शन का नवनीत है। इसीके ऊपर कोण्डभट्ट ने विस्तृत व्याख्या-ग्रन्थों का प्रणयन किया—(१) वैयाकरण-भूषण जो विशिष्ट विद्वानों को लक्ष्य कर लिखा गया है और (२) वैयाकरण-भूषण-सार—जो सामान्य शिक्षितों को दृष्टि में रख कर निर्मित है। 'सार' शब्द से तो सद्यः यह पूर्व-ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप ही प्रकट होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें भी नये-नये विचार, नई-नई कल्पनायें हैं जो पूर्व ग्रन्थ से भिन्न हैं तथा विशिष्ट हैं।

श्लोक-सप्तति के श्लोकों का वर्गीकरण १४ विषयों में किया गया है जिनमें निर्णय या निरूपण है इन चौदह वैयाकरण प्रमेयों का—(१) धात्वर्थ (२) लकारार्थ, (३) सुबर्थ, (४) नामार्थ, (५) समास शक्ति, (६) शक्ति, (७) नञर्थ, (८) निपातार्थ, (९) भावप्रत्ययार्थ, (१०) देवताप्रत्ययार्थ, (११) अभेदैकत्व संख्या, (१२) संख्या विवक्षा, (१३) क्त्वप्रत्ययादीनामर्थ तथा (१४) स्फोट-निर्णय। एक ही ग्रन्थकार की एक ही मूलकारिका पर निबद्ध दोनों व्याख्यानों में साम्य होना अनिवार्य है, तथापि विषयनिर्णय की दृष्टि से दोनों में पार्थक्य भी है। प्रमेयों के निर्दिष्ट स्वरूप से ही ग्रन्थ की दार्शनिकता का पता चलता है। साथ ही साथ व्याकरण-दर्शन की मीमांसा के लिए इसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता है।

---

१. फणिभाषितभाष्याब्धे शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते॥
(वैयाकरण-भूषण की प्रथम कारिका)।

इन विषयों के ऊपर वेदान्तियों, नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों का भी पूर्णतया अनुशीलन तथा खण्डन-मण्डन कर वैयाकरणमत का प्रतिपादन बड़ी प्रौढ़ता के साथ किया गया है।

दोनों ग्रन्थों में वैयाकरण-भूषणसार की लोकप्रियता अधिक रही है। इसके ऊपर टीकाग्रन्थों की बहुल उपलब्धि होती है—जिनमें हरिदीक्षित की **काशिका**[1] विशद, विस्तृत तथा प्रमेय-बहुल है। ये हरिदीक्षित केशवदीक्षित के पुत्र थे। 'काले' इनकी उपाधि थी। फलतः ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। ये धनराज के अनुज थे। माता का नाम सखी देवी था। काशिका का रचना-काल १८५४ वि० सं० (=१७९८ ई०) है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र रचित **'वैयाकरणमतोन्मज्जिनी'** संक्षिप्त होने पर भी बड़ी सरल-सुबोध है तथा नवीन विषय का प्रतिपादन करती है। इसका रचना काल काशिका से पूर्ववर्ती है—१७ शतीका पूर्वार्ध, १६४० ई० के आसपास। मन्नुदेव की **लघु-भूषण-कान्ति** की भी प्रसिद्धि है। ये नागोजीभट्ट के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे की मुख्य शिष्य थे। वैद्यनाथ के पुत्र बालंभट्ट पायगुण्डे ने इन्हीं मनुदेव तथा महादेव की सहायता से प्रख्यात अंग्रेजी संस्कृतज्ञ डाक्टर हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५ ई०–१८३७ ई०) के आदेश से 'धर्मशास्त्र-संग्रह' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। प्रख्यात वैयाकरण भैरव मिश्र ने भी इसके ऊपर व्याख्या लिखी थी। शब्देन्दु-शेखर के ऊपर इन्हीं की भैरवी व्याख्या (**चन्द्रकला**) की समाप्ति सं० १८८१ (=१८२४ ई०) में हुई। फलत भैरव का काल १९वीं शती का पूर्वार्ध मानना यथार्थ है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य

(१) **वनमाली मिश्र**—भट्टोजिदीक्षित के शिष्यों में अन्यतम थे वनमाली मिश्र। ये कुरुक्षेत्र के निवासी थे तथा महेश मिश्र के पुत्र थे। इन तथ्यों का परिचय इनके एक ग्रन्थ की पुष्पिका से चलता है[2]।

(क) 'कुरुक्षेत्र-प्रदीप' नामक ग्रन्थ का वीकानेर की अनूप लाइब्रेरी में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में लिपि-काल १६८४ ई० है। इस ग्रन्थ में वैयाकरणभूषणसार की

---

१. काशिका-युक्त वैयाकरण-भूषणसार तथा मूल वैयाकरणभूषण का एक सुन्दर संस्करण श्री के० पी० त्रिवेदी ने अंग्रेजी में उपादेय टिप्पणों के साथ प्रकाशित किया है (बम्बई, १९१५ ई०)।

२. इति श्रीभट्टोजिदीक्षितशिष्य कुरुक्षेत्रनिवासि-महेशमिश्रात्मज वनमालिमिश्र विरचितायां सन्ध्या-मन्त्रव्याख्या ब्रह्मप्रकाशिका समाप्ता।

३५ कारिका व्याख्यात हैं। इसके अन्य हस्तलेख का समय १६५१ ई० है जिससे इसके निर्माण का काल इतः पूर्व अनुमित किया जा सकता है। (ख) सर्वतीर्थ-प्रकाश तथा (ग) सन्ध्या-मन्त्र-व्याख्या-ब्रह्मप्रकाशिका इनके अन्य ग्रन्थ हैं। (घ) 'वैयाकरण-मतोन्मज्जिनी' कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषण की वनमाली मिश्र रचित व्याख्या है जो अभी भी हस्तलेख के रूप में है। (ङ) सिद्धान्ततत्त्व-विवेक भी इनका ही ग्रन्थ है (हस्तलेख)।

इनके समय का पता नारायणभट्ट की 'दिव्यानुष्ठान पद्धति' के एक हस्तलेख से लगता है जिसे वनमाली मिश्र ने ही १६२१ ई० में स्वयं लिखकर तैयार किया था। वैयाकरण-भूषण के रचयिता कौण्डभट्ट राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४५ ई०) के समकालीन होने से १५८० ई०–१६४० ई० तक वर्तमान माने जा सकते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकर्ता वनमाली मिश्र का भी यही समय होना चाहिये (१६०० ई०–१६५० ई०)।

वनमाली नामक एक दूसरे विद्वान् का भी परिचय मिलता है जिन्होंने द्वैतवेदान्त के विषय में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनके प्रायः समग्र ग्रन्थ अभी तक हस्तलेखों के रूप में ही प्राप्त हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) न्यायामृत-सौगन्ध्य (या सौरभ)—व्यासतीर्थ के प्रख्यात ग्रन्थ न्यायामृत की व्याख्या।

(२) अद्वैतसिद्धि-खण्डन—मधुसूदन सरस्वती के प्रख्यात ग्रन्थ अद्वैतसिद्ध का खण्डन कर द्वैतवेदान्त का मण्डन-परक-ग्रन्थ। ध्यातव्य है कि मधुसूदन सरस्वती ने व्यासतीर्थ के न्यायामृत के खण्डन करने के लिए अपने प्रौढ ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का प्रणयन किया।

(३) न्याय-रत्नाकर; (४) भक्ति-रत्नाकर; (५) मारुत मण्डन; (६) श्रुति-सिद्धान्त; (७) जीवेशाभेद-धिक्कार; (८) प्रमाण-संग्रह; (९) ब्रह्मसूत्र सिद्धान्त-मुक्तावली; (१०) विष्णुतत्त्व-प्रकाश; (११) वेदान्तदीपिका; (१२) वेदान्त सिद्धान्त-संग्रह; (१३) न्यायमृत-तरङ्गिणी-कण्टकोद्धार; (१४) अभिनव परिमल; (१५) वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली।

(१६) माध्वमुखालङ्कार[1]—अप्पय दीक्षित ने 'मध्वमतमुखमर्दन' नामक ग्रन्थ में माध्वमत का खण्डन कर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की थी। इसी ग्रन्थ का यह खण्डन

---

१. सरस्वती-भवन टेक्स्ट सीरीज (नं० ६८) में प्रकाशित, वाराणसी, १९३६।

वनमाली मिश्र ने इस रचना में किया है। अप्पयदीक्षित तो अद्वैतवेदान्त के माननीय आचार्य थे। फलतः ग्रन्थ के अन्त में उनका यह चमत्कारी उपदेश है—

आद्रियध्वमिदमध्वदर्शनं व्यध्वगं त्यजत मध्वदर्शनम्।
शाङ्करं भजत शाश्वतं मतं साधवः स इह साध्युमाधवः॥

माध्वदर्शन का यह प्रौढ़ ग्रन्थ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। इसमें उद्धृत ग्रन्थों में 'मनोरमा' का उल्लेख महत्त्वशाली है जिससे ग्रन्थकार अप्पयदीक्षित तथा भट्टोजिदीक्षित—दोनों दीक्षितोंसे पश्चात्कालीन सिद्ध होता है—१७ शती का ग्रन्थकार। इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई सूचना के अनुसार ग्रन्थकार वृन्दावन में गोकुल के समीपस्थ ग्राम का निवासी तथा भारद्वाजगोत्रीय है। स्थान की भिन्नता तथा स्वरूप के भेद से यह ग्रन्थकार भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र से नितान्त भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता है, परन्तु दोनों ही समकालीन हैं। भट्टोजिशिष्य तो वैयाकरण तथा धर्मशास्त्री प्रतीत होते हैं, परन्तु ये विद्वान् माध्ववेदान्त के प्रौढ़ पण्डित तथा दार्शनिक हैं। दोनों को विभिन्न व्यक्ति मानना ही उचित प्रतीत होता है। माध्वदार्शनिक के गुरु का नाम मारुत आचार्य इसमें उल्लिखित है[1] और ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में इस ग्रन्थ को ही 'मारुतमण्डन' कहा गया है। फलतः 'माध्वमुखालंकार' तथा 'मारुतमण्डन'[2] एक ही अभिन्न ग्रन्थ प्रतीत होते हैं।

(२) भट्टोजिदीक्षित के दूसरे शिष्य का भी पता चलता है। इनका नाम था नीलकण्ठ शुक्ल। शब्दशोभा नामक व्याकरण ग्रन्थ में इन्होंने इस तथ्य को प्रकट किया है। अन्य ग्रन्थों में भी जीवन की इन्हीं बातों को प्रकट किया गया है[3]। नीलकण्ठ जनार्दन शुक्ल के पुत्र थे। वे किसी वच्छाचार्य की पुत्री के पुत्र (दौहित्र) थे। इनकी माता का नाम हीरा था। इनके दो गुरु थे—व्याकरण शास्त्र में भट्टोजिदीक्षित तथा अलङ्कारशास्त्र में श्रीमण्डनभट्ट। वैयाकरण होने की अपेक्षा वे रसिक साहित्यक ही अधिक थे। उनके पाँच ग्रन्थों का पता चलता है—

---

१. श्रीमन्मारुतमाचार्यं मायिमर्दन-तत्परम्।
मुनीन्द्रोपास्यपादाब्जं ज्ञानसिन्धुं नमाम्यहम्॥
—माध्वमुखालंकार, श्लोक २।

२. 'मारुतमण्डन' के हस्तलेख का विश्लेषण इसी परिणाम पर आलोचकों को पहुँचाता है। इस विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य—डा० गोडे—स्टडीज़ इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग २, पृ० २२४—२२६।

३. शुक्ल-जनार्दनपुत्रो वच्छाचार्यस्य दौहित्रः।
अभ्यस्त-शब्दशास्त्रो भट्टोजिदीक्षितच्छात्रः॥

(१) **शब्दशोभा**—यह व्याकरण शास्त्र का ग्रन्थ है। सरस्वतीभवन के हस्त-लिखित विभाग में इनके दो हस्तलेख हैं। इसके निर्माण का काल ग्रन्थान्त में दिया गया है[1] वि० सं० १६६३ = १६३७ ई०।

(२) **शृङ्गारशतक**—शृङ्गार-विषयक श्लोकों की रचना। रचना-काल १६३१ ई०।

(३) **चिमनीचरित**—बादशाह शाहजहाँ के एक मान्य अफसर अल्लावर्दी खाँ तुर्कमान के हरम की एक प्रेमगाथा को आधारित कर इस संस्कृत-काव्य का प्रणयन एक सौ एक श्लोकों में किया गया है। अल्लावर्दी खाँ की ज्येष्ठ पुत्र बहू थी चिमनी, जो उनके जेठे भाई की कन्या भी थी। दयादेव नामक सुभग-सुन्दर ब्राह्मण युवक महल की बहू बेटियों को शिक्षा देने के लिए रखा गया। चिमनी उस पर मुग्ध हो गई और इस दोनों की सरस केलिकथा का रसमय वर्णन नीलकण्ठ शुक्ल ने बड़ी भाव-भंगिमा से किया है। इस कथा का वर्णन 'चमनी-चरित' में किया गया है। रचना-काल है १६५६ ई०। कथा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है और मुगल दरबार की वास्तविक घटना पर आश्रित है।

(४) **ओष्ठ शतक**—(या अधर शतक)—किसी तन्वङ्गी युवती के ओठ का सरस वर्णन।

(५) **जारजात शतक**—परकीय काव्य को चुरा कर अपना बताने वाले तथा परकीय अर्थ को भी स्वकीय कहने वाले—दोनों व्यक्ति यहाँ जारजात कहे गये हैं। फलतः यह काव्य 'काव्यार्थचौर्य' की मीमांसा करता है और पर्याप्त रूपेण साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है।

यः परकीयं काव्यं स्वीयं ब्रूतेऽथ चोरयेद् योऽर्थम्।
इह तावपि प्रसक्तौ मन्तव्यौ जारजाततया॥

नीलकण्ठ शुक्ल की कविता सरस-सुबोध तथा चमत्कारी है। चिमनी-चरित के ऊपर काव्य लिखना ही उनके रसिक जीवन की एक मधुर झाँकी है। ओष्ठशतक का यह प्रथम श्लोक कितना सुन्दर है—

वदनकमलमुधन्मन्दहास-प्रचारं
विरचयति निकारं यत्-प्रसादात् सुधांशोः।
तदिदमधरबिम्बं जीवनं मीनकेतो-
र्मम वचसि विधत्तां धुर्यमाधुर्य-धाराम्॥

---

१. त्रिनवषडेकमब्देऽतिक्रान्ते विक्रमादित्यात्।
शिवरात्रौ शिवपदयोर्निजकृतिराधायि नीलकण्ठेन॥

वरदराज

(३) भट्टोजिदीक्षित के प्रौढ प्रख्यात शिष्य तो वरदराज ही थे जिनके ग्रन्थ—लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी—आज भी संस्कृत-शिक्षण के प्रमुख आरम्भिक ग्रन्थ हैं। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने की घटना का उल्लेख इन्होंने स्वयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी के आरम्भ में किया है—

नत्वा वरदराजः श्री गुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्त-कौमुदीम् ॥

काशी की तो यह प्रसिद्धि है कि सुयोग्य शिष्य न मिलने के कारण भट्टोजिदीक्षित प्रेत बन गये थे। वरदराज दक्षिण भारत से दीक्षित से व्याकरण पढ़ने के लिए जब आये, तब दीक्षितजी कैलासवासी हो चुके। किसी प्रकार दोनों का समागम हुआ और अपनी शास्त्रीय विद्या का यथाविधि वरदराज को दान करने के अनन्तर भट्टोजि प्रेतयोनि से मुक्त हो गये। इस किम्वदन्ती में कितना तथ्य है—कहा नहीं जा सकता।

वरदराज दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके चार ग्रन्थों का परिचय मिलता है—(१) लघु-सिद्धान्त कौमुदी; (२) मध्य-सिद्धान्त कौमुदी (३) सार-सिद्धान्त-कौमुदी तथा (४) गीर्वाणपदमञ्जरी। लघु-कौमुदी तथा मध्य कौमुदी—दोनों में कौन प्रथम प्रणीत है? प्रसिद्धि है कि वरदराज ने लघु-कौमुदी की ही रचना पहिले की, परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण तथा भट्टोजिदीक्षित की ही अरुचि होने के हेतु इन्होंने मध्यकौमुदी का प्रणयन किया। सार-सिद्धान्त कौमुदी भी सिद्धान्त कौमुदी का ही संक्षेप है, परन्तु मुद्रित न होने के कारण इसके बारे में विशेष नहीं कहा जा सकता।

गीर्वाणपदमञ्जरी[1] लघुकौमुदी का पूरक ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत के व्यावहारिक ज्ञान सम्पादन के हेतु प्रश्नोत्तर रूप में ग्रन्थ का विन्यास है आजकल के 'डाइरेक्ट मेथड' की यथार्थ पद्धति पर। साथ ही साथ १७ शती में काशी के सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन की एक भव्य झाँकी भी प्रस्तुत की गई है—मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक। वरदराज ने इसमें उस युग के लोकप्रिय पाठ्य व्याकरण ग्रन्थों में अपनी दोनों कौमुदी (लघु तथा मध्य), मनोरमा-सहित सिद्धान्त-कौमुदी, शब्दकौस्तुभ तथा लिङ्गानुशासन-वृत्ति का निर्देश किया है। इसमें काशी के घाटों का ही नही, प्रत्युत समग्र भारत के तीर्थों का भी उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत के तीर्थों में 'कालहस्तिक्षेत्र' का उल्लेख महत्त्व रखता है, क्योंकि इस क्षेत्र के देवता 'कालहस्तीश्वर' भट्टोजिदीक्षित के वंश के

---

१. सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा से प्रकाशित।

अधिकारी देवता थे। उस युग के छात्रों के जीवन तथा शिक्षण, संन्यासियों के आचार-व्यवहार, भोज्य पदार्थों के नाम तथा बाजार में वस्तुओं के दर आदि अनेक तथ्यों का संकलन इस पुस्तक को काशी के सामाजिक इतिहास की छानबीन के लिए उपयोगी सिद्ध कर रहा है। गीर्वाण पदमञ्जरी में लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी के नाम निर्दिष्ट हैं, परन्तु सारसिद्धान्त-कौमुदी का नहीं। इससे सारकौमुदी वरदराज की अन्तिम रचना प्रतीत होती है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने से वरदराज का काल १७ शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। दीक्षित का ग्रन्थ-निर्माण काल लगभग १५८० ई० तथा १६२० ई० के बीच माना गया है। इसकी पुष्टि लघुकौमुदी के अमेरिका में सुरक्षित १६२४ ई० में लिखित हस्तलेख से होती है। जब लघुकौमुदी का हस्तलेख १६२४ ई० का है, तब इसकी तथा मूलग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की रचना का काल सुतरां पूर्ववर्ती होगा चाहिए—१६०० ई० के आस पास। लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का प्रणयन निश्चित रूप से से १६२४ ई० से पूर्ववर्ती है और इस दशा में इन ग्रन्थों को भट्टोजि-दीक्षित से समीक्षण तथा आलोचन का लाभ अवश्य प्राप्त हुआ था—यह कल्पना कथमपि अन्याय्य नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार वरदराज का समय १६०० ई०—१६५० ई० तक मानना सर्वथा समुचित प्रतीत होता है। लघुकौमुदी की प्रशंसा करना व्यर्थ है। हमारी पाठशालाओं में संस्कृत में प्रवेश कराने वाला यही तो प्राइमर है और अखिल भारतीय ख्याति से मण्डित होना इसके लिए समुचित ही है।

नारायण भट्ट

केरल के सुविख्यात भक्त महाकवि नाराण भट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना होने का गौरव इस व्याकरण ग्रन्थ-**प्रक्रिया सर्वस्व**-को प्राप्त है। नारायण भट्ट भट्टोजिदीक्षित के ही समकालीन थे और दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी तथा भट्टतिरि का प्रक्रियासर्वस्व दोनों ही ग्रन्थ एक ही विषय पर समान शैली में निबद्ध होने की प्रतिष्ठा धारण करते हैं। नारायण भट्ट केरल के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि तथा 'नारायणीय' स्तोत्र-काव्य के प्रणेता के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रख्यात हैं, परन्तु वे महनीय कल्पना के धनी होने के अतिरिक्त प्रौढ वैदुषी के भी अधिकारी थे—यह तथ्य अनेकों को ज्ञात न होगा। उनकी विविध रचनाओं की परीक्षा से उनके समय तथा जीवनचरित का परिचय आलोचकों को पूर्णतया प्राप्त है।

नारायण भट्ट का जन्म मालाबार प्रान्त में नीला नदी के तीरस्थ किसी ग्राम में हुआ था। आरम्भिक जीवन उतना पवित्र तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं था, परन्तु उस युग के प्रख्यात विद्वान तथा ज्योतिर्विद् अच्युत पिषरोटि के सम्पर्क में आने पर उनके

जीवन का प्रवाह अध्ययन तथा भगवद्भक्ति की ओर मुड़ गया। उन्होंने निषरोटि से व्याकरण, अपने पिता से मीमांसा, दामोदर नामक पण्डित से तर्क तथा माधव नामक वैदिक से वेद का अध्ययन किया। उन्होंने वातरोग से आक्रान्त होने पर नाना औषधोपचार किया, परन्तु लाभ न होने पर गुरुवायूर मन्दिर के आराध्यदेव बालकृष्ण की उपासना में अपने को समर्पित कर दिया और भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की ललित-लीलाओं का कीर्तन इन्होंने 'नारायणीय' नामक भक्तिकाव्य में किया। फलतः रोग से मुक्त हो गये और कृष्णभक्ति को ही अपने जीवन का मुख्य संबल बना कर अपना जीवन-निर्वाह किया। इस काव्य के प्रणयन से नारायण भट्ट की कीर्ति समग्र केरल में व्याप्त हो गई। केरल के राजाओं ने—देवनारायण, वीरकेरल वर्मा (कोचीन के राजा), मान-विक्रम (कालीकट के राजा) तथा गोदा वर्मा (वटक्कुमुर के राजा)—इनका प्रभूत आदर तथा सम्मान किया। इनके काल के सूचक अनेक प्रमाण हैं। इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण तथा १७वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है (लगभग १५७५ ई०–१६२५ ई० तक[1])।

इनके काव्य ग्रन्थों की चर्चा तथा आलोचना लेखक ने अन्यत्र की है[2]। प्रक्रिया-सर्वस्व, धातुकाव्य तथा अपाणिनीय-प्रमाणता—इनके ये तीनों ग्रन्थ व्याकरण से सम्बद्ध हैं। 'अपाणिनीय-प्रमाणता[3]' लघु निबन्ध है जिसमें पाणिनि-व्याकरण से असिद्ध शब्दों की प्रमाणता प्रदर्शित की गई है। 'धातु-काव्य[4]' तीन सर्गों में विभक्त लघु काव्य है जिसमें पाणिनि के धातुओं के प्रयोग दिखलाये गये हैं। इन दोनों की अपेक्षा महत्तर, प्रौढ़ पण्डित्य का प्रदर्शक ग्रन्थ है—प्रक्रिया-सर्वस्व।

प्रक्रिया-सर्वस्व[5]

इस ग्रन्थ में पाणिनि के सूत्र प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न विषयों में विभक्त किये

---

१. इस काल निर्णय के लिए द्रष्टव्य—प्रक्रियासर्वस्व, तृतीय भाग, ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित, १९४८। भूमिका पृ० ७–१०।

२. लेखक का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' नवीन सं० १९६८, पृ० ३८६–३८८ (वाराणसी)।

३. पण्डित रमण नम्बूतिरि द्वारा प्रकाशित, ट्रिवेन्ड्रम (१९४२)।

४. काव्यमाला में प्रकाशित, सं० १०।

५. इस ग्रन्थ का प्रकाशन अंश : अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि में चार भागों में किया गया है—ग्रन्थ सं० १०६, १३९, १५३ तथा १७४ (१९५४ ई०)। इन खण्डों में ग्रन्थ का प्रथम खण्ड सुबन्त ही समाप्त होता है। इस ग्रन्थ का तद्धित-खण्ड तथा उणादि-खण्ड मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज के ग्रन्थांक १५ तथा ७ के रूप में प्रकाशित हैं।

गये हैं और इनके ऊपर नारायण ने स्वयं वृत्ति लिखकर तथा उदाहरण देकर सूत्रों को विधिवत् समझाया है। लेखक ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' को अपना आदर्श माना है और तद्वत् विषय का प्रतिपादन किया है। बीस खण्डों[1] में यह ग्रन्थ विभक्त है यथा संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, कृत्, तद्धित, समास, स्त्रीप्रत्यय, सुबर्थ, सुब्-विधि आदि। इन खण्डों में उणादि तथा वेद विषयक दो पृथक्-खण्ड है। इस व्याकरण ग्रन्थ के ऊपर भोज के व्याकरण ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का विपुल प्रभाव लक्षित होता है। भोज के प्रति नारायणभट्ट की भूयसी आस्था है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भोज ने गणपाठ तथा वार्तिकों को भी सूत्रों में सम्मिलित कर लिया है और इस लिए भोज व्याकरण की सूत्र-संख्या पणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा डेढ़गुनी अधिक है। नारायण भोज के टीकाकार 'दण्डनाथ' को नाथ नाम से उद्धृत करते हैं। प्रक्रियासर्वस्व में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नाम इस प्रकार हैं—काशिका, हर (हरदत्त, पदमंजरी-कार) न्यास, वृत्तिप्रदीप (रामदेव मिश्र रचित, प्रायः 'राम' शब्द के द्वारा), भाष्य तथा कैयट, माधवीया धातुवृत्ति, कौमुदी (प्रक्रिया-कौमुदी) तथा उसकी टीका 'प्रसाद' भी, अमर की दो टीकायें—क्षीरस्वामी की अमर-टीका तथा टीकासर्वस्व।

विशिष्टता

(१) लक्ष्य[2] यही है कि अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रक्रियानुसार विभाजन तथा लघ्वर्थ वृत्ति की रचना। सूत्रों की वृत्ति सरल तथा सुबोध है। विशेष शास्त्रार्थ का प्रसंग नहीं उठाया गया है। कभी-कभी वृत्ति श्लोकबद्ध दी गई है। जन्या (४।४।८२) शब्द का अर्थ श्लोकबद्ध है। यह वैशिष्ट्य सिद्धान्त-कौमुदी में लक्षित नहीं होता।

---

१. इन खण्डों का नाम-निर्देश इन श्लोकों में हैं—

> इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत् तद्धिताः समासश्च।
> स्त्री-प्रत्ययाः सुबर्थाः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः॥
> तिङपि च लार्थ-विशेषः सनन्त-यङ् यङ्लुकश्च सुब्धातुः।
> न्यायोधातुरुणादिश्छान्दसमिति सन्तु विंशतिः खण्डाः॥

२. वृत्तौ चारु न रूपसिद्धि-कथना रूपावतारे पुनः

> कौमुद्यादिषु चात्र सूत्रमखिलं नास्त्येव, तस्मात् त्वया।
> रूपानीतसमस्तसूत्रसहितं स्पष्टं मितं प्रक्रिया
> सर्वस्वाभिहितं निबन्धनमिदं कार्यं मदुक्ताध्वना॥

प्रक्रिया सर्वस्व प्रथम खण्ड ५ श्लोक। यहाँ कौमुदी से तात्पर्य प्रक्रियाकौमुदी से है, सिद्धान्तकौमुदी से नहीं॥

(२) नारायणभट्ट यथासाध्य पाणिनि के सूत्रों का क्रमशः विवरण देते हैं, तद्धित प्रकरण में तो यह नितान्त सत्य है। उदाहरणों का प्राचुर्य इसकी महती विशिष्टता है। ५।२।८२ सूत्रों के उदाहरण में जहाँ भट्टोजिदीक्षित केवल दो तीन उदाहरणों से सन्तोष करते हैं, वहाँ नारायण कम से कम बीस उदाहरण देते हैं और वह भी श्लोकबद्ध।

(३) लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों के विधान की ओर लेखक जागरूक है। भवे छन्दसि (४।४।११०) के अधिकार में आने वाले आठ सूत्रों के विवरण में इनका कथन है—भवे छन्दसीत्यधिकारेऽपि केचित् लोके दृष्टाः (तद्धित खण्ड पृष्ठ १२१)। और कविजनों के प्रयोग नारायण के इस कथन के पर्याप्त पोषक हैं—

(क) 'सगर्भ्य' का महावीर चरित में प्रयोग है ('सहतनुज-सगर्भ्यं प्रेक्ष्य रक्षः सहस्रैः' ६।२७);

(ख) अग्र्य का प्रयोग—उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्याम् (रघु ६।७३); क्षिति-रिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् (रघु ८।२८)।

(ग) शिवताति का प्रयोग

प्रयत्नः कृत्स्नोऽयं फलतु, शिवतातिश्च भवतु (मालती माधव; ६।७) मा पूतना· त्वमुपगाः शिवतातिरेधि (वहीं ९।४९)।

(घ) अरिष्टताति का प्रयोग

तदत्रभवतामरिष्टतातिमाशास्महे (महावीरचरित १।२४)।

(ङ) 'परिपन्थी' शब्द को पाणिनि वेदविषयक ही मानते हैं (५।२।८९)। काशिका तथा पदमञ्जरी इसे समर्थित करती हैं (भाषायां तु परिपन्थिशब्दस्यासाधुः प्रयोगः-पदमञ्जरी); परन्तु नारायण इसे लोक-प्रयुक्त मानने के पक्षपाती हैं (परि-पन्थी-लोकेऽपीष्टः, तद्धित-खण्ड पृष्ठ १७०)। नारायण का मत महाकवि प्रयोगों से परिपुष्ट तथा समर्थित है—नाभविष्यमहं तत्र यदि तत्-परिपन्थिनी (मालती माधव ९।३०) पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिश्चासीत्; मुद्राराक्षस ५।७)।

(४) वार्तिकों का प्रक्रियासर्वस्व में संकलन है। वे महाभाष्य से तथा काशिका से यहाँ उद्धृत किये गये हैं। परन्तु उनका स्वरूप तथा शब्दों का क्रम कभी-कभी महाभाष्य से सुतरां भिन्न पड़ता है। कभी-कभी महाभाष्य में दिये गये सूत्रों से भिन्न सूत्रों में ये वार्तिक यहाँ उपलब्ध होते हैं। वार्तिकों के स्वरूप-निर्णय के निमित्त प्रक्रिया-सर्वस्व नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। नारायणभट्ट ने श्लोकों की भी अवतारणा अपनी वृत्ति में की है। ये श्लोक कहीं उदाहरण, कहीं अर्थ और कहीं प्राचीन आचार्यो के मत उपन्यस्त करते हैं।

व्याकरण के विषय में नारायणभट्ट का मत

नारायणभट्ट व्याकरण के विषय में बड़ा उदारमत रखते हैं। वे भाषा को व्याकरण की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। व्याकरण भाषा का—लोक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दावली का—अनुगमन करता है; भाषा व्याकरण की दासी नहीं होती। फलतः पाणिनि के सूत्रों द्वारा ननिष्पन्न शब्दों को वे अप्रमाणिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस विषय में उनकी उदार उक्ति है—

> 'पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रं'
> केऽप्याहुः, तत् लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूल-वाक्यम्।
> बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा
> पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः।

कुछ लोग कहते हैं कि 'चन्द्र, भोज आदि के सूत्र प्रमाणिक नहीं हैं, प्रमाण तो पाणिनि के ही सूत्र हैं'। यह कथन बहुत ही हल्का है, क्योंकि बहुवेत्ता वैयाकरणों के वाक्य निर्मूल नहीं हो सकते। किसी ग्रन्थ की बहुल प्रसिद्धि गुण-मूलक होती है। पाणिनि से पूर्व भी तो व्याकरण था। पाणिनि प्राचीन आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हैं जहाँ विरोध होने पर हम विकल्प की कल्पना करते हैं।

ऐसी उदार-भावना के धनी वैयाकरण द्वारा अपाणिनीय प्रयोगों के प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन आश्चर्यजनक घटना नहीं है। ये भोज की व्यापक दृष्टि के भूरि प्रशंसक हैं। तभी तो ये अपने 'अपाणिनीय-प्रमाणता' में अपने विशाल भावना की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते हैं—

> दृष्ट्वा शास्त्र-गणान् प्रयोग-सहितान् प्रायेण दाक्षीसुतः
> प्रोचे, तस्य तु विच्युतानि कतिचित् कात्यायनः प्रोक्तवान्।
> तद्-भ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलिमुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचित्
> लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः॥

इसीलिये भट्टतिरि का कथन है—

> विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्त्युक्तं नाद्रियामहे।
> मुरारिभवभूत्यादीन् अप्रमाणीकरोतु कः॥
> 'विश्राम शाखिनं वाचां' 'विश्रामो हृदयस्य च'।
> विश्रामहेतोरित्यादि महान्तस्ते प्रयुञ्जते॥

फलतः मुरारि, भवभूति आदि के द्वारा प्रयुक्त होने वाले 'विश्राम' शब्द को कौन अप्रमाण मान सकता है? वृत्ति भले ही इसे अपशब्द घोषित करती रहे, लोकव्यवहार

इसकी क्या कभी परवाह करता है ? वह तो कविप्रयोग को सिद्ध मान कर 'विश्राम' के प्रयोग से कभी विराम नहीं लेता ।

दुःख है कि इस सुभग-सुन्दर ग्रन्थ का प्रचार नहीं हो सका । 'सिद्धान्त-कौमुदी' आगे बढ़ कर अखिल भारतीय प्रख्याति से मण्डित हो गई, परन्तु 'प्रक्रिया-सर्वस्व' केरल की प्रान्तीय ख्याति से आगे नहीं बढ़ सका । मेरी दृष्टि में नारायणभट्ट की पूर्वोक्त उदारभावना किसी अंश में सम्भवतः बाधक सिद्ध हुई । नारायणीय के प्रणेता का कवित्व उनके वैयाकरणत्व का सद्यः विरोधी सिद्ध हुआ । नारायण की गणना कवियों की परम्परा में ही मान्य हुई, वैयाकरणों की श्रेणी में नहीं ।

नागेश भट्ट

भट्टोजि के भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण तथा वैयाकरणभूषणसार लिखा जिनमें व्याकरण के दर्शन-सम्बन्धी मौलिक तथ्य निर्णीत हैं । इनके पौत्र हरिदीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' पर 'शब्दरत्न' प्रणयन कर मूल के रहस्यों का यथाविधि प्रतिपादन किया । परन्तु हरिदीक्षित के शिष्य नागोजिभट्ट या नागेशभट्ट को ही नव्य-व्याकरण के प्रतिष्ठापक होने का गौरव प्राप्त है । नागेश का काशी में ही साहित्यिक जीवन व्यतीत हुआ और यहीं पर उन्होंने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया था जिससे जयपुर-संस्थापक महाराजा जयसिंह के द्वारा निमन्त्रित होने पर भी वे इसी कारण उनके विश्रुत 'अश्वमेध' में सम्मिलित न हो सके । यह प्रख्यात 'अश्वमेध' आषाढ़ बदी द्वितीया संवत् १७९९ (= १७४२ ई०) को जयपुर में सम्पन्न हुआ था जिसका विशेष वर्णन कृष्णकवि ने अपने 'ईश्वरविलास काव्य' (चतुर्थ सर्ग) में विस्तार से किया है । फलतः हम नागेशभट्ट का समय १७वीं शती का अन्तिम चरण तथा १८वीं का पूर्वार्ध (१६७५—१७४५ ई० लगभग) भली-भाँति मान सकते हैं ।

नागेश महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे । पिता का नाम था शिवभट्ट तथा माता का सती देवी । उनका उपनाम 'काले' था । फलतः महाराष्ट्रीय परम्परा से उनका पूरा नाम होगा—नागेश शिवभट्ट काले । प्रयाग के समीपस्थ शृंगबेरपुर (गंगातीरस्थ वर्तमान सिंगरौर) के राजा राम के द्वारा ये सम्मानित हुए थे । इस तथ्य का इन्होंने स्वयं उल्लेख किया है[1] । प्रसिद्धि है कि काशी के सिद्धेश्वरी मुहल्ले में इनका घर था जिसे इन्होंने अपनी कन्या के विवाह में दान कर दिया । नागेश की इस कन्या के वंशज आज भी काशी में विद्यमान बतलाये जाते हैं ।

---

१. याचकानां कल्पतरोररि-कक्षहुताशनात्
शृंगवेरपुराधीश—रामतो लब्धजीविकः ॥

नागेश की वैदुषी चतुरस्र थी। इन्होंने व्याकरण, अलंकार, धर्मशास्त्र तथा दर्शन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया, परन्तु ये मूलतः वैयाकरण थे और वैयाकरण-रूप में ही इनकी सार्वभौम प्रसिद्धि है। व्याकरणशास्त्र के मौलिक तथा टीका-ग्रन्थों की रचना ने इन्हें लोकविश्रुत बना दिया। बृहत् शब्देन्दु शेखर तथा लघु-शब्देन्दु-शेखर तथा प्रदीपोद्योत इनके प्रख्यात व्याख्या-ग्रन्थ हैं। परिभाषेन्दु-शेखर तथा मंजूषा (बृहद्, लघु तथा परमलघु त्रिविध संस्करणों में) इनके मौलिक ग्रन्थ हैं जिनमें व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्त विस्तार के साथ व्याख्यात तथा समालोचित हैं। नव्यन्याय की भाषा तथा शैली के आश्रयण के कारण नागेश नव्य-व्याकरण के प्रतिष्ठापक रूप से सर्वत्र विख्यात हैं। इन ग्रन्थों के ऊपर टीका-प्रटीकायों का विशाल साहित्य विद्यमान है। इन्हीं वैयाकरणों की कर्मस्थली होने के कारण काशी को ख्याति पण्डितगोष्ठी में आज भी अक्षुण्ण है।

नागेश के आश्रयदाता राजा रामसिंह विसेन क्षत्रिय थे। वे भगवान् रामचन्द्र के विशेष भक्त थे। उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' की टीका लिखी जिसके आरम्भ में उन्होंने अपने को 'नागेशभट्ट का शिष्य' कहा है—

> **विसेन-वंशजलधौ पूर्णशीतकरोऽपरः।**
> **तेन श्रीरामभक्तेन सर्वा विद्याः प्रजानता॥**
> **शृंगवेरपुरेशेन रिपुकक्षदवाग्निना।**
> **अर्थिनां कल्पवृक्षेण विद्वज्जन-सभासदा॥**
> **नागेशभट्ट-शिष्येण बध्यते रामवर्मणा।**
> **सेतुः परोपकृतयेऽध्यात्मरामायणाम्बुधौ॥**
>
> **(अध्यात्म-रामायण की टीका)।**

वाल्मीकि रामायण की तिलक नाम्नी व्याख्या भी इसी राम-वर्मा की है। इसीलिए वह 'रामीया' कही गयी है। युद्ध-काण्ड के अन्त में राम वर्मा ने अपने को भट्ट-नागेश का पूजक तथा सत्कर्ता माना है जो उनके शिष्यत्व का परिचायक है—

> **भट्ट-नागेश-पूज्येन सेतुः श्रीरामवर्मणा।**
> **कृतः सर्वोपकृतये श्रीमद्रामायणाम्बुधौ॥**

उत्तर काण्ड में भी यही बात कही गयी है। तिलक टीका को नागेश भट्ट की रचना मानने के लिए मेरी दृष्टि में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। राम वर्मा ने ही दोनों रामायणों की टीका लिखी—वाल्मीकीय की तथा अध्यात्म की।

नागेशभट्ट के ग्रन्थ

नागेशभट्ट की सर्वोत्तम वैदुष्यमण्डित रचना व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित है,

परन्तु उनकी लेखनी धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि विषयों पर भी चलती थी और उन विषयों में भी उनके गौरवमय ग्रन्थ हैं। हस्तलेखों की सहायता से इन ग्रन्थों के रचनाकाल का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है तथा उनके पौर्वापर्य का भी संकेत किया जा सकता है।

(१) नागेश के सापिण्ड्य-प्रदीप का हस्तलेख १७२५ शक संवत् (अर्थात् १८०३ ई०) का प्राप्त है। इसमें उन्होंने तीन महनीय धर्मशास्त्रियों का उल्लेख किया है जो इनके काल-निर्णय में पूर्णतः सहायक है—

(क) **शंकर भट्ट**—(लगभग १५४०–१६०० ई०) कमलाकर भट्ट के (जिनका निर्णय-सिन्धु १६१२ ई० में लिखा गया) भ्रातुष्पुत्र थे। द्वैतनिर्णय तथा अन्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया।

(ख) **नन्दपण्डित**—धर्मशास्त्र के प्रख्यात लेखक। समय लगभग १५९५ ई०–१६३० ई०।

(ग) **अनन्तदेव**—स्मृति-कौस्तुभ के रचयिता। समय १६४५ ई०–१६७५ ई०। इस उल्लेख का तात्पर्य है कि नागेश भट्ट के समय की पूर्वसीमा अनन्तदेव का काल है। फलतः ये १६७० ई० से पूर्वकालीन नहीं माने जा सकते।

(२) नागेश ने अपने 'वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा' में अपने 'महाभाष्य प्रदीपोद्योत' का उल्लेख किया है तथा महाभाष्य प्रदीपोद्योत में वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा का। इस परस्परोल्लेख से स्पष्ट है कि नागेश ने इन दोनों ग्रन्थों का साथ-ही-साथ प्रणयन किया। इन दोनों की रचना १७०८ ई० से पूर्व ही हुई, क्योंकि इसी वर्ष का उज्जैनी सिन्धिया ओरियण्टल इन्सिच्यूट में मंजूषा का हस्तलेख उपलब्ध है। इनका रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई० के बीच में कभी होना चाहिये। ये दोनों ही ग्रन्थ पाण्डित्य-विषय में प्रौढ़ता के निदर्शन हैं। यदि इस समय नागेश भट्ट का वय तीस वर्ष माना जाय, तो उनका जन्म १६७० ई०–१६८० ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है (१६७५ ई० के आस-पास)।

(३) नागेश ने भानुदत्त की रसमञ्जरी की व्याख्या रसमञ्जरी-प्रकाश १७१२ ई० से पूर्व ही लिखी, क्योंकि यह इण्डिया लाइब्रेरी में रक्षित इस ग्रन्थ के हस्तलेख का काल है।

(४) नागेश ने गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रकाश-व्याख्या 'काव्यप्रदीप' पर उद्योत में तथा रसगंगाधर की अपनी व्याख्या (गुरु-मर्मप्रकाशिका) में मंजूषा का उल्लेख किया है। फलतः इन दोनों की रचना मंजूषा के निर्माण के अनन्तर हुई सम्भवतः १७०५ ई० बाद।

(५) नागेश के 'आशौच-निर्णय' की हस्तलिखित प्रति का (बाम्बे विश्वविद्यालय लाइब्रेरी में) लिपिकाल १७२२ ई० है। फलतः यह ग्रन्थ इससे पूर्व निर्मित हुआ।

(६) लघुमञ्जूषा की रचना वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा के (सम्भावित रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई०) अनन्तर हुई। लघुमञ्जूषा में उल्लिखित होने के कारण 'बृहत् शब्देन्दुशेखर' का प्रणयन इससे पूर्व ही हुआ।

(७) 'बृहत् शब्देन्दुशेखर'[1] के अनन्तर रचित लघु-शब्देन्दुशेखर में महाभाष्य-प्रदीपोद्योत का निर्देश उपलब्ध होता है तथा शब्देन्दुशेखर में उद्योत उद्धृत है। अतः लघु-शब्देन्दुशेखर का रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई० से पीछे होना चाहिये। उद्योत का उल्लेख होने से हम कह सकते हैं कि शब्देन्दुशेखर तथा उद्योत एक साथ ही लिखे गये।

(८) परिभाषेन्दु-शेखर में वै० सि० मञ्जूषा, महाभाष्य-उद्योत, बृहत् शब्देन्दु-शेखर के निर्देश मिलने से स्पष्ट है कि इसकी रचना इन तीनों ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर हुई। प्रतीत होता है कि पारिभाषेन्दु-शेखर नागेश के वैयाकरण ग्रन्थों की परम्परा में सबसे अन्तिम है।

(९) नागेश ने मञ्जूषा के तीन संस्करण प्रस्तुत किया था—गुरुमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा। परन्तु अन्तिम दोनों ग्रन्थ प्रख्यात तथा प्रचलित हैं। वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ही गुरुमञ्जूषा का प्रातिनिध्य करती है। नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 'लघुमञ्जूषा' की कला नाम्नी अपनी टीका में गुरुमजूषा का बहुशः स्मरण किया है।

(१०) लघुशब्देन्दु-शेखर की रचना बृहत्-शब्देन्दु-शेखर के अनन्तर हुई। लघु-शब्देन्दु का सबसे प्राचीन हस्तलेख १७२१ ई० का बड़ोदा में है। फलतः इस ग्रन्थ का प्रणयन १७०८ ई०–१७२१ ई० के बीच में कभी किया गया।

(११) काव्य-प्रदीपोद्योत में वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा का उल्लेख है तथा इसका सर्वप्राचीन हस्तलेख १७५४ ई० का है। फलतः इसकी रचना १७०५ ई० के बाद तथा १७५४ ई० से पूर्व में कभी हुआ था।

इस प्रकार नागेश के ग्रन्थों का पौर्वापर्य निश्चित किया जा सकता है। ऊपर सिद्ध किया गया है कि नागेश का जन्म लगभग १६७५ ई० में हुआ तथा वे १७४२ ई० तक अवश्य जीवित थे। कहा गया है कि इसी वर्ष जयपुर के संस्थापक महाराजा

---

१. इसका प्रकाशन तीन खण्डों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से हुआ है १९६० ई०–६२ ई०। प्रथम खण्ड की पृष्ठ संख्या ६२ + ७८६ = ८४८।

सवाई जयसिंह ने अपना विश्रुत अश्वमेध किया था जिसमें निमन्त्रित होने पर भी क्षेत्र-संन्यास लेने के कारण नागेश सम्मिलित न हो सके थे—ऐसी प्रख्यात किम्वदन्ती है। फलतः नागेश का आविर्भाव लगभग १६७५ ई०—१७४५ ई० तक मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं होगा।

नागेश का वैशिष्ट्य

नागेश का वैदुष्य व्याकरण-शास्त्र में अनुपम था। अपने प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना के कारण वे अपने युग में भी प्राचीन शास्त्रों के मर्मवेत्ता तथा विशिष्ट वैदुष्य-मण्डित पण्डित माने जाते थे। उद्योत के द्वारा महाभाष्य के तथा शब्देन्दु-शेखर (बृहत् तथा लघु द्विविध संस्करण) के द्वारा प्रौढ़-मनोरमा के गम्भीर रहस्यों की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में वे सर्वथा समर्थ हैं—इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य है। परिभाषेन्दु-शेखर में उन्होंने विशेष अनुशीलन के द्वारा परिभाषाओं के स्वरूप तथा क्षेत्र का विशिष्ट प्रतिपादन कर विषय को नवीनता के साथ उपस्थित किया। आज के व्याकरण युग को 'शेखर-युग' की संज्ञा देना नितान्त समुचित है। शेखर इतना छाया हुआ है आज हमारे व्याकरण अनुशीलन पर कि इसके मूलभूत ग्रन्थ महाभाष्य का अध्ययन-अध्यापन नगण्य हो गया है। आज शेखर का विजय नागेश के पाडित्य का ही डिण्डिम-घोष है।

परन्तु यथार्थ में नागेश का वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ही सर्वाधिक मौलिक ग्रन्थ है जो पाणिनीय दर्शन के विस्मृत स्वरूप को विद्वानों के सामने पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत करने में कृतकार्य हुआ है। व्याकरण-दर्शन का बीज तो अष्टाध्यायी में ही है, उसे अंकुरित किया दाक्षायण व्याडि ने अपने लक्ष-श्लोक-परिमाण वाले 'संग्रह' में, उसे पल्लवित-पुष्पित किया पतञ्जलि ने महाभाष्य में और उसे फल-सम्पन्न बनाया भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में। परन्तु वाक्यपदीय के लुप्तप्राय अध्ययन तथा अनुशीलन को १८वीं शती के मध्य-भाग में नागेशभट्ट ने सिद्धान्त-मञ्जूषा के द्वारा पुनः प्रवर्तित किया और वैयाकरणों का ध्यान इस विषय की ओर बलात् आकृष्ट किया। व्याकरण के दर्शनत्व की प्रतिष्ठा की ओर नागेश की समस्त वैदुष्य की धारा अग्रसर होती है। उन्होंने वाक्यपदीय के अध्ययन की ओर विद्वानों का जो ध्यान आकृष्ट किया, वह क्षणिक ही रहा। उसे स्थायिता प्राप्त न हो सकी। यह सौभाग्य का विषय है कि विद्वानों की दृष्टि आजकल वाक्यपदीय के गम्भीर तथा सर्वाङ्गीण अनुशीलन के प्रति आकृष्ट हुई है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि ने पाणिनीय तन्त्र के दार्शनिक तथ्यों की अवगति के लिए व्याकरण आगम की ओर स्पष्ट संकेत किया है। यह आगम शैव-आगम की ही अन्यतम धारा थी। आज शैव आगम की विभिन्न धाराओं के तथ्यों से हमारा परिचय बढ़ता जा रहा है। उत्तर भारत में काश्मीर का अद्वैतवादी त्रिकदर्शन तथा दक्षिण भारत में द्वैतवादी शैवसिद्धान्त उसी शैवागम

के ऊपर आधारित दार्शनिक सम्प्रदाय हैं। व्याकरण-दर्शन का भी इस शैवागम के साथ पूर्ण सम्बन्ध है—भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ में इसका विशद संकेत किया है। इस शैवागम के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर ही व्याकरणदर्शन अपनी विशद अभिव्यक्ति कर सकता है। नागेश के ग्रन्थों में इस शैवागम के सिद्धान्तों के साथ व्याकरण का कितना सामञ्जस्य स्थापित किया गया है—यह तो उनके ग्रन्थों के गम्भीर अनुशीलन-अध्ययन के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। परन्तु आलोचकों के चित्त में यह सन्देह जागरूक हैं कि नागेश ने शैवागम की अपेक्षा अद्वैत-वेदान्त के प्रकाश में ही पाणिनीय दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की है। लगभग एक सहस्र वर्षों के अनन्तर वाक्यपदीय के महत्त्व की ओर विद्वानों के ध्यान आकृष्ट करने के लिए पण्डित-समाज नागेशभट्ट का सर्वदा अधमर्ण रहेगा। और नागेश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का यही मर्म है।

नागेश की गुरु-शिष्यपरम्परा

नागेश भट्ट ने महाभाष्य का अध्ययन भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से किया था तथा न्यायशास्त्र का अध्ययन रामराम भट्टाचार्य से किया था जो काशी में उस युग के प्रख्यात तर्कवेत्ता थे। नागेश को अपने गुरु पर असीम श्रद्धा थी और श्री रामराम की अनुकम्पा से न्यायशास्त्र के अपने गम्भीर ज्ञान पर भी उन्हें सविशेष गर्व था। इस तथ्य का संकेत उन्होंने लघुमञ्जूषा में इन शब्दों में स्वयं किया है—

> **अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्र-हरिदीक्षितात्।**
> **न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः॥**
> **'दृढस्तर्केऽस्य नाभ्यास' इति चिन्त्यं न पण्डितैः।**
> **दृषदोऽपि हि संतीर्णाः पयोधौ रामयोगतः॥**

इन दो गुरुओं के अतिरिक्त इनके अन्य गुरु का परिचय हमें प्राप्त नहीं है।

इनके अनेक शिष्य रहे होंगे; यह कल्पना अनुचित नहीं है, परन्तु इन शिष्यों में अग्रणी थे—**वैद्यनाथ पायगुण्डे**। इन्होंने अपने गुरु की प्रायः समग्र वैयाकरण ग्रन्थों के ऊपर गुरु की मर्मप्रकाशिका व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें नागेश के भावों का विशद विशदीकरण है। इनके पिता का नाम महादेव भट्ट था। गुरु के समान ही वैद्यनाथ भी व्याकरण के पारगामी पण्डित थे। इनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) शब्दकौस्तुभ की टीका (प्रभा); (२) शब्दरत्न की टीका (भाव-प्रकाशिका); (३) उद्योत की टीका (छाया); (४) लघुशब्देन्दुशेखर की टीका (चिदस्थि-माला); (५) परिभाषेन्दु की टीका (गदा और काशिका); (६) मञ्जूषा की टीका (कला); (७) लघुशब्दरत्न की टीका तथा (८) र प्रत्यय का खण्डन। ये टीकायें प्रमेय-बहुल, प्रख्यात तथा प्रकाशित हैं।

वैद्यनाथ पायगुण्डे के पुत्र का नाम था—बालम्भट्ट पायगुण्डे। ये वैयाकरण से बढ़कर धर्मशास्त्री थे। अतः धर्मशास्त्र के इतिहास में इनका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने 'मिताक्षरा' के ऊपर लक्ष्मी नामक व्याख्या लिखी जिसके आचार-खण्ड और व्यवहार-खण्ड का ही प्रकाशन हो चुका है। बालम्भट्टी के अन्वर्थक नाम्ना प्रख्यात यह ग्रन्थ वाराणसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियों का उपजीव्य मुख्य ग्रन्थ है। इन्होंने डा० कोलब्रूक के आदेश से तथा अपने शिष्य मनुदेव के सहयोग से धर्मशास्त्र-संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा (१८०० ई०)। इससे पूर्व सर विलियम जोन्स द्वारा संगृहीत संस्कृत ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कोलब्रूक[1] ने A Digest of Hindu Law (ए डाजेस्ट आफ हिन्दू ला) के नाम से १७९१ ईस्वी में किया। यह ग्रन्थ अंग्रेजी न्यायवेत्ताओं के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र का परिचय देने वाला मुख्य ग्रन्थ है। इसका उपयोग कर वे १८वीं शती के अन्तिम चरण तथा १९वीं शती में हिन्दुओं के अभियोगों में फैसला देते रहे हैं। बालम्भट्ट ने सन् १८३० ई० में ९० वर्ष की आयु में देह त्याग किया।

बालम्भट्ट के प्रधान शिष्य मनुदेव वैयाकरण थे। इन्होंने कोण्डभट्ट के वैयाकरण भूषणसार की टीका लघुभूषण-कान्ति के नाम से की है। इन्होंने अपने गुरु बालम्भट्ट को 'धर्म-शास्त्र-संग्रह' की रचना में साहाय्य दिया। कोलब्रूक के समकालीन होने से इनका समय १८ वीं का अन्त तथा १९वीं शती का प्रथम चरण है (लगभग १७७५ ई०–१८३५ ई०)।

नागेश के अनन्तर

नागेश भट्ट का स्वर्गवास लगभग १७४५ ई० में हुआ। उस समय से अर्ध-शताब्दी बीतने न पायी कि काशी में अंग्रेजों के अधिकारी डंकन साहब ने काशी में

---

१. डा० कोलब्रूक का पूरा नाम हेनरी टामस कोलब्रूक था। (१७६५ ई०–१८३७ ई०) भारतवर्ष में उच्च पदों पर काम किया। उस युग के सबसे श्रेष्ठ न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश थे। संस्कृत से परिचय होने पर उन्होंने स्वयं संस्कृत साहित्य के विविध विभागों पर अपने गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे। अंग्रेज न्यायाधीशों के काम में सहायतार्थ 'धर्मशास्त्रसंग्रह' की रचना इन्होंने ही करवाई। १७८२ ई० में भारत आये तथा १८१४ ई० में भारत से सर्वदा के लिए बिदाई ली। प्रख्यात गणितज्ञ भी थे। विस्तृत जीवनी के लिए द्रष्टव्य—डिक्शनरी आफ इण्डियन बायोग्रफी (बकलैण्ड रचित, १९०६) पृष्ठ ८७–८८ तथा एमिनेन्ट ओरियण्टलिस्ट (नटेसन एण्ड को०, मद्रास पृष्ठ ४७–६१)।

संस्कृत कालेज की स्थापना २१ अक्टूबर १६७१ ई० में की। महाराजा काशीनरेश के द्वारा संस्कृत विद्या के अध्यापनार्थ पाठशाला की स्थापना इससे पूर्व ही स्थापित की गई थी। डंकन साहब ने इसी पाठशाला को संस्कृत कालेज के रूप में परिवर्धित किया। यही संस्कृत कालेज आज दस वर्षों से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होकर संस्कृत की वृद्धि कर रहा है। कालेज का इतिहास अभी तक पूर्णतया निबद्ध नहीं किया गया, परन्तु इतना तो निश्चित-सा है कि इस विद्यालय के संस्कृत शास्त्रों के अध्यापकों ने नवीन ग्रन्थों का प्रणयन कर संस्कृत विद्या को आगे बढ़ाया। यहाँ के अध्यापकों ने भी व्याकरणशास्त्र की अभिवृद्धि में विशेष योगदान दिया। नागेश भट्ट का अविर्भाव लगभग दो सौ वर्षों से अधिक पूर्व की घटना नहीं है, परन्तु इसी के बीच में उनका पाण्डित्य, प्रभाव तथा व्यक्तित्व व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन पर छा गया है। उनके शेखर तथा मञ्जूषा का ज्ञान ही वैयाकरणत्व का निकष-ग्रावा है। नागेश का प्रामुख्य उनके टीकाकारों के विपुल प्रयास का परिणत फल है। इसके सम्पादन में उनके शिष्य-प्रशिष्यों का बड़ा हाथ है। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने अपने गुरु के ग्रन्थों पर विशद टीकायें लिखीं। भैरव मिश्रने शब्देन्दुशेखर पर विस्तृत टीका द्वारा जो उनके नाम पर भैरवी की आख्या धारण करती है उसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाया। इस टीका की रचना १८२४ ई० में हुई जिससे इनका आविर्भाव-काल १९वीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। संस्कृत कालेज से सम्बद्ध अनेक पण्डितों ने व्याकरणशास्त्र को न्यास तथा परिष्कार पद्धति देकर तथा नव्य-न्याय की शैली का आश्रय लेकर आगे बढ़ाया।

काशी में व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापक में परिष्कार-शैली के पुरस्कर्ता थे कूर्माञ्चल के मूल निवासी पण्डित गङ्गाराम जी। ये अलमोड़ा से १९वीं शती के आरम्भ में काशी आये। नव्य-न्याय के साथ पाणिनीय व्याकरण के ये अद्भुत मर्मज्ञाता विद्वान् थे। नव्य-न्याय के तत्त्वों के आलोक में व्याकरण का परिशीलन इनकी अद्भुत प्रतिभा की एक श्लाघनीय दिशा था। इन्होंने हा सूत्रों के अर्थ-निर्धारण में नव्य-न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न वाली शैली का प्रयोग किया जिससे वे परिष्कार-शैली के जन्मदाता माने जाने लगे। उस समय के उद्भट वैयाकरण काशीनाथ कालेकर गंगाराम जी के शिष्य थे और उनके द्वारा यह विद्या काशी के विद्वन्मण्डली में समादृत तथा महिमामण्डित हुई। श्री राजाराम शास्त्री भी उसी युग के मान्य पण्डित थे। काशीनाथ शास्त्री के दो पट्ट शिष्य हुए—(१) बालशास्त्री रानाडे तथा (२) योगश्वर पण्डित। ये दोनों सतीर्थ्य थे। योगश्वर पण्डित इसी काशी-मण्डल के बलिया जिले के मूल निवासी थे और ग्रन्थ-लेखक की धर्मपत्नी के पितामह थे। १९०० ई० के आस-पास साठ-पैंसठ वर्ष की आयु में उनका वैकुण्ठवास हुआ। प्रक्रिया

के महनीय पण्डित थे। परिभाषेन्दुशेखर की हैमवती[1] नाम्नी व्याख्या उन्हीं की प्रतिभा का चमत्कार है। बालशास्त्री अपनी अलोक-सामान्य सार्वभौम वैदुष्य के कारण 'बाल सरस्वती' की उपाधि से मण्डित किये गये थे। शास्त्रों के साथ वे वेद के भी बड़े विद्वान् थे। उन्होंने बड़े समारोह के साथ सोमयाग का सम्पादन किया था। इन्हीं के प्रमुख शिष्य थे—दामोदर शास्त्री भारद्वाज, शिवकुमार मिश्र, तात्या शास्त्री पटवर्धन तथा गंगाधर शास्त्री। सरस्वती के वरद पुत्र ये महापुरुष चारों महामहोपाध्याय थे तथा संस्कृत कालेज के अध्यापक थे। परिष्कार-पद्धति को इन पण्डितों ने और भी आगे बढाया। इनके शिष्य-प्रशिष्य की एक विशिष्ट मण्डली है जो व्याकरण शास्त्रों में प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण भी करती है तथा परिष्कार के परिशीलन में स्वयं जुटी रहती है। इन्हीं पण्डितों के महनीय उद्योग से विश्वनाथ की यह नगरी काशी आज भी व्याकरण-शास्त्र का आदरणीय अखाड़ा बनी हुई है। पाणिनीय व्याकरण काशी की वैदुषी का निःसन्देह मेरुदण्ड है।

पाणिनीय व्याकरण की विकाश-दिशा

पाणिनीय सम्प्रदाय को अखिल भारतीय होने का गौरव प्राप्त है। इसको कैयट, भट्टोजिदीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्र-धुरन्धर विद्वानों के हाथ में पड़ने से विद्वत्समाज में विशेष गौरव तथा सम्मान मिला। इन विद्वानों ने अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा के बल पर इस शास्त्र को एक विशिष्ट धारा में प्रवाहित किया जिससे परिचय रखना शब्दों के साधुत्व-ज्ञान के लिए न होकर शब्दार्थ-सम्बन्ध के विमर्श के लिए अत्यावश्यक है। इस विशिष्ट धारा का त्रिविध रूप दृष्टिगोचर होता है—पदार्थ-चर्चा, न्यास और परिष्कार। पदार्थ-चर्चा के कारण अब पाणिनीय-व्याकरण पदविद्या न होकर पदार्थविद्या माने जाने लगा। पदार्थ-विचार में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनावृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपदिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयों का समावेश होता है। वैयाकरण-सिद्धान्तभूषण तथा लघुमञ्जूषा में इन समस्त विषयों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन विषयों पर न्याय तथा मीमांसा के भी अपने विशिष्ट मत हैं। उन मतों के साथ व्याकरण मत का संघर्ष होना स्वाभाविक है। जैसे नैयायिकों के मत में फल और व्यापार धात्वर्थ है, तिङ् का अर्थ कृति है। मीमांसक फल को धात्वर्थ मानते हैं और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनों के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते हैं और आश्रय

---

१. अब यह ग्रन्थ वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो रहा है (सन् १९६९)।

(कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ[1] । दृष्टान्तों के सहारे इसे समझना चाहिये । 'देवदत्तः ओदनं पचति' इस वाक्य के शाब्दबोध में नैयायिकों के अनुसार कर्ता विशेष्य है—वर्तमान-कालिक-ओदनकर्मक-पचनानुकूल-व्यापाराश्रयो देवदत्तः । वैयाकरणों के मतानुकूल शाब्दबोध में व्यापार विशेष्य है—देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालिक ओदनकर्मकः पचनानुकूलो व्यापारः । स्फोटवाद के प्रतिपादन में वैयाकरणों ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई । शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिक, शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक—इन दोनों के मतों का खण्डन कर वैयाकरणों ने स्फोटवाद का नया सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप-शब्द तो अनित्य है, परन्तु स्फोटरूप शब्द नित्य है । अर्थ के प्रकाशन की क्षमता स्फोट में है, ध्वनि में नहीं । भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

वैयाकरणों ने स्फोट के प्रतिपादनार्थ स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया । इनके कारण विचारशास्त्र के रूप में पाणिनीय व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ ।

प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यैक-चक्षुष्क थे । वे भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर उनको नियमों के द्वारा बाँधने का उद्योग करते थे । पिछले युग के वैयाकरण लक्षणैक-चक्षुष्क बन गये, सूत्रार्थ की व्याख्या तथा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता पर ही विचार करना आरम्भ किया, तब उनके स्वतन्त्र मत का परिष्कार दृष्टिगोचर होने लगा । अब मूल ग्रन्थ का प्रणयन उनका ध्येय न था, प्रत्युत पूर्व ग्रन्थों की टीका-उपटीका की रचना तथा मतों का खण्डन-मण्डन ही लक्ष्य बन गया । व्याकरणशास्त्र में यह खण्डन-मण्डन की परम्परा आज भी जागरूक है और इसका प्रत्यक्ष दर्शन शास्त्रार्थ के अवसर पर हमें होता है । इस परम्परा को हम मोटे तौर से चार भागों में बाँट सकते हैं—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन तथा नवीनतर । प्राचीनतर में वामन-जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, विट्ठल तथा शेष श्रीकृष्ण आते हैं । प्राचीन में भट्टोजिदीक्षित प्रधान हैं । नवीन में नागेश तथा उनके पट्टशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे हैं । नवीनतर में शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार हैं । आज-कल हम इसी युग में हैं जिसे

---

१. फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥
— वैयाकरणभूषण, कारिका द्वितीय ।

हम 'शेखर-युग' के नाम से अभिहित करते हैं। इन चारों परम्पराओं में उत्तर परम्परा ने पूर्वपरम्परा का खण्डन तो किया ही, किन्तु परम्परा के भीतर भी उत्तर विद्वान् पूर्व विद्वान् का खण्डन करते थे। जैसे जिनेन्द्रबुद्धि का खण्डन हरदत्त ने किया। इस प्रणाली को भट्टोजिदीक्षित ने खूब प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप उनके टीकाकारों ने इस शैली की खूब ही वृद्धि की। उधर नव्य-न्याय की विषय-प्रतिपादन की तथा सम्बन्ध-निर्णय की शैली ने व्याकरशास्त्र के भीतर प्रवेश किया, तब वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने के लिए **न्यास** का आश्रय लिया। न्यास शैली है, ग्रन्थ नहीं। पाणिनि के किसी सूत्र को लेकर उसमें लाघव के लिए परिवर्तन करने के प्रयास को **न्यास** की पारिभाषिक संज्ञा दी जाती है। सूत्रों में परिवर्तन करने से कौन-सी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है और उस कठिनाई का दूरीकरण किस प्रकार किया जा सकता है—आदि विषयों का सूक्ष्म विचार इतनी प्रौढ़ता से किया जाता है कि वास्तव में बुद्धि-वैभव के चमत्कार को देखकर चकित हो जाना पड़ता है। यह शास्त्रार्थ-प्रणाली काशी के वैयाकरणों की महती देन है—उनकी बुद्धि का विशद चमत्कार है। पहले ये युक्तियाँ गुरुमुखैकगम्य थीं। आज अनेक क्रोडपत्र प्रकाशित हो गये हैं। फलतः अध्ययन के लिए ये उपलब्ध हैं, परन्तु उनके भीतर प्रवेश करना तथा शाब्दिक चक्रव्यूह का भंग करना गुरुकृपा की पूर्ण अपेक्षा रखता है।

आज वाराणसेय वैयाकरणों के सम्प्रदाय में जो नवीनतम प्रणाली प्रचलित है वह न्यास नहीं, परिष्कार है। नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली में सूत्रार्थ की व्याख्या करना **परिष्कार** कहलाता है। न्यास का प्रचार व्याकरण के छात्रों के लिए है, परिष्कार का प्रचार व्याकरण के विद्वानों के निमित्त है। इस शैली का आरम्भ नागेशभट्ट से होता है और उनके उत्तरकालीन टीकाकारों के ग्रन्थों में यह शैली अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है। समय के प्रवाह में उत्तरोत्तर टीकायें परिष्कार से जटिल होती जाती हैं। उदाहरणार्थ गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित लघुशब्देन्दु शेखर का षट्-टीका-सम्पन्न नवीनतम संस्करण देखने योग्य है। परिभाषेन्दु शेखर की तात्याशास्त्री की **भूति** टीका में तथा जयदेव मिश्र की **विजया** टीका में भी इसका स्वरूप देखने योग्य है। परिभाषेन्दुशेखर की पण्डित योगेश्वरशास्त्री रचित **हेमवती** टीका में परिष्कार शैली के स्थान पर प्राचीन प्रक्रिया शैली का ही विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। इधर ग्रन्थों के प्रकाशन से परिष्कार शैली के मूर्तमय विग्रह का दर्शन आलोचकों को होने लगा है। यह शैली वाराणसेय वैयाकरणों की ही देन है। उचित है कि इस शैली की रक्षा की जाय। शास्त्रार्थ की प्रणाली का संरक्षण होना चाहिये जिससे काशी का यह वैशिष्ट्य अक्षुण्ण बना रहे। भगवान् विश्वनाथ की भूयसी अनुकम्पा से ही इस शास्त्र का संरक्षण हो सकेगा। तथास्तु।

पंचम खण्ड

पाणिनीय-तन्त्र के खिल ग्रन्थ

पाणिनीय सम्प्रदाय को अथवा किसी भी व्याकरण सम्प्रदाय की समग्रता के हेतु पाँच अङ्गों से विभूषित होना नितान्त आवश्यक होता है। इसीलिए सम्पूर्ण व्याकरण को पञ्चाङ्ग[1] व्याकरण कहा काता है। इन पाँच अङ्गों में सूत्रपाठ तो मुख्य ही है और उसके सहायक अथवा पूरक होने से इतर अङ्गों की भी उपयोगिता है। इन्हें ही खिल ग्रन्थ अथवा परिशिष्ट ग्रन्थ के नाम से पुकारते हैं। खिल ग्रन्थों में इनकी गणना मानी जाती है—(१) धातु-पाठ, (२) गण-पाठ, (३) उणादि-पाठ तथा (४) लिङ्गानुशासन। ये खिल ग्रन्थ अन्य वैयाकरण सम्प्रदायों में भी पूर्णतः अथवा अंशतः विद्यमान हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय सर्वाधिक प्राचीन तथा पुष्ट है और महर्षि पाणिनि की ही ये मौलिक रचनायें हैं। फलतः उसके खिल ग्रन्थों में शिक्षा, परिभाषा तथा फिट् सूत्रों का भी समावेश किया जाता है। पाणिनि सम्प्रदाय के सूत्र-पाठ के विस्तृत विवरण गत चार खण्डों में दिये गये हैं। अतएव यहाँ तत्-सम्बद्ध खिल ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इतर व्याकरण-सम्प्रदायों के सूत्रपाठ का संक्षिप्त विवरण तो अगले खण्ड में दिया जावेगा, परन्तु उनके खिल ग्रन्थों का परिचय स्थानाभाव के कारण देने का अवकाश यहाँ नहीं है।

(१) धातु-पाठ

यह बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों में आचार्य काशकृत्स्न का धातु-पाठ अविकल रूप से प्राप्त है तथा उसके ऊपर कन्नड देश के वैयाकरण चन्न वीर कवि द्वारा निर्मित वृत्ति भी प्राप्त है। इस वृत्ति को संस्कृत के विद्वानों के सामने प्रस्तुत करने का श्रेय श्री युधिष्ठिर मीमांसक को है जिन्होंने बड़े परिश्रम से कन्नड वृत्ति का हिन्दी रूपान्तर करा कर तथा संस्कृत में अनूदित कर

---

1. इस प्राचीन श्लोक में पाणिनीय सम्प्रदाय के पञ्चाङ्गों का निर्देश इस प्रकार है।

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्॥

प्रकाशित किया है[1]। इस धातु-पाठ के अनुशीलन से पाणिनीय धातु-पाठ की अपेक्षा अनेक विशिष्टतायें परिलक्षित होती हैं जिसमें दो चार का निर्देश यहाँ किया गया है—

(१) इस धातु-पाठ में नव ही गण हैं, पाणिनितन्त्र के समान दस गण नहीं हैं। जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत निविष्ट किया गया है। धातुओं का चयन प्रत्येक गण में बड़ी सुव्यवस्था से किया गया है। प्रथमतः परस्मैपदी-धातुयें पठित हैं, अनन्तर आत्मनेपदी तथा अन्त में उभयपदी। पाणिनि तन्त्र में इतनी सुव्यवस्था नहीं है।

(२) धातुओं की संख्या भी पाणिनि से अधिक हैं। इसके सम्पादक का कथन है कि भ्वादि-गण में पाणिनीय धातु-पाठ से ४५० धातुयें अधिक है। अन्य गणों में धातु की संख्या प्रायः बराबर है। पाणिनि में अपठित परन्तु काशकृत्स्न में पठित धातुओं की संख्या लगभग आठ सौ हैं। अतएव कमी-बेशी को ध्यान में रखकर सम्पादक साढ़े चार सौ धातुओं को यहाँ अधिक बतला रहे हैं।

(३) अनेक नवीन धातुओं की यहाँ सत्ता है। पाणिनि द्वारा अपठित, परन्तु लोक-वेद में उपलभ्यमान, बहुत सी धातुओं की सत्ता इस धातु-पाठ का विशेष महत्त्व प्रदान करती है। 'अथर्व' शब्द हिंसार्थक थर्व-धातु से निष्पन्न है। यह धातु यहाँ पठित है। हिन्दी में ढूँढना की प्रकृति 'ढुढि' धातु यहाँ निर्दिष्ट है[2] (भ्वादि गण में धातु संख्या १९१)। सिंह शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनीय परम्परा में हिंसि (हिंस) धातु से वर्णव्यत्यय करने पर सिद्ध मानी जाती है। महाभाष्यकार का ही यह मत नहीं है, प्रत्युत यास्क को भी यह सम्मत है (**हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य; निरुक्त ३।१८**), परन्तु काशकृत्स्न ने षिहि हिंसायाम् एक नवीन धातु का प्रवचन किया है (भ्वादि गण धातु-संख्या ३१६) जिससे बिना किसी व्यत्यय के सिंह शब्द निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अनेक शब्दों की निष्पत्ति के लिए पाणिनितन्त्र में लोप, आगम, वर्ण-विकार आदि का आश्रयण लेना पड़ता है, परन्तु काशकृत्स्न ने उसके लिए नवीन धातुओं का ही प्रवचन किया है। प्रतीत होता है कि यह उनकी मौलिक सूझ है। व्युत्पन्न प्रातिपदिक पक्ष को मानने पर सीधे धातुओं से शब्दों की निष्पत्ति के लिए ऐसी धातुओं की सत्ता अनिवार्य है।

(४) इस धातु-पाठ का पाणिनीय धातु-पाठ से तुलना करने पर अनेक भाषाशास्त्रीय तथ्यों की अवगति हो सकती है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पाणिनीय

---

१. द्रष्टव्य काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्। संस्कृत रूपान्तरकर्ता श्री युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि० सं० २०२२।

२. ढुढि अन्वेषणे—अनुसन्धाने। ढुण्ढति = अन्वेषयति। ढुण्ढिः = काशीविनायकः। काशी में ढुण्ढिराज गणेश की यह व्याख्या पुराणसम्मत है।

धातु-पाठ में वेवीङ् धातु पठित है अदादि गण में। वहाँ पाठ है वेवीङ् वेतिना तुल्ये जिसकी सायण कृत व्याख्या है—'वी-गति' इत्यनेन तुल्येऽर्थे वर्तते अर्थात् सायण के मत में वेवी धातु का अर्थ गमन है। मेरी दृष्टि में यह धात्वर्थ निरूपण पाणिनि से प्राचीन है। काशकृत्स्न का पाठ है—'वेवीङ् वेतना-तुल्ये'—कर्मकरवद् व्यवहारे। फलतः वेतन देने या मजूरी करने के अर्थ में इस धातु का प्रयोग होता था। 'वेवीते' का अर्थ है मजूरी करता है और 'वेवीता' का अर्थ है मजूरा, 'वेवीयन' तथा 'वेवय' का अर्थ है मजूरी। इन शब्दों के प्रयोग से ही अर्थ की परीक्षा यथाविधि हो सकती है। पाणिनीय सम्प्रदाय में यह वैदिक धातु है, लौकिक नहीं। वेद में इसका प्रयोग अर्थ की निश्चिति के लिए ढूँढना चाहिए। मेरा मत तो यह है काशकृत्स्न का ही पाठ ठीक है वेवीङ् वेतनातुल्ये। वेतनं तथा वेतना एक ही शब्द है। किसी प्रकार पाठभ्रष्ट हो कर 'वेतनातुल्ये' के स्थान पर 'वेतिनातुल्ये' हो गया। लौकिक प्रयोगों के परीक्षण के अभाव में यह अशुद्ध पाठ आज भी चलता आ रहा। वैयाकरणा एव प्रमाणम्।

पाणिनि का धातु-पाठ

पाणिनि का धातु-पाठ पाणिनीय व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। पाणिनि के धातुओं की संख्या लगभग दो सहस्र के है। ये धातुयें भ्वादि-अदादि दस गणों में विभक्त है। प्रत्येक धातु के साथ अर्थ-निर्देश किया गया आज मिलता है। विचारणीय प्रश्न है कि यह अर्थ-निर्देश किंकर्तृक है। पाणिनि ने स्वयं इन अर्थों का निर्देश किया? अथवा उनके मतानुसारी किसी अन्य वैयाकरण इसका निर्देश किया? इसके विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं—(क) कतिपय आचार्यों का कहना है कि पाणिनि ने विशुद्ध धातुओं का पाठ ही लिखा जैसे भ्वेधृस्पर्ध आदि। अर्थ का निर्देश किसी भीमसेन नामक वैयाकरण ने किया। महाभाष्यकार का कथन इस पक्ष में सहायक है—

परिमाण-ग्रहणं च कर्तव्यम्। इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतत् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति न पुन र्भ्वेध् शब्दः (म० भा० १।३।१)।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है। यदि 'भू' के बाद 'सत्तायाम्' अर्थ की द्योतना रहती, तो अवधि का तो निश्चय हो ही गया रहता। इस नियम-प्रतिपादक वचन को आवश्यकता ही नहीं होती। इसी प्रकार के भाष्यवचनों को आधार मानकर भट्टोजिदीक्षित ने तो बड़े ही स्पष्ट शब्दों में धात्वर्थ निर्देश को अपाणिनीय माना है—

न च या प्रापणे इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुरिति स्मर्यन्ते। पाणिनिस्तु भ्वेध इत्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्—शब्द-कौस्तुभ (१।३।१)।

यहाँ तथा अन्यत्र इस प्रसंग में निर्दिष्ट भीमसेन का परिचय आगे दिया गया है। बहुल निर्देश से इनकी महत्ता स्पष्ट सूचित होती है।

(ख) अन्यत्र किन्हीं आचार्यों के मत में अर्थ-निर्देश स्वयं पाणिनि-निर्मित है। महाभाष्य में तो पाणिनि-निर्दिष्ट अर्थ तथा व्यवहार में प्रचलित अर्थ में पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया गया है। वप् धातु का अर्थ है बीज को खेत में छीटना (प्रकिरण) परन्तु व्यवहृत अर्थ है छेदन। (जैसे केश श्मश्रु वपति)[1]। कृधातु के इस अर्थ-द्वैविध्य का उल्लेख पतञ्जलि के प्रसंग में किया गया है[2]। इसमें 'इष्ट' अर्थ तो पाणिनि-स्मृत अर्थ ही है। बहुत से वैयाकरण धातु-पाठ में अर्थ-निर्देशक पदों को प्रामाण्य मानते हैं। काशिका 'उद्यम' तथा 'उपरम' शब्दों को इसीलिए साधु मानती है कि ये दोनों शब्द धातु के अर्थ-निर्देशन में प्रयुक्त हैं[3]। न्यास विधूनन तथा प्रीणन शब्दों में निपातनात् नुग् मानता है और यह निपातन धात्वर्थ-निर्देश में है[4]। वामन तथा क्षीरस्वामी इसी प्रकार निपात से ही शोभा शब्द की सिद्धि मानते हैं।

निष्कर्ष यह है कि धातु का पाठ तथा धातु का अर्थ-निर्देश ये दोनों बातें पाणिनि ने स्वयं निर्दिष्ट की हैं। भीमसेन का अर्थ-निर्देश के विषय में कितना प्रयास था? इसका यथार्थ उत्तर प्रमाणों के अभाव में नहीं दिया जा सकता।

यूरोपियन भाषावेत्ताओं ने पाणिनीय धातु-पाठ की प्रचुर मीमांसा की है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से शब्दों का निष्पादक मूल उपादान तो धातु ही है। धातुओं से प्रत्ययों के योग से शब्दों की सिद्धि होती है। इस प्रसंग में गत शताब्दी के अमेरिकन भाषा-शास्त्री डा० ह्विटनी ने पाणिनि के धातुओं के विषय में विशेष आलोचना की है जिसका सारांश इतना ही है कि दो सहस्र धातुओं में से केवल नौ सौ के लगभग धातु ही प्रयुक्त हैं तथा उपादेय हैं क्रिया-पदों की सिद्धि के लिए तथा संज्ञापदों की निष्पत्ति के लिए। लगभग एक सहस्रों से ऊपर धातुओं को उन्होंने अप्रयुक्त होने से निरर्थक माना है। भाषाशास्त्र के इतिहास में उनका बड़ा नाम है और उनका काम है संस्कृत भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण (हिस्टारिकल ग्रामर आफ संस्कृत) का प्रणयन, जिसमें संस्कृत

---

१. वपिः प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते। केशश्मश्रु वपतीति।
—म० भा० १।३।१।

२. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ४५०।

३. कथमुद्यमोपरमौ यम उद्यमे यम उपरमे इति निपातनादनुगन्तव्यौ।
—काशिका ७।३।१४।

४. धू विधूनने तृप प्रीणने इति निपातनादेतयोर्नुग्भविष्यति। —न्यास।

५. शुभ शुम्भ शोभार्थे। अतएव निपातनात् शोभा साधुः।
—क्षीरतरंगिणी ६।३३।

के शब्दरूपों की वैदिक पूर्वपीठिका भी उपन्यस्त की गई है। यह व्याकरण पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। परन्तु धातु-विषयक उनके विचार नितरां अनुचित तथा अयुक्त हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि संस्कृत धातुओं की प्रयुक्तता के अनुशीलन के निमित्त केवल संस्कृत काव्यादिकों का अन्वेषण यथार्थ नहीं है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य का भी गम्भीर परिशीलन आवश्यक है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का भी तो मूलस्रोत संस्कृत ही है। ऐसी दशा में इन भाषाओं में यदि संस्कृत धातु उपलब्ध हो रहे हैं, तो उनके ऊपर अप्रयुक्तता का लांछन कैसे लगाया जा सकता है। ऐसी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत में अप्रयुक्त धातुओं की संख्या बहुत ही न्यून है, यदि उसकी सत्ता मानी ही जाय। दो-चार उदाहरणों से इसकी उपपत्ति यहाँ दिखलाई जाती है—

(१) **मेथ धातु**—इसका अर्थ हेमचन्द्र तथा वोपदेव के अनुसार मेधा, हिंसा तथा सङ्गम है (मेधा हिंसयोः सङ्गमे चेति हेमचन्द्रः)। इससे निष्पन्न प्रधान शब्द मेथी है जिसका अर्थ स्तम्भ है (मेथन्ते=संगच्छन्ते पशवोऽत्र)। मेथी शब्द वेद में प्रयुक्त है—**इह मेथिमभिसंविशध्वम्** (अथर्व ८।५।२०); **विष्णवे त्वेति मेथीम्** (शत० ब्रा० ३।५।३२१)। दिव्यावदान में इसी अर्थ में मेधि ('मेथि' का ही रूपान्तर) है। तथा भोजपुरी में मेढ़ी, मेढ़ प्रयुक्त होते हैं उस खम्भे के लिए, जिसके चारों ओर बैल दँवरी करते हुए घूमते हैं।

(२) **मस् धातु** (मसी)—इसका अर्थ है परिणाम = विकार (क्षीरस्वामी) इसी धातु से निष्ठा में बनता है—मस्त जो स्वार्थे-कप् होने से बनता है—मस्तक। घञ् प्रत्यय से बनता है—मास। प्रत्येक तिथि को विकार धारण होने के कारण ही इन्दु कहलाता है—मास्। चदि अह्लादे से निष्पन्न 'चन्द्र' प्रथमतः विशेषण रूप में प्रयुक्त होता था चन्द्र + मस् (= आह्लादक इन्दु) कालान्तर में विशेषण विशेष्य के साथ संयुक्त होने से बना चन्द्रमा।

(३) मुर् धातु = संवेष्टन (अच्छी तरह से घेरना); इससे निष्पन्न शब्दों पर ध्यान दें। मुरा = गन्धद्रव्य-विशेष (मुरति = सौरभेण वेष्टयति); मुरला = नदी विशेष (उत्तर रामचरित तृतीय अंक; मुरम्-वेष्टनं लाति); मुरली = कृष्ण की वंशी (स्वर-सौन्दर्येण वेष्टयति); हिन्दी में मुरना, मुड़ना तथा, मोड़ना इसी के विभिन्न रूप हैं[1]।

---

१ 'मुरारि' शब्द का व्युत्पत्ति ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड ११० अ० में इस प्रकार है—

मुरः क्लेशे च सन्तापे कर्मभोगे च कर्मिणाम्।
दैत्यभेदेऽप्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्तितः॥

(४) कङ्क् (ककि गतौ) गत्यर्थक कङ्क् धातु से संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक शब्द बनते हैं। कङ्कत = 'कंघी' के अर्थ में इसी धातु से अतच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। वेद तथा काव्यों में बहुशः प्रयुक्त है। ऋ० १।१९१।१, अ० वे० १४।२।६८ तथा वाल्मीकि रामायण में २।९१।७७ में यह शब्द प्रयुक्त है। कङ्क एक विशिष्ट पक्षी का नाम भी है (कङ्कते उद्गच्छतीति कङ्कः पक्षिविशेषः) हिन्दी में इससे निष्पन्न अनेक शब्द हैं—कंगल (= कवच), कंगन (कङ्कणम्), खंख (खाली), कंगाल तथा खंक (बुभुक्षित तथा दुर्बल)।

इन चारों धातुओं से इतने प्रयोगों की निष्पत्ति होने पर भी इन्हें अप्रयुक्त तथा अव्यवहार्य बतलाना क्या समुचित है? डा० ह्विटनी के द्वारा अप्रयुक्त घोषित धातुओं में अधिकांश प्रयुक्त हैं साक्षात् रूप से या परम्परया। फलतः पाणिनीय धातुओं को उपादेय मानना ही साधु पक्ष है[1]।

धातु-वृत्तियाँ

क्षीरतरङ्गिणी[2]

पाणिनीय धातुओं के ऊपर अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं। इन व्याख्याओं में धातु के विशिष्ट रूप ही नहीं प्रदर्शित हैं, प्रत्युत उनसे उत्पन्न शब्दों की भी यहाँ तुलनात्मक मीमांसा है। अतः इन व्याख्याओं का अनुशीलन शब्द-सिद्धि के परिज्ञान के निमित्त आवश्यक साधन है। ऐसे व्याख्या-ग्रन्थों में क्षीरतरङ्गिणी सर्व-प्राचीन तथा पर्याप्त-रूपेण प्रामाणिक है।

इसके रचयिता क्षीरस्वामी का परिचय अमर-कोष के टीकाकारों के विवरण-प्रसंग में पूर्व ही (पृष्ठ ३३६–३३९) पर दिया गया है। ये काश्मीरी ग्रन्थकार हैं ११ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान। युधिष्ठिर मीमांसकने शब्दों के ऊपर तुलनात्मक टिप्पणी देकर इसे विशेषरूप से उपयोगी बनाया है। क्षीरतरङ्गिणी धातु-पाठ की

---

१. पाणिनीय धातुओं के विशेष अनुशीलन के लिए द्रष्टव्य—डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी : पाणिनीय धातु पाठ-समीक्षा।

(प्र० वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, १९६५)।

२. इसका प्रथम प्रकाशन १९३० ई० में जर्मन विद्वान् डा० लिबिश ने जर्मन भाषा में लिखित टिप्पणियों-सहित किया। इस वृत्ति का भूमिका-टिप्पणी आदि से मण्डित सुन्दर संस्करण श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रकाशित किया है।

—रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला नं० २५; अमृतसर, सं० २०१४।

सर्वप्राचीन व्याख्या है। अपने विषय में प्रथम व्याख्या होने पर भी क्षीरस्वामी की तुलनात्मक दृष्टि विशेष प्रशंसनीय है। एक धातु से कितने विशिष्ट संज्ञापद तथा क्रिया-पद उत्पन्न होते हैं, उन सबका निर्देश ग्रन्थकार ने इस व्याख्या में देकर इसे अत्यन्त प्रामाणिक तथा उपयोगी बनाया है। इस कार्य के लिए उणादि सूत्रों का भी पर्याप्त निर्देश है। धातु के विशिष्टरूपों की सिद्धि में तत्तत्-सूत्रों का उल्लेख लाभकारी है। क्षीरस्वामी अनेक विशिष्ट पाठों को देकर निर्णय में असमर्थता प्रकट करते हैं। जैसे **चर्च झर्छ झर्झ परिभाषणे** (भ्वादि सं० ४७२) इस धातु के अनेक पाठान्तरों को देकर वे कह उठते हैं—किमत्र सत्यं देवा ज्ञास्यन्ति। चान्द्रव्याकरण में दिये गये धातुओं से विशेषरूप से तुलना की गई है। फलतः क्षीरस्वामी की तुलनात्मक अध्ययन दिशा आजकल के विद्वानों के लिए भी माननीय है।

धातु-प्रदीप

धातु-प्रदीप के रचयिता मैत्रेय रक्षित थे जो धर्म से तो बौद्ध थे तथा पाण्डित्य से महावैयाकरण थे। वकारादि तथा बकारादि धातुओं के स्वरूप में इन्होंने विशेष ज्ञान प्रदर्शित नहीं किया। व तथा ब का स्पष्ट पार्थक्य बंगीय उच्चारण में उपलब्ध नहीं होता। फलतः ये बंगाल के ही निवासी वंगीय प्रतीत होते हैं।

धातु-प्रदीप—पाणिनीय धातु-पाठ की लघ्वी वृत्ति है। क्षीरतरङ्गिणी का बहुशः निर्देश किया गया है, परन्तु नामतः नहीं, केवल अन्ये अपरे आदि पदों के प्रयोग द्वारा ही। फलतः मैत्रेय रक्षित क्षीरस्वामी से अर्वाचीन हैं तथा सर्वानन्द से प्राचीन, क्योंकि इन्होंने अमरकोष की 'टीका-सर्वस्व' नामक स्वीय व्याख्या में धातु-प्रदीप तथा उसकी किसी टीका का निर्देश किया है। टीकासर्वस्व का रचनाकाल स्वयं ग्रन्थ में १२१५ संवत् (=११५८ ई०) दिया गया है। फलतः इनका काल क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द के मध्य काल में मानना चाहिए ११२५ ई० के आसपास। ये बड़े प्रौढ़ वैयाकरण थे। इनका महत्त्वशाली ग्रन्थ है **तन्त्र-प्रदीप** जिसमें जिनेन्द्र बुद्धि के न्यास की पाण्डित्य-पूर्ण टीका है। मैत्रेय ने धातु-प्रदीप की रचना में अपने तुलनात्मक व्याकरण-नैपुण्यका परिचय दिया है जिसमें कलाप तथा चान्द्र व्याकरण का विशेष ज्ञान लक्षित होता है[1]।

दैव तथा पुरुषकार

पाणिनीय धातु-विषयक ग्रन्थों में दैव नामक यह ग्रन्थ अपनी एक विशिष्टता रखता है। ग्रन्थकार का नाम है देव और वे इस ग्रन्थ को 'अनेक विकरण सरूप-धातु-

---

१. **आकृष्य भाष्य-जलधेरथ धातुनाम-पारायणक्षपण-पाणिनि-शास्त्रवेदी।**
कालाप-चान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय॥
—धातुप्रदीप का अन्तिम श्लोक।

व्याख्यानं' बतलाते है। पाणिनीय धातु-पाठ में भिन्न-भिन्न गणों में पठित अनेक धातु समान आकार वाले उपलब्ध होते हैं। कभी-कभी अर्थ की एकता रहती है, कभी भिन्नता। ऐसे ही सरूप धातुओं का यह श्लोकबद्ध व्याख्यान है। श्लोकों की संख्या ठीक दो सौ है। इसके ऊपर लीलाशुक-विरचित पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है जो 'पुरुषकार' के नाम से प्रख्यात है[1]। यह व्याख्या बड़ी पाण्डित्यपूर्ण, प्रमेय-बहुल तथा प्रामाणिक है जिसमें धातु-विषयक अनेक ज्ञाताज्ञात तथ्यों का विवरण ग्रन्थकार के प्रचुर व्याकरण ज्ञान का साक्षात् प्रमापक है। लीलाशुक ने अपने व्याख्यान के अवसर पर कहीं मण्डन के निमित्त कहीं खण्डन के निमित्त अनेक प्राचीन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख तथा उद्धरण दिया है। ऐसे ग्रन्थकारों में क्षीरस्वामी, चन्द्रगोमी, धनपाल, भोजराज, मैत्रेय-रक्षित तथा शाकटायन (जैन वैयाकरण पाल्यकीर्ति) बहुशः उल्लिखित हैं। इससे लीलाशुक की पैनी विवेचक दृष्टि का तथा व्यापक पाण्डित्य का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। इस व्याख्या-ग्रन्थ का प्रभाव उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर, विशेषतः सायण के ऊपर, विशेष रूपेण लक्षित होता है। पुरुषकार में धातुओं के रूप तथा अर्थ के विषय में तुलनात्मक आलोचना की गई है।

इन दोनों वैयाकरणों के देश-काल का सामान्य परिचय विद्वानों की कृपा से उपलब्ध होता है। टीकाकार के अनुसार मूल लेखक देव ने मैत्रेय रक्षित के धातु-प्रदीप का अनुसरण कर ग्रन्थ का निर्माण किया[2]। लीलाशुक के इस कथन से मैत्रेय रक्षित से देव की अर्वाक्कालीनता निःसन्देह सिद्ध होती है। मैत्रेय का काल सामान्यतः ११०० ई० के आसपास ऊपर निर्णीत है। फलतः देव का समय १२ वीं शती का प्रथमार्ध मानना अनुमान-सिद्ध है। टीकाकार लीलाशुक काञ्ची निवासी वैष्णव आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका के अन्त में काञ्ची नगरी के उत्सवों का संकेत किया है। 'कृष्णलीलामृत' नामक गौडीय वैष्णवों का बहुचर्चित स्तोत्ररत्न लीलाशुक की ही मान्य रचना है। इसके विषय में यह प्रसिद्धि है कि चैतन्य महापुरुष इस ग्रन्थ को दक्षिण देश से बंगाल लाये थे। फलतः लीलाशुक चैतन्य (१४७६ ई०–१५३३ ई०)

---

१. मूल तथा टीका का प्रथम प्रकाशन म० म० गणपति शास्त्री ने अनन्तशयन ग्रन्थमाला (संख्या १) १९२५ ई० में किया था। इस दुर्लभ ग्रन्थ का सुबोध सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने उपयोगी परिशिष्टों के साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। —अजमेर, सं० २०१९।

२. आप्लृ लम्भन इत्यत्र मैत्रेय रक्षितेन 'आपयते' इत्यात्मनेपदमुदाहृतमुपलभ्यते............तदनुसारेणैव प्रायेण देवः प्रवर्तमानो दृश्यते।
—दैवम्, पृ० ८८।

से निःसन्देह प्राचीन हैं। पुरुषकार में हेमचन्द्र का उल्लेख है[1]। हेमचन्द्र १२वीं शती के मान्य ग्रन्थकार हैं। सायणाचार्य ने माधवीया धातुवृत्ति में 'पुरुषकार' का निर्देश अनेकत्र किया है[2]। सायण का समय चतुर्दशशती का मध्यकाल है (१३५० ई०)। फलतः इसकी रचना हेमचन्द्र तथा सायणाचार्य के मध्य में होनी चाहिये। १३वीं शती के आसपास इनका समय मानना उचित है (लगभग १२५० ई०–१३००)।

माधवीया धातुवृत्ति

वेदभाष्य के प्रख्यात रचयिता श्री सायणाचार्य की यह वृत्ति एतद्-विषयक समस्त रचनाओं में अपनी गुण-गरिमा तथा प्रकृष्ट पाण्डित्य के कारण समधिक श्लाघनीय है। इसके निर्माता स्वयं सायण ही हैं, परन्तु अपने अग्रज माधवाचार्य के उपकार-स्मरण में उन्होंने इसे 'माधवीया' संज्ञा स्वयं दी है। धातुओं के रूप तथा तज्जन्य शब्दों के परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। इतः पूर्व क्षीरतरङ्गिणी तथा धातुप्रदीप की रचना हो चुकी थी धातुओं के व्याख्यान-रूप में, परन्तु इन दोनों से इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट है। धातुप्रदीप की काया बड़ी लम्बी है, क्षीरतरंगिणी में पाण्डित्य होने पर भी विस्तार का अभाव है। माधवीया धातुवृत्ति में विस्तार के साथ गम्भीर्य पर्याप्त मात्रा में है। ग्रन्थकार धातुओं के सामान्य रूपों के साथ ण्यन्त, सनन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त प्रयोगों का भी उल्लेख करता है। 'पद' सम्बन्धी वैशिष्ट्य को वह उदाहरणों से समझाता है। तदनन्तर तद्धातुज नाना कृदन्त रूपों का विन्यास अर्थ-पूर्वक करता है। परमत-खण्डन के लिए अथवा स्वमत-मण्डन के लिए प्राचीन वैयाकरणों, कोषकारों तथा भट्टि, माघ जैसे प्रौढ़ कवियों के वचन को उद्धृत करता है। दृष्टान्त के लिए (६५६) सृ गतौ तथा (६५७) ऋ गति प्रापणयोः धातुओं की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या सायण की इस वृत्ति की प्रामाणिकता तथा प्रमेय-बाहुल्य की पर्याप्त परिचायिका है। सृ धातु से जायमान मुख्य शब्दों की सिद्धि, अर्थ तथा कहीं-कहीं विलक्षण प्रयोग व्याकरण के छात्रों के ज्ञानवर्धन के विश्वस्त साधन हैं। इसमें महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी के साथ मैत्रेय रक्षित तथा क्षीरस्वामी के मत का उपन्यास तो वर्तमान है ही। साथ ही साथ अनेक अज्ञात तथा अल्पज्ञात ग्रन्थ-कारों का मत भी उपन्यस्त होकर ग्रन्थ के गौरव की वृद्धि कर रहा है। वाराणसी

---

१. पुरुषकार पृष्ठ १९, २१, २३ (अजमेर संस्करण)।

२. माधवीयाधातुवृत्ति पृ० ४४ तथा ११०।

(प्राच्यभारती संस्करण, वाराणसी, १९६४)।

संस्करण[1] के विद्वान् संस्कर्ता ने इस ग्रन्थ में अनेक पूर्वापर विरोध की उद्घाटना की है जो उनकी सूक्ष्म विमर्श की परिचायिका है। इतने विपुलकाय ग्रन्थ में इन त्रुटियों का सद्भाव विशेष आश्चर्य का विषय नहीं है। इससे ग्रन्थ की उपादेयता में कमी नहीं होती।

ग्रन्थ के आरम्भ में तथा पुष्पिका में दिये विवरण से स्पष्ट है कि सायण ने इसकी रचना तब की, जब वे विजयनगर साम्राज्य के अधिपति सङ्गम महाराज के महामन्त्री थे। सङ्गम का राज्यकाल १४१२ वि० से लेकर १४२० वि० तक माना जाता है। फलतः धातुवृत्ति की रचना का यही काल है (१३५५ ई० से लेकर १३६३ ई० तक)। सायण का जीवनचरित नितान्त प्रख्यात है[2]। उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु धातुवृत्ति के भीतर क्रमधातु की प्रक्रिया के अन्त में 'यज्ञनारायण' का नाम[3] व्याख्या-सापेक्ष है। कुछ लोग 'यज्ञनारायण' को अन्य लेखक मानते हैं धातुवृत्ति का वास्तविक प्रणेता, कुछ लोग इसे सायण का ही नाक्षत्रिक नामान्तर मानते हैं[4]। प्रमाणभाव से यथाविधि निर्णय कठिन है।

भीमसेन का परिचय

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में धात्वर्थ-निर्देशक भीमसेन कौन हैं ? उनके धातु-पाठ के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। उन्होंने धातु-पाठ की स्वोपज्ञवृत्ति लिखी थी या नहीं ? इसका पता नहीं चलता। भीमसेन ने ही पाणिनीय धातुओं का अर्थ-निर्देश सर्वप्रथम किया—ऐसी मान्यता नागेशभट्ट, भट्टोजिदीक्षित तथा मैत्रेय रक्षित की है। ये वैयाकरण भीमसेन कब हुए ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है।

जैन आचार्य उमास्वाति ने जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों का विवरण अपने प्रख्यात ग्रन्थ **तत्त्वार्थाधिगम सूत्र** में किया। इसके ऊपर स्वोपज्ञभाष्य की भी रचना की। उनके समय के विषय में मत-द्वैविध्य है। तत्त्वाधिगम-सूत्र के सम्पादक कापडियाने

---

१. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सुसंस्कृत धातुवृत्ति प्राच्यभारती ग्रन्थमाला में १९६४ ई० में प्रकाशित हुई है। यह इतः पूर्व के संस्करणों से विशुद्ध तथा प्रामाणिक है।

२. द्रष्टव्य—लेखक रचित 'आचार्य सायण और माधव' (प्र० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३)।

३. यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता।
तस्याः विशेषतः सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगाः।

४. वाराणसी सं०, पृ० १५–१७।

उमास्वाती का समय प्रथम से लेकर चतुर्थी विक्रम शतक माना है, तो डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनका समय १ तथा ८५ ई० के बाच में कभी माना है। सिद्धसेन-गणि ने तत्त्वाधिगम के सूत्र तथा भाष्य के ऊपर बड़ी विशद टीका लिखी है[1]। इस टीका में वे भीमसेन का निर्देश करते हैं (पृष्ठ २५४)।

उमास्वाति का भाष्य—चेती **संज्ञान-विशुद्धयोर्धातुः। तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च।**

सिद्धसेन की व्याख्या—**भीमसेनात् परतोऽन्यै वैंयाकरणैः**

अर्थद्वये पठितोऽपि धातुः संज्ञाने विशुद्धौ च।
इह विशुद्धयर्थस्य सह संज्ञानेन ग्रहणम्॥

यहाँ स्पष्ट ही भीमसेन का निर्देश धात्वर्थ-निरूपण के विषय में किया गया है। फलतः ये पूर्ववर्णित वैयाकरण भीमसेन से अभिन्न व्यक्ति हैं। सिद्धसेनगणि का समय ६०० ई० के पास डा० विद्याभूषण ने माना है[2]। फलतः भीमसेन का काल ६०० ई० से निश्चयेन पूर्ववर्ती होगा। इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(२) गण-पाठ

पाणिनि ने अपने सूत्रों में गणों का निर्देश किया है। यथा सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२१)। इसका तात्पर्य है सर्वादि को सर्वनाम संज्ञा होती है। 'सर्वादि' गण की संज्ञा है जिसके भीतर सर्व के समान कार्य रखने वाले शब्दों की गणना की गई है। अब प्रश्न है कि इन गणों का निर्धारण किसने किया—पाणिनि ने ? अथवा उनके अवान्तरवर्ती किसी वैयाकरण ने ? इसका संदेह-रहित उत्तर है कि पाणिनि ने ही सूत्रों में उल्लिखित गणों का स्वयं निर्देश किया। इस तथ्य पर पहुँचने के लिए स्पष्ट प्रमाण हैं। पाणिनि ने सूत्रों की रचना से पूर्व ही इन गणों का भी निर्धारण कर लिया था।

(१) पाणिनि सूत्रों में कहीं आदि, कहीं प्रभृति शब्दों को जोड़ कर गणों का निर्देश किया है जैसे सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२७) तथा साक्षात्-प्रभृतीनि च (१।४।७४)। कहीं पर सूत्रों में शब्दों की संख्या के निर्देशक पद रखे गये हैं जिससे गणों की स्पष्ट सूचना मिलती है। यथा पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६) सूत्र इस तथ्य की घोषणा करता है कि पाणिनि ने पूर्वादि गण में नव शब्दों को स्थान दिया

---

१. सिद्धसेन की टीका के साथ तत्त्वाधिगम प्रो० कापडिया द्वारा सम्पादित। देवचन्द्र लालचन्द्र सीरीज में प्रकाशित; १९३०।

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ १८१; कलकत्ता।

है। यह स्पष्ट निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब पाणिनि ने उन गणों का नियमन स्वयं कर दिया हो।

(२) वार्तिकों के अनुशीलन से भी सूत्रकार तथा गणकार की एकता निश्चयेन सिद्ध होती है[1]।

(३) महाभाष्य भी पूर्वोक्त मत का ही विशद समर्थन करता है। पतञ्जलि ने अनेक स्थानों पर गण-पाठ में पठित शब्दों को सूत्र-पठित शब्दों के समान ही पाणिनीय माना है तथा उनके प्रामाण्य के पर ही आचार्य पाणिनि की अनेक प्रवृत्तियों का ज्ञापन किया[2] है।

इन प्रमाणों के आधार पर पाणिनि ही गण-पाठ के भी कर्ता सिद्ध होते हैं। पाणिनि के २५६ सूत्रों का गण-पाठ उपलब्ध है। पाणिनीय व्याकरण में दो प्रकार के गण उपलब्ध हैं—

(१) **पठित गण** तथा (२) **आकृति गण**। गणों के सूचक 'आदि' शब्द का अर्थ चार प्रकार का माना जाता है (१) सामीप्य, (२) व्यवस्था, (३) प्रकार तथा (४) अवयव। पठित गणों में प्रयुक्त 'आदि' शब्द व्यवस्था का तथा आकृतिगण में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रकार का द्योतक होता है। महाभाष्यकार ने 'आदि' के इस द्विविध अर्थ का उल्लेख उदाहरण के संग में इस प्रकार किया है—

(क) अयमादि-शब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते। तद् यथा देवदत्तादीन् समुपविष्टानाह—'देवदत्तादय आनीयन्ताम्'। त उत्थाय आनीयन्ते।

(ख) अस्ति च प्रकारे वर्तते। तद् यथा 'देवदत्तादयः' आढ्या अभिरूपा दर्शनीयाः पटवन्तः। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते[3]।

'देवदत्तादि' शब्द का अवस्था-विशेष में प्रयोग दोनों अर्थ का द्योतन कराता है—यह पूर्वोक्त शब्दों के द्वारा पतञ्जलि ने विशदतया दिखलाया है।

'पठित गण' का अर्थ तो ठीक है। पढ़े गये शब्दों का गण। परन्तु 'आकृति गण' शब्द का अर्थ क्या है? हरदत्त का कथन है—

---

१. इस तथ्य के दृष्टान्त के लिए द्रष्टव्य डा० कपिलदेव रचित 'संस्कृत व्याकरण में गण-पाठ की परम्परा तथा पाणिनि' पृ० ४६—४७। यह ग्रन्थ अपने विषय का प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। उपादेय तथा माननीय है।

२. वही ग्रन्थ पृ० ४८।

३. महाभाष्य १।३।१।

प्रयोगदर्शनेन आकृतिग्राह्यो गण आकृतिगणः ।

अर्थात् प्रयोगों में या रूपसिद्धि में समानता देखकर किसी गण में जहाँ शब्दों का सन्निवेश किया जाता है, वह 'आकृतिगण' होता है। आकृतिगण परिच्छिन्न शब्दों का गण न होकर अपरिमित शब्दों का समूह होता है[1] जिसकी पहिचान आकृति या आकार से की जाती है। 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान की यही व्याख्या है।

पाणिनीय गणपाठ के प्रवक्ता तथा व्याख्याता सीमित अचार्य हुये। काशिका से पता चलता है कि 'नाम-पारायण' नामक-ग्रन्थ का भी आधार लेकर वह रची गई है। पदमञ्जरी के अनुसार नाम-पारायण का अर्थ है वह ग्रन्थ जिसमें गण शब्दों का निर्वचन किया गया हो। **यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम्** (काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में)। यह 'नाम-पारायण' काशिका से भी प्राचीनतर ग्रन्थ है षष्ठी शती से पूर्वरचित। इधर के ग्रन्थकारों में यज्ञेश्वरभट्ट ने गणरत्नावली नामक व्याख्या लिखी है। ग्रन्थ का रचना-काल है १९३० वि० सं० (= १८७४ ई०)। आज से सौ साल के भीतर ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया। ग्रन्थकार के कथनानुसार ही यह गणरत्नमहोदधि को उपजीव्य मानकर उसी के आधार पर विरचित है।

गणपाठ प्रत्येक व्याकरण सम्प्रदाय का अविभाज्य अंग है—पञ्चाङ्ग के भीतर अन्यतम अङ्ग। इसका विरचन तथा विवरण उन सम्प्रदायों में भी उपलब्ध होता है[2]।

गणपाठ के शब्दों की व्याख्या ग्रन्थ करने वाला सर्वोत्तम ग्रन्थ है—गणरत्न-महोदधि। इसके रचयिता का नाम है—वर्धमान। इन्होंने इस ग्रन्थ का प्रणयन ११९७ वि० सं०[1] (= ११४० ई०) के बीतने पर किया। वर्धमान स्वयं जैन-मतावलम्बी हैं। फलतः उन्होंने अनेक वैदिक वैयाकरणों के अतिरिक्त अभयनन्दी तथा

---

१. आकृति-गणश्चायं तेनापरिमितशब्दसमूहः।
आकृत्या आकारेण लक्ष्यते स आकृतिगणः॥

२. वृत्तौ भाष्ये तथा धातु नामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥
(काशिका का प्रथम श्लोक)।

३. द्रष्टव्य—युधिष्ठिरमीमांसक-संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, पृ० १४२–१६०। तथा डा० कपिलदेव के पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय, पृ० १०६–१४६।

४. सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्न-महोदधिर्विहितः॥

हेमचन्द्र (११०० ई०) का उल्लेख किया। विशेष ध्यातव्य है कि वर्धमान द्वारा निर्दिष्ट-गण किस व्याकरण-सम्प्रदाय से सम्बद्ध है ? इसका उचित समाधान नहीं मिलता। इस ग्रन्थ में अप्रचलित या अज्ञात शब्दों के अर्थ का विन्यास बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है जिससे यह ग्रन्थ निःसन्देह मूल्यवान रचना सिद्ध होता है। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं है। प्राचीन परन्तु अज्ञात ग्रन्थों का उद्धरण राजनीतिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से विशेष महत्त्वशाली है। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रय में रहा। फलतः उसी राजा के आश्रित हेमचन्द्र से वह परिचित है और उसका नाम भी निर्दिष्ट करता है। उसने सिद्धराज-वर्णन नामक राजप्रशस्ति लिखी थी जिसके कतिपय पद्य यहाँ उदाहरण के ढंग पर उद्धृत किये गये हैं। तद्धित-प्रकरण के गणों का विवेचन वर्धमान ने बहुत अच्छी तरह किया है। उसकी यह प्रौढोक्ति—जिन तद्धित-सिंहों से वैयाकरणरूपी हाथी भागते-फिरते थे, उनके गणों के सिर पर मैंने पैर रख दिया, यद्यपि मैं गव्य (गोवंशी) हूँ—चमत्कारयुक्त है।[1] इसी प्रकरण में वर्धमान ने किसी काव्य से प्रचुर उदाहरण उद्धृत किये हैं जिसमें परमार-वंशी प्रख्यात राजाभोज की स्तुति की गई है। काव्य व्याकरण के प्रयोगों को भी प्रदर्शित करता है और इसलिए यह द्वयाश्रय शैली का काव्य है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि राजाभोज का ही एक उपनाम त्रिभुवननारायण भी था जो इतः पूर्व किसी ग्रन्थ से ज्ञात न था। इस काव्य का एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगा—

वीक्षस्व तैकायनि शंसकोऽयं
शाणायनि ! क्ष्मायुध-बाण-शाणः।
प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्याः
'त्रिलोक-नारायण' भूमिपालः॥ (पृष्ठ २७७)।

द्वैपायनीतो भव सायकाय-
न्युपेहि दौर्गायणि देहि सार्गम्।
त्वरस्व चैत्रायणि चटकाय-
न्यौदुम्बरायण्ययमेति भोजः॥ (पृष्ठ २७८)।

फलतः इतिहास तथा व्याकरण उभय का पोषक यह ग्रन्थ महोदधि[2] वास्तव में

---

१. **येभ्यस्तद्धित-सिंहेभ्यः शाब्दिकेभैः पलायितम्।**
गव्येनापि मया दत्तं पदं तद्गणमूर्धसु॥
यहाँ अपने को 'गव्य' कहकर लेखक अपने गुरु गोविन्दसूरि की ओर संकेत कर रहा है।

२. **ग्रन्थ का सम्पादक डा० इग्लिङ्ग ने किया था। यह ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर नवीन रूप में उपलब्ध है।**

गणपाठ के इतिहास में अभूतपूर्व ग्रन्थ है—मननीय तथा माननीय। 'त्रिभुवन नारायण' उपाधि भोजराज की किसी अन्य ग्रन्थ से ज्ञात नहीं थी। फलतः इसे इतिहास के लिए एक नई उपलब्धि माननी चाहिए।

(३) उणादि-सूत्र

व्याकरण-शास्त्र के अनुसार शब्द दो प्रकार के मोटे तौर पर होते हैं—रूढ तथा यौगिक। रूढ अव्युत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति किसी धातु से नहीं दिखलाई जा सकती। यौगिक शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं और इसलिए वे व्युत्पन्न होते हैं। पाणिनि आदि सभी वैयाकरण शब्दों की यह द्विविध गति स्वीकार करते हैं, केवल शाकटायन को छोड़ कर। शाकटायन ही ऐसे ख्यातनामा वैयाकरण हैं जो नाम-शब्दों को धातुओं से व्युत्पन्न मानते हैं। निरुक्त नामक वेदाङ्ग का व्याकरण से यही तो वैशिष्ट्य है कि जहाँ व्याकरण कतिपय शब्दों को व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानता है, वहाँ निरुक्त समस्त शब्दों को व्युत्पन्न अर्थात् धातुज मानता है। नैरुक्तों में गार्ग्य इस मत के प्रतिकूल हैं। इस तथ्य का विवरण यास्क ने अपने निरुक्त में (प्रथमाध्याय के १२, १३ तथा १४ खण्डों में) तथा इसका संकेत पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में (३।३।१ सूत्र) किया है। व्युत्पत्ति का मूल मन्त्र पतञ्जलि की इस कारिका में दिया गया है—

> **नाम च धातुजमाह निरुक्ते**
> **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।**
> **यन्न पदार्थ-विशेष-समुत्थं**
> **प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥**

इसके प्रथमार्ध में निरुक्त तथा शाकटायन का मत—सब नाम धातु से उत्पन्न हुये हैं—उपन्यस्त है तथा उत्तरार्ध में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाई गई है। जिन शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से (सूत्रों से) ज्ञात नहीं होता, उनमें प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की कल्पना करनी चाहिए। व्युत्पत्ति का यही प्रधान नियम है।

उणादि-सूत्र प्रत्येक शब्द की साधुता प्रत्यय के योग से सिद्ध करते हैं। फलतः उनकी दृष्टि में कोई शब्द अव्युत्पन्न नहीं है अर्थात् धातु-विशेष से उसकी सिद्धि अवश्यमेव दिखलाई जा सकती है। इन सूत्रों में आरम्भिक सूत्र उण् प्रत्यय का विधान करता है। सूत्र यह है—**कृ-वा-पा-जिमि स्वदि-साध्यशूभ्य उण्।** इस प्रत्यय के आदिम होने के हेतु यह समस्त प्रत्यय-समुच्चय उणादि के नाम से प्रख्यात है। प्रत्येक

व्याकरण सम्प्रदाय का उणादि अविभाज्य तथा आवश्यक अंश है। पाणिनीय सम्प्रदाय में उणादि के द्विविध रूप मिलते हैं—(क) पञ्चपादी तथा (ख) दशपादी। पञ्चपादी पाँच पादों में विभक्त होने के कारण तन्नाम धारण करता है। सूत्रों की पूरी संख्या—७५६ (सात सौ उनसठ) है। दशपादी दशपादों में विभक्त है और उसकी समग्र सूत्र संख्या पादानुसार (१७७, १३, ७१, १०, ६४, ८४, ४७, १३२, १०७, २२) =७२७ (सात सौ सत्ताइस) है। इसमें प्रथम द्वितीय पादों में अजन्त प्रत्ययों का विधान है, तृतीय पाद में कवर्गान्ति प्रत्ययों का, चतुर्थ में चवर्गान्ति का, पंचम में टवर्गान्ति का, षष्ठ में तवर्गान्ति का, सप्तम में पवर्गान्ति का, अष्टम में य-र-ल-वान्त प्रत्ययों का, नवम में श-ष-स हकारान्त प्रत्ययों का तथा दशम में प्रकीर्ण शब्दों का विवरण है। पञ्चपादी में प्रत्ययों का विधान किसी व्यवस्थित शैली से नहीं है; इसी अभाव को देखकर प्रतीत होता है कि किसी वैयाकरण ने वर्णान्ति विधि द्वारा प्रत्ययों का एकत्र संकलन दशपादी में किया है। दशपादी का आधार नियतरूप से पञ्चपादी ही है अर्थात् पञ्चपादी के विभिन्न पादों में आने वाले समान-वर्णान्ति प्रत्ययों के बोधक सूत्र एकत्र कर दिये गये हैं जिससे सूत्रों में सुव्यवस्था आ गई है। परन्तु दशपादी में कुछ सूत्र छोड़ दिये गये हैं तथा कुछ नवीन सूत्र भी हैं। इन नवीन सूत्रों के स्रोत का यथार्थ पता नहीं चलता कि ये किसी प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत हैं अथवा लेखक की मौलिक रचना हैं। व्याकरण ग्रन्थों में दानों ही प्रकार के उणादि सूत्र नाम-निर्देश-पूर्वक उद्धृत किये गये हैं जिससे दोनों प्रकार के इन संकलनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उणादि सूत्रों का रचयिता

अधिकांश वैयाकरण इन सूत्रों को पाणिनि की रचना न मानकर शाकटायन की रचना मानते हैं। कैयट जैसे प्राचीन वैयाकरण आचार्य उणादि को 'शास्त्रान्तर-पठित' (अर्थात् पाणिनि शास्त्र से भिन्न शास्त्र में पठित) मानते हैं अर्थात् वे इन सूत्रों को पाणिनितन्त्र से इतर तन्त्र का मानते हैं[1]। इसकी व्याख्या में नागेश अपने उद्योत में शाकटायन का नामतः निर्देश करते हैं—

एवं च कृवापेति उणादि सूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम् (प्रदीपोद्योत ३।३।१)।

वासुदेव दीक्षित बाल-मनोरमा (कौमुदी की व्याख्या) में तथा श्वेत-वनवासी पञ्चपादी की स्वीय वृत्ति में शाकटायन को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं।

---

१. उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तर-पठितानां साधुत्व-ज्ञापनार्थमस्तु इति भावः। —कैयटः प्रदीप ३।३।१ ।

इनके विरुद्ध, इन्हें पाणिनि-कृत मानने वाले आचार्य न्यून प्रतीत होते हैं। प्रक्रिया-सर्वस्व के कर्ता नारायणभट्ट अपने ग्रन्थ के उणादि प्रकरण में पाणिनि को ही इनका रचयिता स्पष्टतः स्वीकारते हैं—

अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च ।
बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट् ॥

तात्पर्य है कि पाणिनि मुकुर-शब्द के आदि में अकार (मकुर) तथा दर्दुर शब्द के आदि में उकार (दुर्दुर) मानते हैं, परन्तु भोज इससे ठीक विपरीत कहते हैं अर्थात् भोज की दृष्टि में मुकुर और दर्दुर शब्द बनते हैं। पाणिनि का यह निर्देश पञ्चपादी के एक सूत्र (१।४०) की व्याख्या में नारायण ने किया है। फलतः नारायण-भट्ट पाणिनि को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा समर्थित होने पर भी इस मत के पोषक आचार्य कम ही हैं।

तथ्य तो यही प्रतीत होता है कि भाष्यकार के 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' वचन ने यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है कि शाकटायन ही उणादि सूत्रों के रचयिता हैं। उस वाक्य का तात्पर्य केवल सिद्धान्त-विशेष के प्रतिपादन में है, उणादि सूत्रों के प्रवक्ता के निर्णय में तो नहीं है। भाष्यकार इस तथ्य के प्रथम प्रतिपादक न होकर यास्क के ही एतद्-विषयक मत का अनुवाद करते हैं। अभ्रान्त मत जो कुछ भी हो, परन्तु यही प्रचलित मत है जो शाकटायन को ही उणादि सूत्रों के कर्तृत्व का श्रेय प्रदान करता है।

पञ्चपादी के व्याख्याता

पञ्चपादी के व्याख्याकारों में उज्ज्वलदत्त नितान्त प्रख्यात हैं। इनकी उणदि सूत्रों की व्याख्या बड़ी प्रामाणिक, विस्तृत तथा प्रौढ़ है[1]। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने अनेक वैयाकरणों तथा कोषकारों का उल्लेख किया है। इससे इनके समय तथा देश का परिचय मिल सकता है। उज्ज्वलदत्त को सायणाचार्य ने अपनी धातु-वृत्ति में नाम्ना निर्दिष्ट किया है तथा उज्ज्वलदत्त ने मेदिनिकोष का उल्लेख अपनी वृत्ति में किया है। फलतः इनका समय मेदिनीकोष तथा धातु-वृत्ति के बीच कभी होना चाहिए। धातु-वृत्ति सायण की रचना होने से १४ शती के मध्यकाल में लिखी गई (सम्भवतः १३५० ई०)। मेदिनीकोष का काल भी अनुमान-सिद्ध है। कोशविद्या के इतिहास प्रसंग[2] में मेदिनी का समय १२०० ई०—१२५० ई० के बीच में ऊपर निर्धारित किया

---

१. डा० आउफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित और प्रकाशित।

२. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ३५३—३५४।

गया है १३ वीं शती का पूर्वार्ध । फलतः उज्ज्वलदत्त का समय इतःपूर्व होना चाहिए। हम उज्ज्वलदत्त को ११७५ ई०-१२०० ई० के लगभग मानने के पक्षपाती हैं।

श्वेत-वनवासी नामक वैयाकरण ने पञ्चपादी की जो व्याख्या लिखी है वह पूर्व व्याख्या से समय की दृष्टि से बहुत बाद की नहीं है[1]। दोनों वृत्तिकार एक ही शतक के प्रतीत होते हैं। श्वेत-वनवासी ता मद्रास प्रान्त के निवासी थे निश्चयेन और उज्ज्वलदत्त बंगाल के निवासी थे अनुमानतः। उज्ज्वलदत्त के वल्गु शब्द की व्याख्या पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढ़मनोरमा में एक विशिष्ट टिप्पणी लिखी है। टिप्पणी का आशय है कि उज्ज्वलदत्त ने पवर्गादि बल प्राणने धातु से 'वल्गु'शब्द की जो निष्पत्ति की है वह वर्ण की अशुद्धि होने से नितरां उपेक्षणीय है। 'वल्गु' शब्द का आदिवर्ण पवर्गीय बकार नहीं है—दीक्षित का यही आशय है। 'व' के स्थान पर बकार की उच्चारण-भ्रान्ति बंगीय उच्चारण की आज भी विलक्षणता है। फलतः उज्ज्वलदत्त को बंगीय उच्चारण करने वाला बंगदेशीय मानना चाहिए।

भट्टोजिदीक्षित तथा नारायणभट्ट ने अपने व्याकरण-ग्रन्थों में उणादि-सूत्रों की व्याख्यायें लिखी हैं। ये स्वल्पाक्षरा वृत्ति है, मूल के समझने में उपयोगी। अन्य टीकाकारों की भी सत्ता पञ्चपादी की लोकप्रियता की पर्याप्त निदर्शिका है।

दशपादी[3] उणादि-सूत्र

उणादि शब्द की संज्ञा पञ्चपादी के ही अनुसार है, क्योंकि उसी में उण्-विधायक-सूत्र सर्वप्रथम दिया गया है। दशपादी की व्यवस्था इससे भिन्न है। ऊपर कहा गया है कि यहाँ वर्णानुक्रम से प्रत्ययों का विधान है। फलतः उण् प्रत्यय का विधान प्रथम-पाद के ८६वें सूत्र में किया गया है। पञ्चपादी के आधार पर ही दशपादी का निर्माण हुआ है और इस तथ्य का परिचय दोनों के सूत्रों की तुलना करने पर किसी भी आलोचक को भली-भाँति हो सकता है। दशपादी के प्रवक्ता ने अपने दृष्टिकोण से पञ्चपादी

---

१. मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा डा० टी० आर० चिन्तामणि के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

२. यत्तु उज्ज्वलदत्तेन सूत्रे पवर्गादिं पठित्वा बल प्राणन इत्युपन्यस्तम्, तत् लक्ष्य-विरोधादुपेक्ष्यम्। अयं नाभा वदति वल्गु नो गृहे (ऋ० व० १०।६२।४) इत्यादौ दन्तोष्ठ्यपाठस्य निर्विवादत्वात्। —प्रौढमनोरमा।

३. वृत्ति के साथ दशपादी उणादि-सूत्रों का एक विशुद्ध संस्करण श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने सम्पादित किया है। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज सं० ८१, वाराणसी, १९४३ ई०।

गतसूत्रों का चयन इस ग्रन्थ में किया है। यहाँ नवीन सूत्रों की भी उपलब्धि होती है। परन्तु इनके स्रोत का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हो सकता है कि ये सूत्र किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं अथवा लेखक की मौलिक रचना भी हो सकते हैं।

दशपादी की कतिपय विशिष्टतायें उसे पञ्चपादी से पृथक् कर रही हैं। गृह के अर्थ में लोकव्यवहृत, हिन्दी प्रतीत होने वाला 'घर' 'हन्ते रन् घ च' (८।१०४[1] सूत्र) से निष्पन्न किया गया है। हन् धातु से 'रन्' प्रत्यय करने पर तथा 'ह' के स्थान पर 'घ' आदेश करने से 'घर' शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**'हन्यते गम्यतेऽतिथिभिः घरः गृहम्'** अतिथियों के गमन का स्थान। क्षीरतरङ्गिणी[2] में भी क्षीरस्वामी ने घर शब्द की सिद्धि बताई है घर स्रवणे धातु से। चुरादि-गणीय घृ स्रवणे धातु के स्थान पर दुर्ग घर स्रवणे पाठ मानते हैं। और उसी धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। फलतः 'घर' शब्द को विशुद्ध संस्कृत भाषा का ही मानना न्याय्य है।

दशपादी के प्रवक्ता का पता नहीं है। इसकी रचना का समय अनुमान से लगाया जा सकता है। यह काशिका वृत्ति से निश्चित रूपेण प्राचीन है। काशिका-कार ने 'यूप' शब्द की सिद्धि 'कुसुयुभ्यः' औणादिक सूत्र के द्वारा मानी है[3] और यह सूत्र दशपादी के सप्तम पाद का पञ्चम सूत्र है। फलतः दशपादी को काशिका से प्राचीन होना उचित है। अतः इसकी रचना पञ्चम शती से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकती। किसी अज्ञातनामा लेखक की एक वृत्ति भी दशपादी के ऊपर है। वह भी काशिका से प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि काशिका (६।२।४८) ने 'अहि' शब्द की व्युत्पत्ति देकर इसे आद्युदात्त मानने वाले आचार्य का संकेत किया है। और यह संकेत दशपादी वृत्ति में प्राप्त[4] है। फलतः इस वृत्ति को भी काशिका से प्राचीन मानना न्याय्य है। विट्ठल ने प्रक्रिया-कौमुदी की प्रसाद व्याख्या में इन सूत्रों पर लघ्वक्षरा वृत्ति लिखी है (समय १५शती)।

दशपादी की यह वृत्ति अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। शब्द का अर्थ तो सर्वत्र देती है। प्रत्यय किस अर्थ में किया गया है। इसका वह सुन्दर परिचय देती है। धातुओं

---

१. यह सूत्र प्रौढ़ मनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में उद्धृत मिलता है।

२. पृष्ठ २१० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ग्रन्थ।

३. 'चतुर्थी तदर्थे' ६।२ ४३ सूत्र काशिका में।

४. आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (दशपादी १।६६) की वृत्ति से मिलाइए—आङ्युपपदे श्रिहनि इत्येताभ्यां धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति डिच्च ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य उदात्तश्च (पृष्ठ ४०—४१)।

के स्वरूप तथा गण का स्पष्ट उल्लेख करती है। 'शिरः करन्' (८।७०) सूत्र से क्र्यादिगण में पठित शृ हिंसायाम् धातु से करन् प्रत्यय होता है जिससे निष्पन्न शब्द हैं—

(१) शर्करा = चीनी (शृणाति पित्तम्; पित्त को नाश करती है)।

(२) शर्करा = कंकडी (शृणाति पादौ; पैरों को चुभती है)। यहाँ धातु, अर्थ तथा कारक का स्पष्ट निर्देश है।

(४) लिङ्गानुशासन

संस्कृत में लिङ्गों का बड़ा झमेला है। स्त्री-बोधक होने पर दार शब्द तो पुंल्लिङ्ग है, और कलत्र नपुंसक। निर्जीव वर्षा का बोधक वर्षा स्त्रीलिंग है तथा नित्य बहुवचन भी। पुरुष सुहृद् वाचक होने पर भी मित्र नपुंसक है और शत्रुवाचक 'अमित्र' पुंल्लिङ्ग। इस झमेले को दूर करने के आशय से ही आचार्यों ने लिङ्गानुशासन की रचना की। यह साहित्य उतना विस्तृत नहीं है, परन्तु मान्य व्याकरण-तन्त्रों में लिङ्गानुशासन का प्रणयन अवश्यमेव किया गया है।

व्याडि

व्याडि ही लिङ्गानुशासन के सर्वप्रथम अथच सर्वप्राचीन ग्रन्थकार हैं। पाणिनि से पूर्व व्याडि ने ही लिङ्गानुशासन की रचना की थी। हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन के प्रारम्भ में जिन प्राचीन आधारभूत ग्रन्थ-लेखकों का नाम गिनाया है उनमें व्याडि की गणना सर्वप्रथम है—

व्याडेः शङ्कर-चन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः।
सूक्तान् लिङ्गविधीन् विचार्य सुगमं श्रीवर्धनस्यात्मजः॥

व्याडि के इस लिङ्गानुशासन के विषय में वामन के प्रामाण्य पर दो विशिष्टताओं का परिचय मिलता है। प्रथम तो यह कि सूत्रात्मक था और द्वितीय यह कि यह अति विस्तृत था। वामन ने अपने लिङ्गानुशासन की वृत्ति में अपना अभिप्राय इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

पूर्वाचार्यैं व्याडि-प्रमुखै-र्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं ग्रन्थ-विस्तरेण च। (पृ० २) विस्तार के विषय में उनका स्पष्ट कथन है—व्याडि-प्रमुखैः प्रपञ्च-बहुलम् (पृ० १) लक्षश्लोकात्मक विशालकाय 'संग्रह' की रचना करने वाले व्याडि का लिंगानुशासन यदि प्रपञ्च-बहुल तथा अतिविस्तृत हो, तो आश्चर्य करने की बात ही कौन सी है !!!

पाणिनि

पाणिनि के नाम्ना प्रख्यात लिङ्गानुशासन वर्तमान है। यह सूत्रात्मक है और

समग्र सूत्रों की संख्या १८८ है। इसमें पाँच अधिकार (या प्रकरण) हैं—स्त्री-अधिकार, पुंल्लिङ्गाधिकार, नपुंसकाधिकार, स्त्रीपुंसाधिकार तथा पुंनपुंसकाधिकार। पाणिनीय लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता स्वयं सूत्रकार पाणिनि ही हैं—इस विषय में पाणिनीय तंत्र के आचार्यों में कथमपि विमति नहीं है। पदमंजरी से एक प्रमाण लीजिये। हरदत्त ने लिंगनिर्देशक पाणिनीय-सूत्र नाम्ना जिस सूत्र को संकेतित किया है, वह वर्तमान लिङ्गानुशासन का ही सूत्र है—

'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं' चेति पाणिनीये सूत्रे = लिङ्गानुशासन का ३०वाँ सूत्र। यहाँ स्पष्ट ही लिङ्गानुशासन-स्थित सूत्र को पाणिनीय अर्थात् पाणिनि-प्रोक्त बतलाया गया है। फलतः इन सूत्रों के पाणिनीयत्व होने में परम्परा का कहीं भी व्याघात नहीं होता।

इन सूत्रों पर व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थ के लेखकों ने तत्तत् ग्रन्थों में व्याख्यायें लिखी हैं। रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रिया-कौमुदी के अन्तर्गत तथा नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अन्तर्गत इन पर वृत्ति लिखी है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित का कार्य अधिक महनीय तथा श्लाघनीय है। एक तो उन्होंने इस लिंगानुशासन पर दो टीकायें लिखीं (क) शब्द कौस्तुभ के द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद के लिङ्ग-प्रकरण में प्रथम व्याख्या लिखी तथा (ख) सिद्धान्त-कौमुदी के अन्त में भी इन सूत्रों पर वृत्ति लिखी। इन दोनों में पहिली वृत्ति अपेक्षाकृत विस्तृत है। दीक्षित की इस कौमुदीवाली वृत्ति पर भैरव मिश्र ने अपनी व्याख्या लिखी है जो विस्तृत तथा विशद है। भैरव मिश्र के समय के विषय में पूर्व ही लिखा जा चुका है कि वे १८वीं शती के उत्तरार्ध के प्रौढ वैयाकरण हैं।

भट्टोजिदीक्षित व्याकरण के संग में वेदान्त के भी विज्ञ पण्डित थे; इसका परिचय लिंगानुशासन की उनकी वृत्ति देती है। १८०वें सूत्र में दण्ड, मण्ड, खण्ड आदि शब्दों को पुंल्लिग तथा नपुंसक उभयविध बतलाया गया है। इसी सूत्र में 'कुश' शब्द भी परिगणित है। फलतः यह दोनों लिंगों में होता है—'कुशो रामसुते दर्भे मोक्त्रे द्वीपे, कुशं जले' (विश्वः)। विश्वप्रकाश कोश ने अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। भट्टोजिदीक्षित इसके अनन्तर कुशी तथा कुशा शब्दों के अर्थ का विवेचन करते हैं कि अयोविकार लक्ष्य होने पर 'कुशी' होता है। जानपद (४।१।४२) सूत्र के द्वारा तथा दारु से सम्बद्ध होने पर 'कुशा' बनता है। 'कुशा' शब्दों के प्रयोग वेद तथा ब्रह्मसूत्र से दिखला कर वे वाचस्पति मिश्र के भामती में दिये गये विधान को प्रौढिवाद मानते हैं, यथार्थ नहीं—

(१) **कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात।**

(भाल्लविश्रुति)।

(२) हानौ तूपायनशब्दे शेषत्वात् कुशाच्छन्दः ।

(ब्रह्मसूत्र ३।३।२६) ।

दीक्षित के शब्दों को देखें कि कितनी प्रौढता से अपना मत रखते हैं—

तत्र शारीरभाष्येऽप्येवम् । एवं च श्रुति-सूत्र-भाष्याणामेकवाक्यत्वे स्थिते आच्छन्द इत्याङ्-प्रश्लेषादिपरो भामतीग्रन्थः प्रौढिवादमात्रपर इति विभावनीयं बहुश्रुतैः ।

दीक्षित का यह कथन यथार्थ है । 'कुशा' का अर्थ ही है—**'उद्गातृणां स्तोत्र-गणनार्था दारुमय्यः शलाकाः कुशाः'** (लकड़ी की, विशेषतः उदुम्बर लकड़ी की, बनी उद्गाताओं के स्तोत्र गिनने के लिए अवश्यक शलाका—छोटी-छोटी खूँटी) । ऐसी दशा में आङ् प्रश्लेष की आवश्यकता क्या ? दीक्षित का वेदान्तज्ञान भी स्पृहणीय है ।

३०वें सूत्र में नित्य-बहुवचनात स्त्रीलिंग शब्दों का परिगणन है । ये शब्द हैं—अप्, सुमनस्, समा, सिकता तथा वर्षा । इस सूत्र के भी व्याख्यान में भट्टोजिदीक्षित ने अपना प्रकृष्ट शब्दज्ञान प्रकट किया है । उनका कहना है 'सुमनस्' शब्द पुष्पवाचक होने पर ही स्त्रीलिंग है । देववाची होने पर वह पुंल्लिङ्ग ही होता है जैसे सुपर्वाणः सुमनसः । इस सूत्र के बहुत्व निर्देश को वे प्रायिक मानते हैं, तभी तो वे महाभाष्य के प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित करते हैं कि 'सिकता' (बालू) तथा 'समा' (वर्ष) एकवचन में भी प्रयुक्त होते हैं । महाभाष्य के वचन हैं—

(क) एका च सिकता तैलदाने असमर्था (अर्थवत् सूत्र पर महाभाष्य; यहाँ सिकता एकवचन में प्रयुक्त है) ।

(ख) 'समां विजायते' (५।१।१२) सूत्र के भाष्य में 'समायां समायां' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग उपलब्ध है ।

(ग) सुमनस् (पुष्प) का भी प्रयोग एकवचन तथा द्विवचन में भी होता है । काशिका ने ही 'विभाषा घ्राधेट् शाच्छासः' २।४।७८ सूत्र की वृत्ति में 'अघ्रासातां सुमनसौ देवदत्तेन' में सुमनस् शब्द का द्विवचनान्त प्रयोग किया है । इसकी पदमञ्जरी में स्पष्ट लिखा है—'तद्-बहुत्वं प्रायिकं मन्यते' । इन तीनों शब्दों के बहुवचन का व्यत्यास दिखला कर दीक्षित ने शब्द-निष्पत्ति से ही अपनी गम्भीर अभिज्ञता ही नहीं दिखलाई, प्रत्युत प्राचीन परम्परा को भी अपनी अवगति विशदता से प्रकट की ।

इन सब उदाहरणों से भट्टोजिदीक्षित की इस लिङ्गनुशासन-वृत्ति का महत्त्व भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भली-भाँति अङ्कित किया जा सकता है ।

वररुचि[1]

इनका लिखा लिङ्गानुशासन आर्या छन्दों में निबद्ध है। वामन अपने लिङ्गनुशासन की स्वोपज्ञ वृत्ति में वररुचि के विषय में लिखते हैं—वररुचि-प्रभृतिभिरप्याचार्यैः आर्याभिरभिहितमेव, तदति बहुना ग्रन्थेन; इत्यहं समासेन संक्षेपेण वच्मि (पृष्ठ २, गायकवाड ओ० सी० का संस्करण, बड़ोदा)। इससे पता चलता है कि वररुचि ने आर्याओं में अपना ग्रन्थ लिखा, परन्तु विस्तार अधिक था। अतएव वामन ने आर्याओं में ही, परन्तु संक्षिप्त रूप में, अपने ग्रन्थ का निर्माण किया।

इस लिङ्गानुशासन के अन्त में पुष्पिका से पता चलता है कि वररुचि विक्रमादित्य की सभा का सभासद् था। परन्तु कौन विक्रमादित्य वररुचि का आश्रयदाता है? यदि विक्रम-संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य से यहाँ तात्पर्य हो, तो वररुचि का समय दो सहस्र वर्षों से कम नहीं हुआ। इस लिङ्गानुशासन का नाम 'लिङ्गविशेष-विधि' प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ से एक उद्धरण हर्षवर्धन-रचित लिङ्गानुशासन की व्याख्या में दिया गया है।

हर्षवर्धन

इनका लिङ्गानुशासन दो स्थानों से छप चुका है—जर्मनी से जर्मन अनुवाद के साथ तथा वृत्ति-सहित मद्रास से[2]। हर्षवर्धन ने इस ग्रन्थ में अपने विषय में कोई भी संकेत नहीं किया है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में वे अपने को 'श्रीवर्धनस्यात्मजः' अर्थात् 'श्रीवर्धन' का पुत्र कहते हैं। इतने संक्षिप्त संकेत से उनका पूरा परिचय नहीं हो सकता। 'श्रीवर्धन' से यदि प्रभाकर-वर्धन से तात्पर्य समझा जाय, तो हर्षवर्धन प्रख्यात सम्राट् हर्षवर्धन से अभिन्न माने जा सकते हैं। जब तक इस समीकरण के विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक इस ग्रन्थकार को सम्राट् हर्षवर्धन माना जा सकता है।

इस ग्रन्थ की टीका भी प्रकाशित है। इसके लेखक के व्यक्तित्व के विषय में हस्तलेखों की भिन्नता के कारण प्रामाणिक परिचय नहीं मिलता कि इसके प्रणेता का नाम ही क्या था। मद्रास प्रति के संस्कर्ता पं० वेङ्कटरामशर्मा को उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर ग्रन्थकार का नाम भट्टभरद्वाज-सूनु पृथिवीश्वर है, उधर जर्मन संस्करण में भट्टदीप्त-स्वामिसूनु बलवागीश्वर शबर स्वामी है जो जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के हस्तलेख से

---

१. वररुचि का लिङ्गानुशासन किसी संक्षिप्त वृत्ति के साथ हर्षवर्धन के लिङ्गा-नुशासन के अन्त में मुद्रित है।

२. मद्रास वाला संस्करण वृत्ति तथा परिशिष्टों से युक्त होने से बहुत ही उत्तम तथा प्रामाणिक है।

मिलता है। शबरस्वामी शब्दशास्त्र के पण्डित हैं, क्योंकि उनके मतको सर्वानन्द ने अमरकोश टीका में तथा उज्ज्वलदत्त ने उणादि वृत्ति में उल्लिखित किया है। परन्तु पता नहीं कि ये शबरस्वामी कौन है। यदि ये ही वस्तुतः इस लिंगानुशासन के टीकाकार हों तो भी वे मीमांसक शबरस्वामी नहीं हो सकते। काल की भिन्नता इसमें प्रधान बाधक है। मीमांसक भाष्यकार शबरस्वामी का आविर्भावकाल द्वितीय शती माना जाता है, जब इस टीकाकार को सप्तम शती से अर्वाक्कालीन होना ही चाहिए।

वामन-रचित लिंगानुशासन तथा स्वोपज्ञ वृत्ति प्रकाशित हुई है। यह केवल ३३ आर्याओं में निबद्ध किया गया अत्यन्त लघुकाय लिंगानुशासन है। वामन के देशकाल का पता नहीं चलता।

अन्य व्याकरण सम्प्रदाय के भी लिंगानुशासन है। दुर्गसिंह का लिंगानुशासन कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध है (डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित)। हेमचन्द्र का लिंगानुशासन प्रसिद्ध है जिसके ऊपर अन्य वैयाकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं।

(५) परिभाषा पाठ

परिभाषा किसी भी व्याकरण-शासन का अनिवार्य अंग है। पाणिनीय सम्प्रदाय में तो उनका बड़ा विस्तार है टीका-प्रटीकाओं के अस्तित्व के कारण। परन्तु पाणिनि से इतर व्याकरण सम्प्रदायों में भी न्यून या अधिक मात्रा में उनका अस्तित्व है।

परिभाषा का लक्षण है—अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। सामान्यतः परिभाषा दो प्रकार की होती है—एक तो पाणिनीय अष्टाध्यायी में सूत्ररूप से पठित हैं, क्योंकि पाणिनि के अनेक सूत्र 'परिभाषा-सूत्र' के नाम से विख्यात हैं। दूसरी प्रकार की परिभाषायें वे हैं जो या तो किसी सूत्र से ज्ञापित होती हैं (ज्ञापनसिद्धा परिभाषा) अथवा लोक में प्रचलित न्याय का अनुगमन करती हैं (न्यायसिद्धा परिभाषा) अथवा जो इन दोनों प्रकारों से भिन्न हैं (वाचनिका परिभाषा)। अन्तिम प्रकार की **वाचनिका** परिभाषा भी या तो कात्यायन के वार्तिक रूप में लक्षित होती हैं अथवा भाष्यकार के वचन रूप में। परिभाषा पाठ से तात्पर्य दूसरे प्रकार की परिभाषाओं के संकलन से हैं जो पाणिनीय सूत्रों में निर्दिष्ट नहीं हैं।

परिभाषाओं का सर्व प्राचीन संकलन आचार्य व्याडि के नाम से सम्बन्ध रखता है। व्याडि के नाम से सम्बद्ध पाठ दो ग्रन्थों[1] में दिये गये हैं—प्रथम व्याडि-कृत **परिभाषा-सूचनम्** और दूसरा है **व्याडि-परिभाषा पाठः**। इन ग्रन्थों में दी गई

---

१. इन दोनों ग्रन्थों को पण्डित काशीनाथ अभ्यङ्कर शास्त्री ने 'परिभाषा संग्रह' में सम्मिलित किया है जो पूना से सं० २०१५ में प्रकाशित हुआ है।

परिभाषाओं में पारस्परिक भिन्नता भी है। प्रथम पाठ में केवल ९३ परिभाषायें हैं और द्वितीय पाठ में १४० परिभाषायें। आदिम परिभाषा दोनों में एक ही है—अर्थवद्-ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्। पुरुषोत्तम देव की परिभाषा वृत्ति में परिभाषाओं की संख्या १२० ही है। यह भी व्याडि-स्वीकृत पाठ को आधार मानकर चलती है। सीरदेव की परिभाषा वृत्ति में १३३ परिभाषायें हैं। नागेशभट्ट के परिभाषेन्दु-शेखर में भी १३३ परिभाषायें व्याख्यात हैं, परन्तु इनका क्रम सीरदेव के क्रम से भिन्नता रखता है। इन परिभाषापाठों का तुलनात्मक विवेचन नितान्त आवश्यक है।

परिभाषा-पाठ की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें आज भी हस्तलेख-रूप में ही विद्यमान हैं। इनमें से प्रकाशित अथ-च प्रख्यात वृत्तियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) **पुरुषोत्तम**—लघुवृत्ति (अथवा ललितावृत्ति)। पुरुषोत्तम का परिचय कोशविद्या के इतिहास प्रसंग मे पूर्व ही दिया गया है (पृष्ठ ३४९–३५०)। इन्होंने लक्ष्मणसेन के आदेश से 'भाषावृत्ति' का प्रणयन किया था। इन बौद्ध वंगीय विद्वान् का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। यह लघुवृत्ति संक्षिप्त होने पर सारगर्भित है।

(२) **सीरदेव**—परिभाषावृत्ति। सीरदेव ने इस वृत्ति में अनेक ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है जिनमें पुरुषोत्तमदेव सबसे अर्वाचीन है। सायण ने 'माधवीया धातु-वृत्ति' में सीरदेव का मत दो बार उद्धृत किया है। अतः सीरदेव का समय इन दोनों ग्रन्थकारों पुरुषोत्तमदेव तथा सायण के बीच में होना चाहिए (१२०० ई०–१३५० ई० के बीच में लगभग १३०० ई०)। यहाँ परिभाषा-पाठ पाणिनोय अष्टाध्यायी के क्रम से दिया गया है। परिभाषाओं का विवेचन पूर्ण तथा प्रामाणिक है।

(३) **नागेशभट्ट**—परिभाषेन्दु-शेखर। नागेश के ग्रन्थों का पौर्वापर्य पीछे हमने यथाविधि दिखलाया है। उनके व्याकरण-ग्रन्थों 'परिभाषेन्दु-शेखर' सब के अन्त लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर का उल्लेख मिलता है, परन्तु इन ग्रन्थों में परिभाषेन्दु का निर्देश उपलब्ध नहीं है। यह नागेश के ग्रन्थों में भी अपनी पाण्डित्यमयी व्याख्या के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण तथा प्राचीनमतों की समीक्षा देकर अन्त में वाचनिकी, ज्ञापक-सिद्धा तथा न्याय-सिद्धा का भेद दिखलाया गया है। परिभाषाओं की विधिवद् उत्थानिका, स्वरूप तथा आलोचना इतने सुन्दर ढंग दी गई है कि परिभाषाओं के ज्ञान के लिए यही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न है। इसके ऊपर विपुल टीका-सम्पत्ति ग्रन्थ की विद्वत्ता तथा लोकप्रियता की विशद निर्दशिका है। वैद्यनाथ पायगुण्डे की गदा, भैरवमिश्र की भैरवी, राघवेन्द्राचार्य की त्रिपथगा, यागेश्वरशास्त्री की हैमवती, रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति तथा जयदेवमिश्र की विजया प्रसिद्ध हैं। नागेश

की ग्रन्थत्रयी में मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर के अनन्तर परिभाषेन्दुशेखर ही उनके वैयाकरणत्व का शंखनिनाद करने वाला उदात्त ग्रन्थ है।

(६) फिट्-सूत्र-पाठ

पाणिनीय सम्प्रदाय में फिट् सूत्रों का भी अपना महत्त्व है। फिट्सूत्र संख्या में ८७ (सत्तासी) है और चार पादों में विभक्त हैं। 'फिट्' शब्द 'फिष्' शब्द का प्रथमा एकवचन है। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) तथा कृत्तद्धित-समासाश्च (१।२।४६) इन सूत्रों के द्वारा अर्थवान् मूल शब्द को प्रातिपादिक संज्ञा पाणिनीयमत में विहित है। सामान्य रीति से कह सकते हैं कि सुप् विभक्ति के योग से पहिले अर्थवान् शब्द का जो मूल स्वरूप रहता है यथा राम, हरि, गो, भानु आदि वही प्रातिपादिक है। और यही प्रातिपादिक 'फिट्' के नाम से इस तन्त्र में प्रख्यात है। यह पाणिनि से भिन्न तन्त्र है। प्रतिपदिकों के स्वर-विचार के लिए निबद्ध यह सूत्र-पाठ **'फिट् स्वर-पाठ'** के नाम से प्रख्यात है।

इन ८७ सूत्रों में शब्दों के स्वर-संचार पर विचार है। इन सूत्रों की आवश्यकता का अवसर तब आया, जब व्याकरण के कतिपय आचार्य शब्दों में यौगिक शब्दों के अतिरिक्त रुढ़ शब्दों को भी स्थित मानने लगे। उणादि-सूत्रों की व्याख्या के अवसर पर दिखलाया गया है कि शब्दों का यौगिक पक्ष ही प्रधान है। अर्थात् शब्द प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से निष्पन्न हैं। ऐसी दशा में प्रत्ययों से निष्पत्ति मान्य होने पर, स्वरसंचार का विचार तो प्रत्ययस्वर से ही सिद्ध हो जाता है। इन सूत्रों की आवश्यकता तो शब्दों के अव्युत्पन्न मानने के अवसर पर ही आती है। **'अव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'** पाणिनीय मत का एक बहुचर्चित पक्ष है। महाभाष्यकार तो पाणिनि के मत में उणादिकों को भी अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं[1]। भाष्यकार की उक्ति माननीय है तथा भाषाविज्ञान के आलोक में मननीय भी है। जो कुछ भी हो, पाणिनीय सम्प्रदाय के भी अनेक आचार्य शब्दों के रूढ़ि-पक्ष के पक्षपाती हैं। अर्थात् शब्द को प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से विना निष्पन्न हुये ही सिद्ध माने जाते हैं; यह उनका मत है। उन्हीं आचार्यों के पक्ष को दृष्टि में रखकर फिट् सूत्रों का पाठ किया गया है।

फिट् सूत्रों का प्रवक्ता

फिट् सूत्रों का प्रवक्ता कौन है? इसके उत्तर में मान्य ग्रन्थकारों का एक ही

---

१. प्रातिपदिक विज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि—महाभाष्य।

उत्तर है—आचार्य शन्तनु। और शन्तनु-प्रणीत होने से ही ये सूत्र **'शान्तनव'** नाम से प्रख्यात हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण हरदत्त की पदमञ्जरी से उपलब्ध होता है। 'द्वारादीनां च' (७।३।४) की व्याख्या में काशिका ने स्वरविषयक ग्रन्थ तथा अध्याय के लिए 'सौवर' शब्द की सिद्धि बताई है[1]। इसकी व्याख्या में हरदत्त का कथन है—

स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिषित्यादिकः

सचमुच 'फिषोऽन्त उदात्तः' फिट् सूत्रों के प्रथम सूत्र की ओर ही हरदत्त का स्पष्ट संकेत है। फलतः इन सूत्रों के रचयिता या प्रवक्ता शन्तनु आचार्य हैं। हरदत्त के इस मत का उल्लेख नागेशभट्ट[2] ने शब्देन्दु-शेखर की फिट्-सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्वयं किया है। फलतः फिट्-सूत्र अपाणिनीय हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। तथापि महाभाष्य के ज्ञापक के द्वारा पाणिनीय आचार्य उनका आश्रयण करते हैं—

अपाणिनीयान्यपि फिट् सूत्राणि पाणिनीयैराश्रीयन्ते भाष्यात् ज्ञापकात्। तथा च 'आद्युदात्तश्च' इति सूत्रे भाष्यं प्रतिपदिकस्य यान्त इति प्रकृतेरन्तोदात्तत्वं शास्ति[3]।

फलतः शन्तनु आचार्य के द्वारा प्रणीत इन सूत्रों को पाणिनीय सम्प्रदाय भी अपने शास्त्र का उपादेय अंग ही मानता है।

फिट्-सूत्रों की प्राचीनता

यूरोपियन विद्वानों में व्युत्पन्न वैयाकरण डा० कीलहार्न ने १८६६ ई० में इन सूत्रों का विभिन्न संस्कृत व्याख्याओं, भूमिका तथा अनुवाद के साथ एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। फलतः यूरोपियन विद्वान् इन सूत्रों से परिचय रखते हैं। तब डा० विन्टरनित्स को डा० कीथ के साथ एक मत होकर इन सूत्रों को शान्तनव की कृति मानते देखकर आश्चर्य होता है[4]। 'शान्तनव' आचार्य का नाम नहीं है, प्रत्युत शन्तनु द्वारा प्रणीत होने से इन फिट्-सूत्रों का ही नाम है।

---

१. स्वरमधि कृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः। सौवरोऽध्यायः (काशिका, जिल्द ६, पृष्ठ ६)।

२. शन्तनुराचार्यः प्रणेतेति द्वारादीनां चेति सूत्रे हरदत्तः॥

३. 'फिषोऽन्त उदात्तः' सूत्र की तत्त्वबोधिनी का यह कथन द्रष्टव्य है।

४. द्रष्टव्य हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर जिल्द ३, भाग २ पृष्ठ ४३८ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७)।

इन सूत्रों के काल के विषय में डा० कीथ तथा डा० विन्टरनित्स दोनों का कथन है कि ये पाणिनि को तो निश्चयेन अज्ञात थे और पतञ्जलि को भी सम्भवतः अज्ञात थे। परन्तु यह मत कथमपि माननीय नहीं है।

(१) पतञ्जलि के महाभाष्य में ऐसे स्पष्ट निर्देश हैं जो उनके फिट्-सूत्रों से परिचय को स्थिर करते हैं। पतञ्जलि का कथन है—

स्वरित करण सामर्थ्यान्न भविष्यति-न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इति। यहाँ पतञ्जलि ने 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' को उद्धृत किया है जो फिट्-सूत्रों में ७४ वाँ सूत्र है। इसी प्रकार 'प्रत्ययस्वरस्यावकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः समत्वं सिमत्वम् (६।१।१५८ का महाभाष्य) पतञ्जलि का कथन 'त्वत्-त्व-सम-सिमेत्यनुच्चानि, (फिट्-सूत्र ७८ वाँ) को लक्ष्य कर ही सम तथा सिम शब्दों में सर्वानुदात्तत्व का प्रतिपादन करता है। ऐसे स्पष्ट निर्देशों के होने पर पतञ्जलि को फिट्-सूत्रों से अपरिचित कहने का कौन साहस कर सकता है ?

(ख) पाणिन्यपेक्षया भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है चन्द्रगोमी के एक विशिष्ट कथन के प्रामाण्य पर। प्रत्याहारों के विषय में चन्द्रगोमी का कथन है कि पूर्व वैयाकरण 'ऐऔष्' प्रत्याहार मानते थे, इसके स्थान पर 'ऐऔच्' किया गया है। 'ऐऔच्' माहेश्वर-सूत्र है पाणिनि-सम्मत। और इसी शैली पर स्वर के लिए 'अच्' प्रत्याहार पाणिनि द्वारा बनता है। पूर्व वैयाकरण के यहाँ स्वर के लिए 'अष्' प्रत्याहार था—चन्द्रगोमी का यही अभिप्राय है। और यह अष्[१] प्रत्याहार फिट्-सूत्र २७ 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' तथा फिट्-सूत्र ४२ लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' में उपलब्ध होता है। फलतः पाणिनि ने फिट्-सूत्रों के 'अष्' को 'अच्' में बदल दिया। ऐसी दशा में पाणिनि को इन सूत्रों से अपरिचित घोषित करना अनुचित हैं। शान्तनु पाणिनि से पूर्व वैयाकरण हैं।

उपलब्ध फिट्-सूत्र शन्तनु-तन्त्र का एक भाग ही प्रतीत होता है। अन्य सूत्रों की सत्ता मानना ही उचित प्रतीत होता है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग व्याख्या के बिना नितान्त असंगत तथा अप्रामाणिक है। फिट्-सूत्रों के पारिभाषिक शब्द अव्याख्यात ही हैं जैसे फिष् (सूत्र १) = प्रातिपदिक, नप् (सूत्र २६ तथा ६१) = नपुंसक, शिट् (सूत्र २९) = सर्वनाम। इन शब्दों के व्याख्या-प्रदाता सूत्र अवश्य

---

१. एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः 'एऔष्' यदासीत् तद् 'ऐ औच्' इति कृतम्। तथाहि 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' इति पठ्यते।

इस तन्त्र में रहे होंगे। प्रत्याहारों की भी यही दशा है। अष् = अच्[1] तथा हय् = हल्[2]। परन्तु इनकी व्याख्या अपेक्षित होने पर भी इन सूत्रों में उपलब्ध नहीं है। फलतः इन सूत्रों का कोई और अंश अवश्य होगा।

फिट्-सूत्रों की व्याख्या भट्टोजिदीक्षित तथा नागेश ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है। श्रीनिवास यज्वा ने स्वर-सूत्रों के ऊपर जो स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका[3] नाम्नी विशद व्याख्या लिखी है उसमें फिट् सूत्रों की भी विशद वृत्ति है। इस प्रकार शान्तनु आचार्य द्वारा प्रणीत ये फिट्-सूत्र पाणिनीय तन्त्र के अविभाज्य अंग हैं।

---

१. अष् से अभिप्राय 'अच्' का है। चन्द्रगोमी का वचन ऊपर उद्धृत है।

२. हय् इति हलां संज्ञा—लघुशब्देन्दुशेखर।

३. अन्नमलै विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला नं० ४, (मद्रास, १९३६) में प्रकाशित।

षष्ठ खण्ड

इतर व्याकरण-सम्प्रदाय

वोपदेव ने अपने इस प्रसिद्ध श्लोक में आठ आदिशाब्दिकों का नाम निर्दिष्ट किया है—

> इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलिशाकटायनाः ।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

'आदि शाब्दिक' शब्द से वोपदेव का तात्पर्य व्याकरण-सम्प्रदाय के प्रवर्तकों से है। इनमें से तीन वैयाकरण पूर्व-पाणिनीय युग से सम्बन्ध रखते हैं (इन्द्र, आपिशलि तथा काशकृत्स्न) तथा चार पाणिनि के उत्तर युग से सम्बद्ध हैं (अमर, जैनेन्द्र, चन्द्र तथा शाकटायन)। पूर्व-पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन इस खण्ड के आरम्भ में संक्षेप से दिया गया है[1]। उत्तरकालीन वैयाकरणों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन वैयाकरणों में अन्य भी अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थकार हैं जिनका उल्लेख वोपदेव ने नहीं किया, परन्तु व्याकरण-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास की पूर्ण जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त भी परिचय आवश्यक है।

मौलिक समस्या है कि पाणिनीय सम्प्रदाय जैसे शास्त्रीय सम्प्रदाय के रहते हुए भी तदितर सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव का क्या रहस्य है? इन सम्प्रदायों के अस्तित्व के लिए कौन सी आवश्यकता थी? यह समस्या समाधान की अपेक्षा रखती है। पहिले संकेत किया गया है कि पाणिनि-सदृश महावैयाकरण द्वारा कड़े नियमों से जकड़ी जाने पर भी संस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रह सका। नये परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने के लिए कात्यायन-सदृश वैयाकरणों को नये नियम बनाने पड़े अथवा पाणिनि के सूत्रों में ही हेरफेर कर उन परिवर्तनों को पाणिनि के सूत्रों के भीतर ही बैठाया गया। किन्तु इन प्रयत्नों में एक तो कृत्रिमता की गन्ध आती थी और दूसरे उत्तर काल के परिवर्तनों को पाणिनि के सिर पर लादने से ऐतिहासिक क्रम का भी विपर्यास होता था। कात्यायन के वार्तिकों से तथा पतञ्जलि की इष्टियों से यह

---

1. आपिशलि का वर्णन इस ग्रन्थ के पृष्ठ २८६–२८८ तक, इन्द्र का वर्णन पृष्ठ २९०–२९२ तक तथा काशकृत्स्न का वर्णन पृष्ठ २९२–९३ तक किया गया है। जिज्ञासुजन उन्हें वहीं देखने का कष्ट करें।

कार्य अवश्यमेव सम्पन्न किया गया, परन्तु परिवर्तनों की संख्या कालातिक्रम से बढ़ती ही गई और पाणिनि के सुचिन्तित सूत्रों के भीतर इनका समावेश असम्भव हो गया। एक तथ्य ध्यातव्य है कि संस्कृत-भाषा अब तक साहित्यिक अथवा शिष्ट-भाषा थी और वह धीरे-धीरे पण्डित-भाषा बन रही थी। इसलिए परिवर्तनों का क्रम अवश्यमेव कुछ शिथिल रहा होगा। परन्तु परिवर्तन कालानुसार अवश्यमेव दृष्टिगोचर होने लगे थे। यथा 'फलेग्रहिः' के समान 'मलग्रहिः', 'स्तनन्धयः' के सदृश 'आस्यन्धयः' और 'पुष्पन्धयः', 'नाडिन्धमः' के समान 'करन्धमः' पदों की उपपत्ति अब आवश्यक हो गई। ये शब्द प्रयोग में आने लगे, परन्तु पाणिनि-सूत्रों से इनकी पूर्णतः व्यवस्था नहीं हो सकी। अतएव यह कार्य सिद्ध करने के लिए 'कातन्त्र' व्याकरण सामने आया। अनुस्वार के लिए भी पाणिनि का निर्देश है कि म् के स्थान में अनुस्वार व्यञ्जन के पूर्व होने पर ही होता है, अन्त में नहीं। कातन्त्र तथा सारस्वत सम्प्रदाय में अन्त में भी अनुस्वार मान लिया गया है। फल यह है कि इस युग में लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों के स्थान में लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों की प्रतिष्ठा हुई जिनकी उदार-भावना को केरलीय नारायणभट्ट ने अपने 'प्रक्रिया-सर्वस्व' के इस पद्य में प्रकट किया है। उनका कथन है कि पाणिनि का कथन प्रमाण है और चन्द्र तथा भोज का कथन प्रमाण नहीं है; यह कथन निर्मूल है, क्योंकि बहुवेत्ता ग्रन्थकारों की उक्ति निराधार नहीं होती। गुण की महत्ता होती है तथा गुणी के वचनों को ही बहुजन अंगीकार करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो पाणिनि से पूर्व व्याकरण ही नहीं था क्या ? पाणिनि ने तो स्वयं पूर्वाचार्यों के मत को उद्धृत किया है और ऐसे स्थलों पर आज विकल्प की कल्पना की जाती है। फलतः हमें उदार होना चाहिए अपनी कल्पना में तथा व्याकरण के द्वारा प्रयोज्य व्यापार में—

> **पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादि-शास्त्रं**
> **केऽप्याहुः, तत् लघिष्ठं, न खलु बहुविदास्ति निर्मूलवाक्यम्।**
> **बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा**
> **पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधे चापि कल्प्यो विकल्पः॥**

इसी कारण उत्तर-कालीन वैयाकरणों ने नवीन व्याकरण बनाने में ही कल्याण देखा। इनके उद्देश्यों की पूरी सिद्धि भी हुई। इनके द्वारा आरम्भिक छात्रों को संस्कृत सीखने में सरलता मिली, परन्तु ये व्याकरण अपने देशकाल की परिधि में ही फूले-फले। जैसे भोज का व्याकरण मालवा की विशिष्ट सम्पत्ति है, तो हेमचन्द्र का व्याकरण गुजरात की और उसमें भी जैन धर्मावलम्बियों की। पाणिनीय सम्प्रदाय को ही अखिल भारतीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसका कारण है उसका शास्त्रीय तथ्यों का आमूल-चूल गम्भीर विवेचन। पाणिनीय सम्प्रदाय ने ही व्याकरण को दर्शन के उदात्त

सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। शब्दाद्वैत की मीमांसा पतञ्जलि तथा भर्तृहरि की अलोकसामान्य वैदुष्य का चमत्कार है। पाणिनीय सम्प्रदाय के सार्वभौम प्रख्याति का रहस्य इस दार्शनिक विवेचन के भीतर अन्तर्निहित है।

(१) कातन्त्र व्याकरण

पाणिनि की परम्परा से बहिर्भूत व्याकरण–सम्प्रदायों में कातन्त्र व्याकरण निःसन्देह सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। इसके नाम की व्याख्या दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति में 'ईषत् तन्त्र' शब्द के द्वारा की है। बृहत्काय पाणिनीय सम्प्रदाय की तुलना में लघु-काय होने के कारण 'कातन्त्र' नाम अपनी अन्वर्थता रखता है। कुमार अर्थात् कार्तिकेय के द्वारा मूलतः प्रेरित होने के कारण यह 'कौमार' नाम से भी प्रख्यात है। कार्तिकेय के वाहन मयूर के पिच्छों (कलाप अर्थात् पंखों) से संगृहीत किये जाने के हेतु इसकी अपर संज्ञा 'कालापक' भी मानी जाती है[1]। यह व्याकरण-सम्प्रदाय निःसन्देह प्राचीनतर सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। महाभाष्य के अनुसार अद्यतनी, श्वस्तनी, भविष्यन्ती, परोक्षा संज्ञायें प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रचारित की गई थीं। और ये सब कातन्त्र में उपलब्ध होती हैं[2]। 'कारित' णिजन्त की संज्ञा निरुक्त (१।१३) में निर्दिष्ट है जो यहाँ भी मिलती है। फलतः यह व्याकरणसम्प्रदाय अवश्यमेव प्राचीन है, परन्तु कितना प्राचीन ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। शूद्रक रचित 'पद्मप्राभृतक' भाण में कातन्त्रिकों के उस युग में अत्यन्त लोकप्रिय होने का उल्लेख है[3]। पाणिनीयों के साथ इनको उस काल में महती स्पर्धा थी—इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। पाणिनिमतानुयायी इन्हें वैयाकरणों में अधम (पारशव) मानते थे तथा अनास्था रखते थे।

कातन्त्र व्याकरण का परिचय

कौमार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कातन्त्र या कलाप व्याकरण में शब्द-साधक की

---

१. यह तथ्य वनमालिद्विज रचित 'कलाप-व्याकरणोत्पत्तिप्रस्ताव' में दिया गया है···सर्ववर्मा शम्भोरनुज्ञया कार्तिकेयमाराध्य शिखिवाहनस्य शिखिनां कलापात् व्याकरण संगृह्य राजानमल्पकालेनैव व्याकरणाभिज्ञं कृतवान् इत्यस्य कलाप इति नामासीत्।

२. अद्यतनी—कातन्त्र ३।१।२२, भविष्यन्ती ३।१।१५,
श्वस्तनी ,, ३।१।१५ परोक्षा ३।१।१३ आदि में।

३. एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति। हन्त प्रवृत्तं काकोलूकम्······। का चेदानीं मम वैयाकरण-पारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था। (पृ० १८)

प्रक्रिया पाणिनीय व्याकरण से प्रायः भिन्न ही देखी जाती है। इस व्याकरण में लौकिक शब्दों के ही साधनार्थ नियम बताए गए हैं। अन्य व्याख्याकारों के मत से जिन वैदिक शब्दों का साधुत्व यहाँ दिखाया गया है, वे शब्द आचार्य शर्ववर्मा के मत से लौकिक ही समझने चाहिए।

कातन्त्र शब्द का अर्थ है—अल्प या संक्षिप्त तन्त्र (**ईषत् तन्त्रं कातन्त्रम्, ईषदर्थे कु शब्दस्य कादेशः, "का त्वीषदर्थेऽक्षे" कातन्त्र २।५।२५**)। वैयाकरण हरिराम ने पाणिनि-व्याकरण की अपेक्षा इसको संक्षिप्त बताया है। भगवान् कुमार के प्रसाद से प्राप्त होने के कारण शर्ववर्म-प्रोक्त इस व्याकरण को कौमार नाम से भी अभिहित किया जाता है। व्याकरण का अत्यन्त संक्षेप दिखाए जाने से ही इसको कलापक नाम भी प्रसिद्ध है (बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापकाः शास्त्राणि, हेमचन्द उणादि-वृत्ति, पृष्ठ १०)।

आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत इस 'कातन्त्र व्याकरण' में मूलतः सन्धि, नाम एवं आख्यात ये तीन ही अध्याय हैं। इन अध्यायों में सन्धि के अन्तर्गत पाँच, नाम में छः तथा आख्यात में आठ पाद हैं। सन्धि के पाँच पाद पाँच सन्धियों से सम्बन्धित हैं। नाम-चतुष्टय के प्राथमिक तीन पादों में स्याद्यन्त रूपों की सिद्धि की गई है। शेष तीन पादों में कारक, समास एवं तद्धित प्रकरणों का निरूपण क्रमशः किया गया है। आख्यात के प्रथम पाद में 'वर्तमाना' आदि काल-बोधिका संज्ञाएँ बताकर द्वितीय पाद में 'सन्' इत्यादि प्रत्ययों तथा 'अन्' (पाणिनि के अनुसार 'शप्') इत्यादि विकरणों के प्रयोगस्थल का निर्देश किया गया है। तृतीय पाद में द्वित्वविधि, चतुर्थ में सम्प्रसारण, अकारलोपादि कार्य दिखाए गए हैं। पञ्चम में गुण, षष्ट में अनुषङ्गलोपः, वृद्धि, उपधादीर्घ (नुम्) तथा नलोपादि का विषय वर्णित है। सप्तम पाद में इडागम एवं कुछ अनिट् धातुओं का निर्देश करके अष्टम पाद में औपदेशिक णकार का नकार आदेशादि प्रकीर्ण कार्यों को दिखाया गया है।

इन तीनों अध्यायों की क्रमविषयक संगति का निर्देश आचार्य सुषेण ने 'कलापचन्द्र' के प्रारम्भ में इस प्रकार किया है—

> "सन्ध्यादिक्रममादाय यत्कलापं विनिर्मितम्,
> मोदकं देहि देवेति वचनं तन्निदर्शनम्।"
>
> (कलापचन्द्रः, मङ्गलाचरणम्—पृ० ७)।

राजा शालिवाहन (सातवाहन) के प्रति उनकी रानी के द्वारा कहे गए 'मोदकं देहि' इस वचन के 'मोदक' शब्द में गुण-सन्धि होने के कारण पहले सन्धि का विषय दिखाया गया है। पुनः 'मोदकम्' स्याद्यन्त (नाम) पद है, अतः सन्धि के

बाद नामशब्दों की सिद्धि की गई है। तदनु 'देहि' इस आख्यात पद को श्लोक में कहा गया है। उसी क्रम से नाम-निरूपण के अनन्तर आचार्य ने आख्यात का विषय प्रदर्शित किया है।

सम्प्रति उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' में कृदन्त रूप चतुर्थ अध्याय कात्यायन-वररुचि द्वारा प्रणीत है। वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कृदन्तवृत्ति के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है—

"वृक्षादिवदमी रूढ़ाः कृतिना न कृताः कृतः,
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धिप्रतिपत्तये।"

(कात० वृ०, कृत्प्र०, प्रारम्भे)।

यद्यपि आचार्य शर्ववर्मा के **"कर्तृकर्मणोः कृति नित्यम्"**, **"न निष्ठादिषु"** (कातन्त्र २।४।४१, ४२) यह सूत्र कृत्प्रकरण-विषयक निर्धारण को ही द्योतित करते हैं, तथापि **"वररुचिना तृनादिकं पृथगेवोक्तं ततश्च वररुचिशर्ववर्मणोरेकबुद्ध्या दुर्गसिंहेनोक्तमिति"** (कवि० २।१।६८) इत्यादि व्याख्याकारों के वचनों से कृदन्त भाग के प्रणेता आचार्य वररुचि ही माने जा सकते हैं, न कि आचार्य शर्ववर्मा। सारांश यह है कि आचार्य शर्ववर्मा ने कृत् प्रत्ययों का निर्धारण तो किया ही था, परन्तु उनका अनुशासन नहीं किया था।

कुछ प्रमाणों के आधार पर उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' दुर्गसिंह द्वारा परिष्कृत संस्करण माना जा सकता है। **"तादर्थ्ये"** (कात० २।४।२७) सूत्र के व्याख्यान में पञ्जीकार त्रिलोचनदास कहते हैं—**"तादर्थ्यमिति कथमिदमुच्यते, न खल्वेतच्छर्ववर्मकृतसूत्रमस्तीति।......अत्र तु वृत्तिकृता मतान्तरमादर्शितम्। इह हि प्रस्तावे चन्द्रगोमिना प्रणीतमिदमिति"** (पञ्जी—२।४।२३३)।

अर्थात् यह सूत्र आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत नहीं है, किन्तु चन्द्रगोमी-प्रणीत सूत्र को मतान्तर दिखाने के उद्देश्य से वृत्तिकार दुर्गसिंह ने उद्धृत किया है।

कवीन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ—सूची में कपाल-व्याकरण के अतिरिक्त **दौर्ग-व्याकरण** का भी नाम अङ्कित किया है (कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र, व्याकरण ग्रन्थ, संख्या १४७)। 'दैव' इत्यादि ग्रन्थों में 'दौर्ग' नाम से अनेक मत उद्धृत भी हैं। इन प्रमाणों का तात्पर्य है कि दुर्गाचार्य के द्वारा लिखित व्याकरण के अभाव में उनके द्वारा परिष्कृत इसी व्याकरण की ओर ही इन टीकाकारों का संकेत है।

इस कातन्त्र व्याकरण के **वर्णसमाम्नाय** में ५२ वर्ण माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, ं ँ (अनुस्वारः), ः (विसर्ग), ✕ (जिह्वामूलीयः), ω (उपध्मानीय), क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह एवं क्ष। वर्णसमाम्नाय में न पढ़े जाने से प्लुत वर्णों का बोध अनुपदिष्ट शब्द से किया जाता है।

इसमें 'स्वर' से लेकर 'कृत्य' पर्यन्त ७४ संज्ञाओं का प्रयोग संज्ञि-निर्देश पूर्वक किया गया है, जिनमें कालबोधिका श्वस्तनी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, वर्तमाना इत्यादि पूर्वाचार्य-प्रयुक्त संज्ञाओं को भी स्थान दिया गया है। श ष स ह इन चार वर्णों की 'ऊष्म' संज्ञा को निरर्थक कहा गया है, क्योंकि विधिसूत्रों में उसका उपयोग नहीं किया गया है। विधिसूत्रों में तो उक्त वर्णों के बोध के लिए की गई 'शिट्' संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इस निरर्थक संज्ञा को उपस्थापित करने का एकमात्र प्रयोजन पूर्वाचार्य-स्वीकृत व्यवहार को दिखाना ही व्याख्याकारों ने माना है।

संज्ञि-निदेश रहित 'वर्ण' आदि ३० संज्ञाओं का भी व्यवहार किया गया है। अत्यन्त संक्षेप अभीष्ट होने से आचार्य ने सभी नियमों के लिए सूत्र नहीं बनाए। अतएव **"लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः"** (कात० १।१।२३) यह सूत्र बनाकर यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि अव्यय, उपसर्ग, कारक, काल इत्यादि के परिज्ञान के लिए सूत्र बनाना निरर्थक है। इनका ज्ञान लोक-प्रयोग के आधार पर कर लेना चाहिए।

यहाँ विधेय वर्ण के निर्देश से ही कार्य हो जाने पर संज्ञापूर्वक निर्देश विधि की अनित्यता को एवं कहीं सुखार्थ बोध को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया गया है। कहीं पर पूर्व सूत्रों से जिन शब्दों का अधिकार चला आ रहा है तो उस अधिकार के समाप्ति-द्योतन के लिए उन शब्दों का पुनः पाठ किया गया है। जैसे—**"एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः"** (कात० १।२।४०) इस सूत्र में पूर्वसूत्र से यद्यपि पदान्ताधिकार चला आ रहा था, तो पुनः पदान्त-ग्रहण की आवश्यकता न होने पर उसका उपादान अग्रिम सूत्र में पादान्ताधिकार की निवृत्ति के लिए किया गया है—ऐसा वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है (द्र०—कात० वृ० १।२।४०)। **"न व्यञ्जने स्वराः सन्धेयाः"** (कात० १।२।४१) इत्यादि सूत्र-पठित नञ् को विधि की अनित्यता का द्योतक समझना चाहिए (द्र०—कात० वृ० १।२।४१)।

कुछ शब्द परिभाषाओं के ज्ञापनार्थ भी पढ़े गए हैं, जैसे—"बाह्वादेश्च विधीयते" (कात० २।६।२६३) इस सूत्र के बाह्वादि गण में टीकाकार ने 'बाहु-उपबाहु' एवं 'बिन्दु-उपबिन्दु' यह शब्द पढ़े हैं। अतः कविराज कहते हैं कि तदन्तविधि मानकर बाहु से उपबाहु का तथा बिन्दु से उपबिन्दु का ग्रहण हो ही सकता था, फिर जो

दोनों शब्द पढ़े गए, उनसे यह ज्ञापित होता है, कि बाह्वादि गण में 'ग्रहणवता लिंगेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह नियम प्रवृत्त होता है।

प्रयोगसिद्धि

व्याख्याकारों ने वररुचि आदि आचार्यों के मतानुसार अनेक अप्रसिद्ध एवं अपाणिनीय प्रयोगों की सिद्धि दिखाई है—निदर्शनार्थ कुछ वाक्य उद्धृत किए जाते हैं, जैसे—**"कुरवोऽस्महितं मन्त्रं सभायाञ्चक्रिरे मिथः"** (कात० वृ० टी० १।५।६८)। **"वातोऽपि तापपरितो सिञ्चति"** (कवि० १।५।६९)। **"पितरस्तर्पयामास"** (कात० वृ० टी० २।१।६६)। ये पाणिनीय व्याकरण से असिद्ध प्रयोग हैं, परन्तु संस्कृत में प्रयुक्त हैं। फलतः इन की यहाँ व्यवस्था की गई है जिससे ये व्याकरण-सम्मत ही माने जायँ।

कार्यी और कार्य का समान विभक्ति में ही प्रायः निर्देश देखा जाता है, जिसको व्याख्याकारों ने स्पष्टार्थ कहा है (कात० वृ० टी० २।१।५५)। जहाँ पर आदेश को द्वितीयान्त एवं स्थानी को प्रथमान्त कहकर आदेश एवं स्थानी में समान विभक्त का प्रयोग नहीं किया गया है वहा भिन्न विभक्तिक निर्देश से ही सरलतया बोध हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए (द्र०—कवि० २।२।६८)। **"सम्बुद्धौ च"** (कात० २।१।५६) इस सूत्र में उपात्त 'च' वर्ण को अनित्यता का द्योतक मानकर वररुचि के मतानुसार—'वरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः' इत्यादि स्थलों में उकार का ओकार आदेश नहीं होता है—ऐसा कविराज ने स्पष्ट कहा है (द्रष्टव्य—कवि० २।१५६)।

वार्तिककार **कात्यायन** ने **"अभितः परितः समयानिकषा"** (सि० कौ० १।४।४९ वा०) वार्तिक द्वारा 'अभितः' आदि शब्दों के योग में द्वितीया का विधान कहा है। टीकाकार ने यह उद्धृत किया है, कि आचार्य 'आपिशलि' के मत में इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती थी, अतः उनके योग में द्वितीया-विधान उपपन्न होता था (कात० वृ० टी० २।४।२२८)।

पञ्जीकार **त्रिलोचनदास** ने कहा है कि आचार्य 'शर्ववर्मा' को अर्थ-लाघव ही अभीष्ट था। यही कारण है, कि उन्होंने 'नाम-चतुष्टय' नामक अध्याय में समास और तद्धित प्रकरणों को अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध किया। अतः बहुत्र 'विज्ञेय' आदि क्रियापद छन्दः पूर्ति के लिए ही पढ़े गये हैं। उनका वचन इस प्रकार है—

"सम सस्तद्धितश्चैव सुखप्रतिपत्त्यर्थमनुष्टुब्बन्धेन विरचित इत्यत्र 'विज्ञेय' ग्रहणम्। एव त्तरेष्वपि योगेषु शब्दलाघवं न चिन्तनीयम् अर्थप्रतिपत्ति—लाघवस्य शर्ववर्मणोऽभिप्रेतत्वात्" (पञ्जी २।५।२६३)।

अर्थलाघव की दृष्टि से अनेक शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्र तो नहीं बनाए गए हैं,

परन्तु उनकी भी सिद्धि सूत्रोपात्त 'वा-अपि' जैसे शब्दों के व्याख्यान-बल से सम्पन्न की जाती है। उनसे भी अवशिष्ट शब्द लोक-प्रयुक्त होने से सिद्ध माने जाते हैं। जैसा वररुचि ने कहा भी है—

> **"वा शब्दैश्चापिशब्दै र्वा शब्दानां (सूत्राणाम्) चालकैस्तथा,**
> **एभिर्येऽत्र न सिध्यन्ति ते साध्या लोकसम्मताः।"**
>
> **(कवि० १।१।२३)।**

कातन्त्र धातुपाठ में नव गण ही प्रमुख माने गये हैं, क्योंकि जुहोत्यादि को अदादि के ही अन्तर्गत पढ़ा गया है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि यह विशेषता काशकृत्स्न व्याकरण में विद्यामान थी। कातन्त्र के षट्पादी उणादि प्रकरण में 'उण्' प्रभृति २६४ प्रत्ययों का व्यवहार किया गया है। गणपाठ स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध है, परन्तु वृत्तिकार ने प्रायः सभी गणों के शब्दों को वृत्ति में पढ़ दिया है। कातन्त्र—लिङ्गानुशासन की रचना के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

टीकासम्पत्ति

उक्त शर्ववर्म-प्रणीत 'कातन्त्र-व्याकरण' पर आचार्य शर्ववर्मा ने ही सर्वप्रथम एक महती वृत्ति बनाई थी, यह संकेत श्री गुरुपद हालदार ने किया है अपने व्याकरण इतिहास में (पृ० ४३७)।

आचार्य सर्ववर्मा के अनन्तर कात्यायन वररुचि ने दुर्घटवृत्ति का प्रणयन किया। वररुचि-कृत दुर्घटवृत्ति का उल्लेख व्याख्याकार हरिराम ने किया है (द्र०—व्याख्यासारः, पृ० १७४)। इसके अतिरिक्त अन्य भी वृत्तिकार हुए होंगे जिनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु वृत्तिकार दुर्गसिंह किन्हीं स्थलों पर केचित्, परे इत्यादि शब्दों से उनके मतों का स्मरण करते हैं। जैसे—"ऐस्करणादतिजरसैरिति केचित्" (कात० वृ० २।१।१८)। कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्दरूपों का वर्णन गरुणपुराण[1] के दो अध्याओं में किया गया है (अध्याय २०३ तथा २०४) यहाँ कातन्त्र व्याकरण के सूत्र तथा उदाहरण पद्यमय रूप में दिये गये हैं। २०३ अध्याय में २५ श्लोक तथा २०४ अ० में २६ श्लोक हैं। पुराण में कातन्त्र का यह विवरण इसकी विपुल लोकप्रियता का निःसन्देह सूचक है। (२०४।२७) अन्त में कहा गया है कि कात्यायन ने इस व्याकरण का विस्तार किया। कात्यायन द्वारा कृत् प्रकरण के जोड़ने की साम्प्रदायिक प्रसिद्धि को यह कथन लक्ष्य कर निबद्ध है।

अग्निपुराण के ३४९ अध्याय से लेकर ३५९ अध्याय तक अर्थात् एग्यारह-अध्यायों में व्याकरण का जो विस्तृत वर्णन है वह भी कातन्त्र व्याकरण द्वारा प्रभावित

---

१. **द्रष्टव्य—गरुडपुराण, पृष्ठ** २४७–२४९ **(चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी,** १९६४)।

है। ३४९ अ० के आरम्भ में ही[1] स्कन्द अर्थात् कुमार ने अपने व्याकरण के सार को कात्यायन के ज्ञान के निमित्त कहने की जो प्रतिज्ञा की है, वह कौमार या कातन्त्र व्याकरण की ओर ही स्पष्ट संकेत है।

कातन्त्रमें सूत्रों की संख्या १४०० से कुछ ऊपर[2] है। अपनी लघुकाया तथा व्यावहारिकता के कारण यह व्याकरण प्राचीन काल में बहुत ही अधिक लोकप्रिय था। बंगाल तथा काश्मीर में इसके विपुल प्रचलन का पता मिलता ही है। बौद्धों की कृपा से यह मध्य एशिया के देशों में भी व्यवहृत होता था जहाँ से इसके ग्रन्थावशेष प्राप्त हुये हैं। बौद्धों में इसकी लोकप्रियता का एक यह भी कारण है कि पालीका कात्यायन व्याकरण 'कातन्त्र' के द्वारा ही प्रभावित तथा संपुष्टित किया गया है। सातवाहन प्राकृतभाषा के बड़े मान्य उन्नायक तथा सेवक थे। अनेक विद्वान् कातन्त्र की रचना को उनके राज्यकाल से सम्बद्ध मानने से हिचकते हैं। फलतः वे शर्ववर्मा को प्रथमशती में रखने से पराङ्मुख हैं। शूद्रक के समय में पद्मप्राभृतक के आधार पर कातन्त्र के अभ्युदय का हम अपलाप नहीं कर सकते। शूद्रक का समय हमने पञ्चमशतक माना है[3]। फलतः कातन्त्र का रचना काल तृतीय शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं है।

व्याख्याकार

कातन्त्र व्याकरण की व्याख्या-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण महनीय है। इसमें सब से प्राचीन व्याख्या है दुर्गसिंह की। इनके देश का पता नहीं है। काल का परिचय लग सकता है। कातन्त्र के 'इन् त्र्यजादेरुभयम्' सूत्र की (३।२।४५) वृत्ति में इन्होंने 'तव दर्शनं किन्न धत्ते' तथा 'तनोति शुभ्रं गुण सम्पदा यशः' श्लोकांशों को उद्धृत किया है जो टीकाकार के अनुसार किरातार्जुनीय के पद्य हैं। 'तनोति शुभ्रं' किरात के प्रथम सर्ग का अष्टम श्लोक है। 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये'—यह उद्धृत पद्य मयूर के

---

१. स्कन्दउवाच—वक्ष्ये व्याकरणं सारं सिद्ध-शब्द स्वरूपकम्।
कात्यायन-विबोधाय बालानां बोधनाय च॥
—अग्निपुराण ३४९।१ (चौखम्भा सं०, १९६६)।

२. कातन्त्र का दुर्गवृत्ति के साथ सुन्दर संस्करण डा० ईगलिंग ने प्रकाशित किया १८७४–७८ में कलकत्ते से। इसमें अन्य टीकाओं के आवश्यक उद्धरण भी दिये गये हैं जिससे इसका महत्त्व पर्याप्त है।

३. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास। (अष्टम सं० १९६८, पृ० ५४२–५४)।

सूर्यशतक (श्लोक २) का है। फलतः दुर्गसिंह की पूर्व अवधि मयूर तथा भारवि हैं। काशिका वृत्ति इनके मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन करती है। फलतः ये इससे प्राचीन है। अतएव इनका आविर्भावकाल षष्ठशती का अन्त मानना उचित प्रतीत होता है (५८५ ई०–६०० ई०)। इस वृत्ति के ऊपर टीका भी मिलती है जिसके रचयिता का भी नाम दुर्गसिंह हैं। इस नाम साम्य ने विद्वानों को धोखे में डाल दिया है। डा० विण्टरनित्स कहते हैं कि दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति पर टीका लिखी[1]। परन्तु वास्तव तथ्य ऐसा नहीं है। टीकाकार वृत्तिकार को 'भगवान्' जैसे आदर-सूचक विशेषण से सम्बोधित करते हैं[2]। यह विशेषण दोनों की एकरूपता होने पर कथमपि सुसंगत नहीं होता। फलतः दोनों भिन्न हैं।

त्रिलोचनदास ने '**कातन्त्रपञ्जिका**' द्वारा दुर्ग-वृत्ति पर व्याख्या लिखी है। वोपदेव के द्वारा उद्धृत किये पाने के कारण इस पञ्जिका का लेखन काल ११०० ई० के आसपास मानना उचित है। इस सूत्र तथा वृत्ति पर अनेक जैन-अजैन पण्डितों ने व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें प्रख्यात नाम ये हैं—ढुंडक के पुत्र महादेव-कृत **शब्दसिद्धि** वृत्ति (वि० सं० १३४० से पूर्व) महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुङ्ग सूरिकृत **बालबोध** (वि० सं० १४४४), वर्धमान-कृत **विस्तार** (वि० सं० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्य कृत **रूपमाला-वृत्ति**, मोक्षेश्वर कृत **आख्यान-वृत्ति** तथा पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत **वृत्ति**। त्रिलोचनदास की पंजिका पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत '**वृत्ति-विवरण पञ्जिका-दुर्गपद प्रबोध**' उपलब्ध है[3]। इससे अतिरिक्त सुषेण विद्याभूषण रचित **कलापचन्द्र** तथा हरिराम रचित '**व्याख्यासार**' भी प्रकाशित हैं (बंगाक्षरों में कलकत्ते से)[4]। अलबेरुनी के ग्रन्थ से पता चलता है कि उग्रभूति ने **शिष्यहिता-न्यास**' नामक कातन्त्र वृत्ति की रचना की थी। इसमें सूत्रों की व्याख्या बड़े विस्तार से दी गई है। ये उग्रभूति काबुल के राजा आनन्दपाल के गुरु थे, जिन्होंने १००१ ई० में काबुल की गद्दी पाई। फलतः इनका समय १००० ई० होना निश्चित है[5]।

---

१. विण्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर तृतीय भाग, पृ० ४४०।

२. भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि।

—टीका का आरम्भ।

३. इन वृत्तियों का उल्लेख डा० हीरालाल जैन ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान' में किया है (पृष्ठ १८८, प्रकाशक मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२)।

४. ये बंगाक्षर में प्रकाशित हैं।

५. डा० विण्टरनिट्स का History of Indian Litrature Vol. III part 2, p. 440.

इस टीकासम्पत्ति से कातन्त्र की लोकप्रियता का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। बङ्गाल में इसके टीकाकारों की संख्या अधिक होने से वहाँ इसके विपुल प्रचार की बात सिद्ध होती है। काश्मीर में भी इसका प्रचलन था तभी तो स्तुति कुसुमाञ्जलि के रचयिता महाकवि जगद्धरभट्ट (१३०० ई०) ने इसके ऊपर बालबोधिनी वृत्ति का निर्माण किया[1]। मध्य एशिया तक इसके प्रचार की बात पूर्व ही उल्लिखित है। फलतः पाणिनि के समान गम्भीर तथा शास्त्रीय प्रतिभा से मण्डित न होने पर भी अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण इसने सुदूर प्रान्तों में संस्कृत को सुलभ बनाया—इस कथन में सन्देह का स्थल नहीं है।

(२) चान्द्र व्याकरण

इस व्याकरण का प्रचार काश्मीर, नेपाल, तथा तिब्बत से लेकर लंका तक है। प्रचलन बौद्ध देशों में होने से भी ग्रन्थकार का बौद्ध होना अनुमानतः सिद्ध है[2]। ग्रन्थकार का नाम है **चन्द्रगोमी** जिसमें गोमी शब्द पूजा के लिए निविष्ट किया गया है। 'गोमिन् पूज्ये' व्याकरण का प्रख्यात सूत्र ही है। चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में पाणिनीय तथा कात्यायन के ही सिद्धान्तों का सन्निवेश नहीं किया है, प्रत्युत महाभाष्य का भी पूर्ण उपयोग किया है। फलतः सूत्रों, वार्तिकों तथा इष्टियों के समावेश के कारण यह शब्दलक्षण 'सम्पूर्ण' है। पारिभाषिक शब्दों से विहीन होने के कारण यह 'विस्पष्ट' तथा लगभग तीन सहस्र सूत्रों के कारण यह पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा 'लघु' भी है। 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्'—संज्ञाहीनता (पारिभाषिक शब्दाभाव) इस चान्द्र का वैशिष्ट्य है। इस समय इसमें ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद जिनमें लौकिक शब्दों की ही विवेचना है[3]। परन्तु स्वरवैदिक विषयक अध्याय भी इसमें मूलतः अवश्य थे। लिपो नेश्च (चान्द्रव्याकरण १।१।१४५)

---

१. स्तुति कुसुमाञ्जलि (द्वितीय सं०, सं० २०२१, वाराणसी, भूमिका का पृष्ठ २४–२५)।

२. इसके मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' शब्द बुद्ध का ही द्योतक माना जाता है—

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो हितम्।
लघु-विस्पष्ट-सम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्॥

३. जर्मन विद्वान् डा० लीबिश ने जर्मनी से इसका संस्करण प्रकाशित किया था। भारत में डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने पूना से दो भागों में सम्पादित किया है जिसमें प्रतिसूत्र के साथ पाणिनि तथा भोजराज के सूत्रों की तुलना की गई है (पूना, १९५३; १९६१)।

की वृत्ति में 'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः' का स्पष्ट कथन है जिससे अष्टमाध्याय में स्वर-विवेचन का विस्पष्ट संकेत है। फलतः यह व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त था और स्वर का विवेचन भी विद्यमान था[1]—यह तथ्य स्पष्ट होता है। ध्यातव्य है कि चन्द्र ने सूत्रों के ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति का भी निर्माण किया है। अतएव वृत्तिकार का यह कथन सूत्रों की सत्ता के विषय में प्रमाणभूत माना जा सकता है।

इस व्याकरण के आवश्यक अंग भी प्रकाशित हुए हैं। चान्द्र व्याकरणानुसारी गणपाठ, धातुपाठ, उणादि-सूत्र भी प्रकाशित हैं। भिन्न भिन्न सूत्रों में गणों का निर्देश किया गया है। ऐसे गण संख्या में २२६ हैं। चन्द्रगोमिकृत लघुकाय **'वर्णसूत्र'** भी उपलब्ध है जिसमें स्वरों तथा व्यञ्जनों के स्थान, करण तथा प्रयत्न का परिचय दिया गया है। **उणादि-प्रकरण** में केवल तीन पाद हैं। यह प्रकरण कृवापाजिमिस्वादि साधिअशूम्यः उण् से आरम्भ होता है और प्रत्येक पाद की सूत्र संख्या क्रमशः ९५, ११९ तथा ११४ है। इस उणादि-प्रकरण में सब मिलाकर ३२८ सूत्र तथा तदनुसारी उदाहरण भी हैं। चान्द्रव्याकरण का धातुपाठ पर्याप्त रूपेण उपयोगी है। धातु दस गणों में विभक्त हैं और प्रत्येक गण में धातुओं की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) ६३८, (२) ६२, (३) २१, (४) १२२, (५) २५, (६) १२१, (७) २३, (८) ९, (९) ४८ तथा (१०) १०५। इस प्रकार समस्त धातुओं की संख्या इस व्याकरण में ११७४ (एक सहस्र, एक सौ, चौहत्तर)। पाणिनि का धातुपाठ काशकृत्स्न के धातुपाठ की अपेक्षा न्यून है और चन्द्र का यह धातुपाठ तो पाणिनि की अपेक्षा भी न्यूनता रखता है। इन धातुओं का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ लोक-व्यवहार से बहिर्भूत अप्रयुक्त धातुओं का पाठ अपेक्षाकृत न्यून है। धातुओं के विषय में चन्द्रगोमी का यह मत ध्यान देने योग्य है—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥

यहाँ प्रयोग के बल पर धातुओं के अर्थों का परिचय निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार अपने आवश्यक उपयोगों से मण्डित यह व्याकरण संस्कृत भाषा के व्यावहारिक रूप को लक्ष्य कर ही निष्पन्न किया गया है। सूत्रों का क्रम-निर्देश अष्टाध्यायी के अनुसार है, प्रक्रियानुसारी नहीं है[2]।

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग। पृ० ५२४–५२५।

२. इन अंगों से युक्त सुन्दर भूमिका के साथ चान्द्र व्याकरण के सूत्रभाग (वृत्ति-रहित) का संस्करण अभी हाल में प्रकाशित हुआ है—राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३९, जोधपुर, १९६७।

चन्द्रगोमी के समय का परिचय बहिरङ्ग प्रमाण से मिलता है। इन्होंने उच्छिन्न महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन को पुनः प्रचारित किया था। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है जिसकी पुष्टि राजतरंगिणी के द्वारा स्पष्टतः की जाती है (१।१७६)—

चन्द्राचार्यादिभि र्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥

इसमें महाभाष्य के प्रवर्तक तथा स्वीय व्याकरण के रचयिता की एकता सिद्ध की गई है। फलतः चान्द्र व्याकरण के निर्माता ही महाभाष्य अनुशीलन के पुरस्कर्ता भी निःसन्देह थे। तिब्बती ग्रन्थों ने चन्द्र को राजा हर्षदेव के पुत्र शील के समय में विद्यमान माना है (७०० ई० के आसपास); परन्तु यह परम्परा प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि काशिका ने चान्द्र व्याकरण का उपयोग अपनी वृत्ति में किया है तथा ततः पूर्व भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार की बात लिखी है[1]। इससे इनका समय पाँच सौ ई० से पूर्व ही होना चाहिये। उससे पश्चाद्वर्ती मानना कथमपि उचित नहीं है[2]।

चान्द्र व्याकरण का संक्षिप्त रूप **बालावबोधन** के नाम से प्रख्यात है। १२०० ई० के आसपास भिक्षु काश्यप ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सिंघल में संस्कृत-भाषा के शिक्षण के लिए आज भी प्रचलित है तथा लोकप्रिय है।

(३) जैनेन्द्र व्याकरण

जैन धर्मानुयायी विद्वानों ने भी पाणिनीय व्याकरण के मुनित्रयम् के द्वारा परिष्कृत मार्ग का अनुसरण कर नवीन व्याकरणों का निर्माण किया। ऐसे तीन व्याकरण अत्यन्त लोकप्रिय हैं—जैनेन्द्र व्याकरण, शाकटायन व्याकरण तथा हेमचन्द्र का सिद्ध-हैमानुशासन। इन तीनों जैन व्याकरणों में जैनेन्द्र व्याकरण ही काल-दृष्टि से सर्व-प्राचीन है।

इसके रचयिता का वास्तव नाम है **देवनन्दी** जो अपनी महत्त्वशालिनी बुद्धि के कारण **जिनेन्द्र-बुद्धि** तथा देवों के द्वारा पूजित होने से **पूज्यपाद** के नाम से भी लोक

---

१. वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड, कारिका ४८९।

२. अग्निपुराण के ३५६ वें अध्याय के आठवें श्लोक में (वेत्त्यधीते च चान्द्रकः) चान्द्र-व्याकरण का उल्लेख स्पष्ट है। फलतः अग्निपुराण के इस अंश की रचना पंचमशती से प्राक्कालीन नहीं हो सकती।

में विश्रुत थे। श्रवण बेलगोल का शिलालेख इन तीनों के ऐक्य का प्रबल प्रमाण है[1]। नाम के एकदेश से भी वे निर्दिष्ट किये गये हैं। कहीं वे 'देव'[2] नाम से और कहीं वे 'नन्दी' नाम से उल्लिखित हैं। इस प्रकार नामपञ्चक से प्रख्यात होने पर भी उनका मूल अभिधान **देवनन्दी** ही था और इसी नाम से इस व्याकरण-शास्त्र के निर्माता को हमें पहचानना चाहिये। इस व्याकरण का 'जैनेन्द्र' नाम भी सकारण ही है। श्रद्धातिशय के वशीभूत होकर कतिपय विद्वान् व्यर्थ ही जिनेन्द्र महावीर के ऊपर इसके कर्तृत्व का आरोप करते हैं। तथ्य यह है कि 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम का मुख्य अवयव है 'जिनेन्द्र' और इसी जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होने के कारण यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' के नाम से प्रख्यात है। इस नाम में किसी प्रकार का अनौचित्य या असंगति नहीं है। फलत: देवनन्दी का यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नाम से लोकविश्रुत है।

व्याकरण का वैशिष्ट्य

इस व्याकरण के दो पाठ उपलब्ध हैं और दोनों के ऊपर टीकायें मिलती हैं। लघुपाठ केवल तीन सहस्र सूत्रों का है और बृहत् पाठ में सात सौ सूत्र अधिक हैं। लघुपाठ की चर्चा अभी अभीष्ट है। इस ग्रन्थ में ५ अध्याय, २० पाद तथा ३०३६ सूत्र हैं। इस पञ्चाध्यायी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को अपने में सन्निविष्ट कर लिया है। पाणिनि-सूत्रों की अपेक्षा एक हजार सूत्र कम होने का कारण यह है कि इसमें अनुपयोगी होने के कारण वैदिकी तथा स्वर प्रक्रिया का अभाव है। प्रणेता का मूल उद्देश्य है लोक-व्यवहार में प्रयुक्त संस्कृत का व्याकरण। देवनन्दी की सूत्ररचना सचमुच ही बड़े बुद्धिकौशल का विषय है। पाणिनि के अपने सूत्रों का ऐसा कौशल-पूर्ण संकलन किया है कि सपाद सप्ताध्यायी के प्रति अन्तिम तीन पाद (त्रिपादी) असिद्ध हो जाते हैं। पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र का यही तात्पर्य है। ऐसा कौशल इस व्याकरण में भी है। यहाँ भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (५।३।२७) सूत्र की सत्ता है जिससे आरम्भिक साढ़े चार अध्यायों के प्रति अन्त के लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। सूत्रों के अतिरिक्त कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि की इष्टियों के आश्रायण से जिन नये रूपों की सिद्धि होती है, देवनन्दी ने उन सबको अपना लिया है। यह तथ्य दोनों सूत्र-पाठों की तुलना से स्वयंसिद्ध है।

---

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धिः। २।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत् पूजितं पादयुगं यदीयम्। ३।

२. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥
(पार्श्वनाथ चरित १।१८)।

पारिभाषिकी संज्ञायें व्याकरणशास्त्र को सुगम बनाने की प्रधान साधिका हैं। पाणिनि ने प्राचीन वैयाकरणों की संज्ञाओं को ग्रहण कर अपनी नवीन संज्ञ यें उद्भावित कीं जिनका सामान्य विवरण पीछे दिया जा चुका है। देवनन्दी ने इस विषय में संज्ञाओं को और भी सूक्ष्म तथा लघु बनाने के प्रयास में एक और कदम आगे बढाया है। इनकी संज्ञायें सचमुच बड़ी ही सूक्ष्म तथा स्वल्पकाय हैं। पाणिनि से तुलना करें—

पाणिनि	जैनेन्द्र
गुण	एप् (१।१।१६)
वृद्धि	ऐप् (१।१।१५)
आत्मनेपद	दः (१.२।१५१)
प्रगृह्यम्	दि (१।१।२०)
दीर्घः	दी (१।१।११)
बहुव्रीहिः	बम् (१।३।८६)
तत्पुरुषः	षम् (१।३।१६)
अव्ययीभावः	हः (१।३।४)

एक विलक्षणता देखिये। 'विभक्ती' शब्द के ही प्रत्येक वर्ण को अलग करके स्वर के आगे 'प्' तथा व्यञ्जन के आगे 'आ' जोड़कर सातों विभक्तियों की संज्ञा निर्दिष्ट की है। यथा वा (प्रथमा), इप् (द्वितीया), भा (= तृतीया), अप् (= चतुर्थी), का (पञ्चमी), ता (षष्ठी) तथा ईप् (सप्तमी)। ऐसा निर्देश कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें देवनन्दी की प्रतिभा झलकती है अवश्य, परन्तु यह बड़ी क्लिष्ट कल्पना है जिसे याद रखना बड़ा ही कठिन है। इसीलिए कहना पड़ता है कि पाणिनि की संज्ञाओं में जो प्रसन्नता तथा सद्योबोधकता है, वह यहाँ कहाँ ?

पाणिनि व्याकरण में 'एकशेष' प्रकरण की सत्ता है, परन्तु देवनन्दी की मान्यता है कि लोक-व्यवहार में प्रचलित तथ्य तथा रूप के लिए सूत्रों का निर्माण शास्त्र के कलेवर की मुधा वृद्धि हैं। फलतः उन्होंने 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्य एकशेषानारम्भः' सूत्र लिखकर इस प्रकरण की समाप्ति ही कर दी। इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण 'अनेकशेष' के नाम से जैन-ग्रन्थों में निर्दिष्ट है। देवनन्दी ने पातञ्जल महाभाष्य का विशेष अनुशीलन किया था। इसके बहुल प्रमाण उनके व्याकरण में उपलब्ध हैं।

देश-काल

देवनन्दी के देश का निर्णय जितना सरल है, उनके काल का निर्णय उतना ही कठिन। कर्नाटक के प्राचीन शिलालेखों में उनके नाम तथा यश का वर्णन होने से

वे निःसन्देह कर्नाटक के निवासी हैं। उनका जीवन-चरित्र भी मिलता है जिसमें वे कर्नाटक के किसी ग्राम के निवासी बतलाए गये हैं।

अन्तरंग परीक्षण से उनके कालविमर्श के लिए दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं—

(१) वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)।

(२) चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)।

प्रथम सूत्र पाणिनि के 'वेत्तेर्विभाषा' (७।१।७) के आधार पर तो अवश्य है, परन्तु सिद्धसेन-दिवाकर के मत में उससे थोड़ा पार्थक्य है। जहाँ अन्य वैयाकरण सम् उपसर्गक अकर्मक विद् धातु से रेफ का आगम विकल्पेन मानते हैं (संविद्रते तथा संविदते), वहाँ सिद्धसेन अनुपसर्गक सकर्मक विद्धातु से इस आगम को स्वीकार करते हैं और प्रयोग भी 'विद्रते' का करते हैं। इस वैशिष्ट्य के निमित्त उनका मत यहाँ निर्दिष्ट है। फलतः देवनन्दी सिद्धसेन दिवाकर से पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकार है—इसमें मतद्वैविध्य नहीं। परन्तु सिद्धसेन का भी आविर्भाव-काल निर्णय की अपेक्षा रखता है।

जिनरत्न गणि ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना ६६६ विक्रम संवत् (=६१० ई०) में की जिसमें उन्होंने मल्लवादी तथा सिद्धसेन के मत की विस्तृत आलोचना की है। इनमें सिद्धसेन के प्रमुख ग्रन्थ 'सन्मति-तर्क' के ऊपर मल्लवादी ने टीका लिखी है। फलतः मल्लवादी जिनरत्न गणि से पूर्व हैं और सिद्धसेन उनसे भी पूर्वतर। इस प्रमाण पर यदि मल्लवादी को विक्रम की षष्ठ शताब्दी में रखा जाय, तो सिद्धसेन का समय पञ्चम शती सिद्ध होगा। एक बात और भी ध्यातव्य है। विक्रमादित्य के नवरत्नों में जिस 'क्षपणक' की गणना है, वे सिद्धसेन दिवाकर से अभिन्न माने जाते हैं तथा विक्रमादित्य की स्थापना गुप्तवंशीय प्रतापी नरपति चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ ई०–४१३ ई०) से की जाती है। फलतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन होने से सिद्धसेन का आविर्भाव-काल ईस्वी की पञ्चम शती का पूर्वार्ध (विक्रम सं० से पञ्चम शती का उत्तरार्ध) मानना सर्वथा उचित है। इनके पश्चाद्वर्ती होने से देवनन्दी का समय षष्ठशती का प्रथमार्ध मानना यथार्थ होगा।

देवनन्दी समन्तभद्र के समकालीन थे। उन्होंने उमास्वाती के प्रख्यात ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ-सूत्र' पर **सर्वार्थसिद्धि** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसीके मंगलाचरणपद्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' के ऊपर समन्तभद्र ने **'आप्तमीमांसा'** का प्रणयन किया। समकालीन होने पर ही यह काल-स्थिति सुसंगत बैठेगी। देवनन्दी समन्तभद्र को अपने व्याकरण-ग्रन्थ में निर्दिष्ट करते हैं और उधर समन्तभद्र उनके ग्रन्थस्थ मंगलश्लोक की व्याख्या

में अपना ग्रन्थ लिखते हैं। इससे दोनों की सम सामयिकता सिद्ध होता है। दोनों का समय एक ही है षष्ठशती का प्रथमार्ध[1]।

व्याख्या ग्रन्थ

जैनेन्द्र व्याकरण के ऊपर केवल चार टीकायें उपलब्ध होती हैं—(१) अभयनन्दि कृत **महावृत्ति**; (२) प्रभाचन्द्र कृत **शब्दाम्भोज-भास्करन्यास**; (३) श्रुतिकीर्ति कृत **'पञ्चवस्तु-प्रक्रिया'**; (४) पं० महाचन्द्र कृत **लघुजैनेन्द्र**। इन चारों में अपनी प्राचीनता, प्रौढता तथा विशालता की दृष्टि से अभयनन्दि की **महावृत्ति**[2] सचमुच ही महती वृत्ति है। सूत्रों की विस्तृत व्याख्या के प्रसंग में वार्तिकों का भी विस्तृत संकलन किया गया है। महाभाष्य तथा काशिका का पूरा अनुशीलन कर प्रणीत होने के कारण यह पाणिनीय व्याकरण की पूर्ण सामग्री का कौशल-पूर्वक चयन प्रस्तुत करती है। मूर्धाभिषिक्त उदाहरणों के अतिरिक्त विद्वान् वृत्तिकार ने अनेक उदाहरण अपने व्यापक अध्ययन तथा विस्तृत अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों, आचार्यों, दार्शनिकों तथा ग्रन्थकारों का पर्याप्त उल्लेख है और इनके कारण पूरे ग्रन्थ में जैन वातावरण उत्पन्न करने में अभयनन्दि पूर्णतया समर्थ हैं। जैसे १।४।१५ सूत्र के उदाहरण में **अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः**, १।४।१६ के उदाहरण में

---

१. श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'अरुणन् महेन्द्रो मथुराम्' (महावृत्ति २।२।९२) के आधार पर मथुरा का अवरोध करने वाले महेन्द्र को गुप्त नरेश कुमार गुप्त (४१३–४५५ ई०) से अभिन्न माना है जिनकी पूरी उपाधि 'महेन्द्र कुमार' थी जो सिक्कों से प्रमाणित होती है। फलतः देवनन्दी का समय उनके मतमें षष्ट शती विक्रमी का पूर्वार्ध था। इस पर लेखक का आक्षेप है कि यह घटना वृत्ति में वर्णित होने से सूत्रकर्ता से परिचित कैसे मानी जा सकती है? इसी उदाहरण के साथ 'अरुणद् यवनः साकेतम्' भी तो है जो विक्रम-पूर्व द्वितीय शती की महनीय घटना का संकेतक माना जाता है। इससे भी क्या देवनन्दी का सम्बन्ध है? वह घटना ऐतिहासिक हो सकती है, परन्तु सूत्रकार के जीवन काल में घटित होने का उसमें प्रमाण ही क्या?

२. महावृत्ति के साथ जैनेन्द्र व्याकरण का बड़ा ही प्रामाणिक तथा प्राञ्जल संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) ने प्रकाशित किया है, १९५६ ई०। इस सुन्दर संस्करण के प्रकाशन के लिए हम ज्ञानपीठ के अधिकारियों के लिए आभारी हैं।

उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः, १।४।२० की वृत्ति में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य—ऐसे ही कतिपय उदाहरण हैं जो जैन वातावरण उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्ति में प्राभृतपर्यन्तमधीते उदाहरण महत्त्वपूर्ण है और उसी के साथ सबन्धमधीते भी ध्यान देने योग्य है। इन उदाहरणों में प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृत से है जिसका लोकप्रिय दूसरा नाम षट्खण्डागम है। इसके लेखक आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इस महाग्रन्थ का अध्ययन उस समय जीवन का आदर्श माना जाता था। ऐसी विशिष्टता से मण्डित महावृत्ति निश्चित ही व्याकरणशास्त्र का गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

अभयनन्दि के कालनिरूपण के लिए कतिपय तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। (क) ४।३।११४ सूत्र की वृत्ति में माघ कवि का 'सटा-छटा-भिन्न घनेन'··· (१।४७) श्लोक उद्धृत है जिसमें 'प्रतिचस्करे' सूत्र का उदाहरण माना गया है। फलतः अभयनन्दि 'शिशुपालवध' के कर्ता माघ कवि (समय ७०० ई०) से अर्वाचीन है। यह है ऊपरी सीमा उनके आविर्भावकाल की। (ख) ३।२।५५ की टीका में 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीयते' उदाहरण प्रस्तुत है। तत्त्वार्थ-वार्तिक भट्ट अकलङ्कदेव की प्रख्यात रचना है (७५० ई०) (ग) प्रभाचन्द्र ने शब्दाम्भोज-भास्कर-न्यास के तृतीय अध्याय में अभयनन्दि को नमस्कार किया है[1]। यह ग्रन्थ भोज के पुत्र राजा जयसिंह के काल में (१०७५ ई० के आसपास) लिखा गया था। यह अभयनन्दि की निचली सीमा। इनके बीच में इनका समय होना चाहिये—सम्भवतः नवमशती के मध्य भाग में (८५० ई०–८७५ ई० लगभग)।

(२) प्रभाचन्द्र रचित शब्दाम्भोजभास्करन्यास महावृत्ति से भी परिमाण में बड़ा है तथा उस महनीय वृत्ति के शब्द ज्यों के त्यों यहाँ गृहीत कर लिये गये हैं। व्याकरण से अधिक इनका नैपुण्य तथा ख्याति तर्क-विद्या के विषय में हैं। 'प्रमेय-कमल मार्तण्ड' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' दर्शन-विषय की इनकी विश्रुत कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों का प्रणयन इन्होंने प्रख्यात राजा भोज तथा उनके उत्तराधिकारी राज जयसिंह के शासन काल में किया—इसका परिचय ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा से भली-भाँति लगता है। मार्तण्ड की रचना भोज के तथा इस न्यास का निर्माण राजा जयसिंह के काल में निष्पन्न हुआ। इस प्रकार इनका समय मोटे तौर पर १०४०–१०८० ई० तक मानना कथमपि अनुचित न होगा।

---

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥

(३) श्रुतकीर्ति रचित पञ्चवस्तु प्रक्रिया-ग्रन्थ है जिसमें शब्दों की रूपसिद्धि प्रधान उद्देश्य है। कन्नडी भाषा के 'चन्द्रप्रभ चरित' ग्रन्थ के रचयिता अग्गल कवि ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती को अपना गुरु बतलाया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल शक सं० १०११ (=१०८९ ई०) है। श्री नाथूराम प्रेमी ने दोनों—श्रुतकीर्ति तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती—की सम्भावित एकता के आधार पर पंचवस्तु का रचना-काल ११ वीं शती ईस्वी माना है।

(४) लघुजैनेन्द्र—यह महावृत्ति के आधार पर निर्मित बालोपयोगी लघुकाय ग्रन्थ है। इसके प्रणेत. पण्डित महाचन्द्र २०वीं शती के लेखक हैं। फलतः यह नवीनतम रचना है इस जैनेन्द्र व्याकरण के विषय में।

जैनेन्द्र व्याकरण का बृहत् पाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के इस बृहत्पाठ में लगभग तीन सहस्र सात सौ सूत्र हैं जिसमें लघुपाठ से सात सौ सूत्र अधिक हैं। यह तो मान्य तथ्य है कि देननन्दी के केवल सूत्रों से संस्कृत के प्रयोगों की गतार्थता नहीं हो सकती और इसीलिए अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति में सैकड़ों वार्तिकों को सन्निविष्ट कर उसे पूर्ण बनाने का उद्योग किया। शाकटायन व्याकरण में यह त्रुटि नहीं रही, क्योंकि यहाँ वार्तिक भी सूत्रों की परिधि के भीतर ही रखकर सूत्रों की संख्या बढ़ा दी गई है। प्रतीत होता है कि इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण के मूल सूत्रों में सात सौ सूत्र और भी बढ़ा कर उसे पूर्ण तथा परिनिष्ठित बनाने का उद्योग किया गया। इसी स्तुत्य प्रयास का परिणाम है जैनेन्द्र का बृहत् पाठ। इस परिबृंहण के कर्ता का नाम आचार्य गुणनन्दि है और यह परिबृंहित व्याकरण शब्दार्णव के नाम से प्रख्यात हुआ। गुणनन्दि का समय अनुमेय है। शाकटायन व्याकरण का रचना-काल अमोघवर्ष (नवम शती का पूर्वार्ध) का शासन-काल है। उससे प्रभावित होने के कारण शब्दार्णव का काल इसके अनन्तर है। 'कर्णाटक कवि रचित' के कर्ता के अनुसार गुणनन्दि के प्रशिष्य तथा देवेन्द्र के शिष्य आदि पंप का समय वि० सं० ९५७ (९०० ईस्वी) है। अतः दो पीढ़ी पहले होने का कारण गुणनन्दि का समय ८५० ई० (अर्थात् नवमशती का मध्य) के आसपास मानना उचित होगा।

शब्दार्णव पर दो टीकायें उपलब्ध हैं और दोनों ही प्रकाशित हैं—(१) **शब्दार्णव-चन्द्रिका** सोमदेव मुनि की रचना है। समय १३ शती ई० का पूर्वार्ध। (२) **शब्दार्णव प्रक्रिया** इसके कर्ता का नाम नहीं मिलता। कर्ता ने इस अपने ग्रन्थ को शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका कहा है प्रथम श्लोक में और गुणनन्दि को सिंह के समान बतलाया दूसरे श्लोक में। अतएव इसे गुणनन्दि की ही रचना मानना

नितान्त अशुद्ध है। यह अज्ञातनामा लेखक की कृति है। जैनेन्द्र व्याकरण की यही टीका-सम्पत्ति है[1]।

(४) शाकटायन व्याकरण

शाकटायन पाणिनि से पूर्ववर्ती एतत्-संज्ञक आचार्य नहीं है, प्रत्युत जैन मतावलम्बी अवान्तरकालीन वैयाकरण हैं। इसीलिए ये 'जैन शाकटायन' के नाम से विख्यात है। इनका वास्तविक नाम **पाल्यकीर्ति** था। दोनों के ऐक्य का प्रतिपादक 'पार्श्वनाथ चरित' का यह श्लोक है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

इस श्लोक में उल्लिखित 'श्रीपदश्रवणं' मूल लेखक की अमोघा वृत्ति के आद्य श्लोक[2] का संकेत करता है। फलतः यह श्लोक शाकटायन-रचित व्याकरण का ही निर्देशक है। अतः अमोघावृत्ति के तथा तन्मूल व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता का नाम **पाल्यकीर्ति** है[3]। 'पार्श्वनाथ चरित' की पूर्व श्लोक की टीका में आचार्य शुभचन्द्र के व्याख्यान से इस मत की स्पष्ट पुष्टि होती है। पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदायानुयायी जैन विद्वान् थे। यह सम्प्रदाय आजकल लुप्तप्राय बतलाया जाता है।

इनकी प्रमुख रचना है—**शब्दानुशासन** का मूल सूत्रपाठ तथा उसके ऊपर स्वोपज्ञ **अमोघवृत्ति**। इनका शब्दानुशासन अनेक वैशिष्ट्यों से मण्डित है। इन्होंने इसे पूर्ण बनाने के लिए उन त्रुटियों की पूर्ति कर दी है जो जैनेन्द्र व्याकरण में पाई जाती थीं। इनकी मौलिक कल्पनाओं के अन्तर्गत इनका प्रत्याहार भी है। इनके प्रत्याहार-सूत्र पाणिनीय सम्प्रदाय के कुछ भिन्न ही हैं। यथा 'ऋऌक्' के स्थान पर केवल **'ऋक्'** पाठ है, क्योंकि ऋ और ऌ में अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर एक सूत्र बना दिया गया है। ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र सूत्र तथा महावृत्ति में प्रत्याहार सूत्र पाणिनि के ही आधार पर स्वीकृत हैं, परन्तु जैनेन्द्र परम्परा की

---

१. पं० नाथूराम प्रेमी के प्रमेयबहुल लेख 'देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण' से यहाँ आवश्यक सामग्री सधन्यवाद संकलित की गई है। देखिये जैनेन्द्र व्याकरण की भूमिका पृष्ठ १७–३७।

२. श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वाऽऽदिं सर्ववेदनम्।
शब्दानुशासनस्येयममोघा वृत्तिरुच्यते॥

३. तस्य पाल्यकीर्तेर्महौजसः श्रीपादश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणम् आकर्णनम्।

शब्दार्णव-चन्द्रिका में शाकटायन के ही 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकृत किये गये हैं। स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में जैनेन्द्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक पूर्णता, व्यवस्था तथा दोषराहित्य है। यह व्याकरण चतुरध्यायी है और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं प्रत्येक अध्याय में सूत्रों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) अ० ७२१ सूत्र, (२) ७५३, (३) ७५५ तथा (४) १००७ और इस तरह समस्त सूत्रों की संख्या तीन हजार दो सौ छत्तीस (३,२३६)। शाकटायन ने पाणिनीय निकाय की व्याकरण-सामग्री का पूर्णतया उपयोग कर सुरक्षित रखा है। इस व्याकरण के व्याख्याकार **यक्षवर्मा** इसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते समय कहते[1] हैं कि इसमें इष्टियों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं है और सूत्रों से पृथक् कुछ कहने की वस्तु नहीं है; उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र, चन्द्र आदिक शाब्दिकों ने शब्द का जो लक्षण कहा है वह सब यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है—यत्रेहास्ति न तद् क्वचित्—सचमुच यह उक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है और इस तन्त्र की परिपूर्णता तथा सर्वाङ्गीणता की पर्याप्त पोषिका है।

अपने सूत्रों पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना शाकटायन ने की है जो **अमोघ-वृत्ति** के नाम से प्रख्यात है। यह वृत्ति परिमाण में विस्तृत है १८ सहस्र श्लोक। इसके नामकरण का कारण यह है कि ग्रन्थकार ने अपने ही आश्रयदाता **अमोघवर्ष** प्रथम के नाम से उसका ऐसा नाम दिया है। इस वृत्ति के स्वोपज्ञ होने के प्रमाण विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं[2]। ख्याते दृश्ये[3] (शाकटायन ४।३।२०८) की वृत्ति में शाकटायन ने 'अदहद् देवः पाण्ड्यान्; तथा 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणों में 'अदहत्' का प्रयोग कर सिद्ध किया है कि अमोघवर्ष के द्वारा पाण्डय नरेश पर विजय तथा शत्रुओं का

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने॥
इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च, यन्नेहास्ति न यत् क्वचित्॥

२. विशेष द्रष्टव्य—नाथूराम प्रेमी रचित जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १५५–१६० (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन् १९४२)।

३. इस सूत्र की अमोघा वृत्ति इस प्रकार है—भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने वर्तमानाद् धातो लँङ् प्रत्ययो भवति (पृष्ठ ४०६)। ज्ञानपीठ वाले संस्करण में सूत्र का पाठ 'ख्यातेऽदृश्ये' है जो 'ख्याते दृश्ये' होना चाहिए। वृत्ति में 'प्रयोक्तुः सख्यदर्शने' न होकर 'शक्यदर्शने' होना चाहिए।

नाश उनके लिए दृश्य घटनायें थीं। फलतः अमोघवर्ष के साथ शाकटायन की सम-सामयिकता प्रमाणतः परिपुष्ट है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूटवंश के प्रख्यात राजा थे जिनका राज्यारोहण काल ८७१ वि० सं० (=८१४ ई०) माना जाता है। सं० ९२४ के शिलालेख से इनका शासनकाल दशमशती के प्रथम चरण तक अवश्यमेव सिद्ध होता है। फलतः शाकटायन का भी यही समय है (लगभग ८१० ई०–८७० ई०)। इस व्याकरण की महत्ता के विषय में एक टीकाकार का कथन है कि इन्द्र, चन्द्र आदि वैयाकरणों के समस्त नियम यहाँ प्रस्तुत हैं, परन्तु जो यहाँ है, वह कहीं भी नहीं है[1]। यह बड़ी विशिष्ट उक्ति है, यदि यह पूर्णतः चरितार्थ हो[2]।

शाकटायन के टीकाग्रन्थ

आमोघवृत्ति घर पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'न्यास' लिखा गया था जिसके केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं। अमोघ वृत्ति को ही संक्षिप्त कर यक्षवर्मा ने **चिन्तामणि टीका** का निर्माण किया जो लघुकाय होने से 'लघीयसी वृत्ति' कहलाती है। यक्षवर्मा की तो प्रतिज्ञा[3] है कि उनकी वृत्ति के अध्ययन से बालक तथा अबलाजन एक वर्ष के भीतर समस्त वाङ्मय का ज्ञान निश्चय रूप से कर सकता है !!! अजितसेनाचार्य रचित **मणि-प्रकाशिका** चिन्तामणि की टीका है। **प्रक्रियासंग्रह** के कर्ता अभयचन्द्राचार्य हैं जिसमें सिद्धान्त-कौमुदी के ढंग पर प्रक्रियानुसारी व्याख्या लिखी गई है। भावसेन त्रैविद्यदेव रचित **शाकटायन टीका** भी उपलब्ध है जिसके रचयिता की उपाधि 'वादि-पर्वतवज्र' थी। दयापाल मुनि कृत 'रूपसिद्धि' टीका लघुकौमुदा की शैली पर है। ये द्रविड संघ के विद्वान् थे। इस ग्रन्थ का रचना काल एकादश शती विक्रमी का मध्यकाल मानना चाहिए—९९५ ईस्वी के आसपास। इन टीका-ग्रन्थों के आधार पर शाकटायन व्याकरण की लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि सर्वथा अनुमेय है।

(५) भोज व्याकरण

धाराधिपति भोज नाना विद्याओं के विशेष मर्मज्ञ थे तथा उन्होंने विभिन्न विषयों

---

१. इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तंच यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

२. अमोघवृत्ति के साथ शाकटायन शब्दानुशासन का एक सुन्दर सुसंस्कृत संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (वाराणसी) से प्रकाशित हो रहा है, १९६९।

३. बालाबालाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तितः।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्॥
(आरम्भ, श्लोक १२)।

के अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। उन्होंने अपने तीन ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रसिद्ध श्लोक में किया है—

> शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता,
> वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
> वाक्-चेतो-वपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृताः,
> तस्य श्री-रणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥

भोज ने वाक्, चित्त तथा शरीर का मल त्रिविध ग्रन्थों की रचना से दूर किया क्रम से (१) सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन से, (२) पातञ्जल योगसूत्र की वृत्ति से तथा (३) राजमृगाङ्क नामक वैद्यक ग्रन्थ से। इन तीनों ग्रन्थों का प्रणेता एक ही व्यक्ति है—भोजराज।

भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण'[1] नाम से अपना शब्दानुशासन प्रणीत किया। इसमें वर्णित विषयों की सूची से ही ग्रन्थ की विपुलता तथा विस्तृति का परिचय मिलता है। धातुपाठ को छोड़कर इन्होंने वार्तिकों को, इष्टियों को, गणपाठ को तथा उणादि प्रत्ययों को एकत्र समेट कर सूत्रों में निबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। सूत्रों की संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी से डेढ़गुनी से भी अधिक है। पाणिनि तथा चन्द्र दोनों पर इन्होंने इस शब्दानुशासन को आधारित किया है। इसके ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी जो उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध है दण्डनाथ नारायण भट्ट की लघुवृत्ति **हृदयहारिणी** नाम्नी। वे अपनी इस वृत्ति को 'समुद्धृतायां लघुवत्तौ' कहते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि यह भोज की स्वोपज्ञ वृत्ति से ही उद्धृत कर निबद्ध की गई है। दण्डनाथ के देश-काल का पता ठीक-ठीक नहीं चलता। दण्डनाथ का नाम निर्देश कर मत का उद्धरण नारायणभट्ट ने (१६ शती) अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अनेक स्थलों पर दिया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार के पूरे नाम के स्थान पर केवल संक्षिप्त नाम 'नाथ' ही दिया हुआ है। इनका सबसे प्राचीन उल्लेख देवराज यज्वा की 'निघण्टु व्याख्या' में उपलब्ध होता है। सायण—देवराज यज्वा—दण्डनाथ; यह प्राचीनता का क्रम-निर्देश है। देवराज का समय १४ शती का प्रथमार्ध है। फलतः दण्डनाथ का समय इससे पूर्व होना चाहिए।

---

१. मूलसूत्रों का संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से तथा दण्डनाथ की वृत्ति के साथ मूल का संस्करण अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित है।

२. यथा कोमलोरुरित्यादौ स्त्री जाति-विवक्षायाम् 'ऊङ् उत्' (४।१।६६) इत्यूङ् इति नाथः। स्त्रीप्रत्यय खण्ड पृष्ठ १०६ भाग ४; अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

प्रक्रिया कौमुदी के 'प्रसाद' व्याख्याकार विट्ठल ने अपने व्याख्याग्रन्थ में सरस्वती-कण्ठाभरण के किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है[1] जिसकी संज्ञा थी 'पदसिन्धु सेतु'। इस उल्लेख से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भोजका व्याकरण प्रचलित हो चला था, तभी तो उनके सूत्रों को प्रक्रिया-क्रम में रखने के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। सरस्वती-कण्ठाभरण की व्यापक दृष्टि ने पाणिनीय सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया, विशेषतः केरलीय नारायणभट्ट को जिन्होंने अपने 'प्रक्रिया-सर्वस्व' में इस अधमर्णता को स्वीकार किया है।

वैशिष्ट्य

विद्याधिष्ठात्री देवी भगवती सरस्वती के नाम से सम्बन्ध रखने वाले 'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'सारस्वत' यह दो व्याकरण उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम का आधार प्रायः पाणिनीय व्याकरण एवं द्वितीय का पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण माना जा सकता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को बनाने का उद्देश्य परिभाषा उणादि का भी परिज्ञान कराना प्रतीत होता है जब कि 'सारस्वत' व्याकरण का उद्देश्य यथासम्भव प्रक्रिया में शब्द-संक्षेप करना कहा जा सकता है। यहाँ हम भोज-व्याकरण में वर्णित विषय का निर्देश संक्षेप से उपस्थापित करेंगे।

सरस्वतीकण्ठाभरण में वर्णित विषय

धाराधीश्वर महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११०) ने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नामक व्याकरण ग्रन्थ का आठ अध्यायों में विभाग किया है, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार आठ अध्यायों के ३२ पादों में कुल ६४३१ सूत्र हैं जिनमें परिभाषा, लिङ्गानुशासन तथा उणादि का भी समावेश है। प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का तथा आठवें अध्याय में वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है।

सर्वप्रथम पाणिनीय वर्णसमाम्नाय का पाठ करके प्रथम पाद में क्रमशः धातु, प्रातिपदिक, प्रकृति प्रत्यय, विकरण, कृत्, कृत्य, सत्, निष्ठा, तद्धित, घ, संख्या, विभक्ति, प्रथम, मध्यम, उत्तम, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, परस्मैपद, आत्मनेपद, पद, उपपद, उपसर्जन, कर्मधारय, द्विगु, वाक्य, कारक, कर्ता, हेतु, कर्मकर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादन, अधिकरण, आमन्त्रित, सम्बुद्धि, अभ्यास, अभ्यस्त, सम्प्रसारण, गुण, वृद्धि, वृद्ध, संयोग, उपधा, टि, आगम,

---

१. तथा च सरस्वतीकण्ठाभरण-प्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम्। भाग २, पृष्ठ ३१२।

लीप, लुक्—(श्लुक्), श्लु, लुप्, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, लघु, गुरु, अनुनासिक, सवर्ग, अनुस्वार, विसर्जनीय, प्रगृह्य, सर्वनाम, निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय, अव्यय, सार्वधातुक, एवं आर्धधातुक ये अस्सी संज्ञाएँ गिनाई गई हैं। द्वितीय पाद को प्रायः परिभाषा-पाद कहा जा सकता है, क्योंकि "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" (सर० १।२।८५), "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (सर० १।२।१२०,) "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः (सर० १।२।१३३) इत्यादि अनेक परिभाषाएँ सूत्ररूप में पढ़ी गई हैं। तृतीय पाद में 'सन्' इत्यादि प्रत्ययों को गिनाकर भ्वादि गणों में होने वाले 'शप्' आदि विकरणों का तथा 'अण्' आदि कुछ कृत्-प्रत्ययों का उपदेश किया है। चतुर्थ पाद में भी कृत्-प्रत्ययों को ही गिनाया गया है। द्वितीय अध्याय के तीन पादों में उणादि का विस्तार-पूर्वक उपन्यास किया गया है। तदनु चतुर्थ पाद में कृत्-प्रत्ययों का ही परिगणन है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में कुछ आदेश तथा प्रथमादि विभक्तियों का प्रयोगस्थल बताया गया है जिसमें प्रथमा विभक्ति का विधान अर्थमात्र की विवक्षा में किया गया है—"अर्थमात्रे प्रथमा" "सम्बोधने च" (सर० ३।१।२७४, २७५)। द्वितीय पाद का अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष समास का, तृतीय पाद में बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व समास का प्रपञ्च प्रदर्शित किया गया है। चतुर्थ पाद में स्त्री-प्रत्ययों की चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में तद्धित, द्वितीय में रक्ताद्यर्थक, तृतीय पाद में शैषिक तथा चतुर्थ पाद में विकाराद्यर्थक प्रत्ययों का अनुशासन है।

पञ्चमाध्याय के प्रथम-द्वितीय पादों में तद्धित प्रत्ययों को बताते हुए तृतीय, चतुर्थ पादों में 'तस्, त्रल्' आदि विभक्ति सञ्ज्ञक तथा 'कन्' आदि स्वार्थिक प्रत्ययों का उपदेश किया गया है। षष्ठ-अध्याय के प्रारम्भ में द्वित्वप्रकरण है। तदनन्तर अनेक रूढ शब्दों का निपातन-द्वारा साधुत्व दिखाया गया है। द्वितीय पाद में अलुक् प्रकरण तथा अनेक आदेशों का निर्देश है। तृतीय में प्रकृति-कार्य, चतुर्थ में आदेश एवं इडादि आगम दिखाए गए हैं। सप्तम-अध्याय के प्रथम पाद में वृद्धि, ह्रस्व, दीर्घ आदि कार्य, द्वितीय पाद में गुण, ह्रस्व, दीर्घादि कार्य, तृतीय पाद में पदों का द्वित्व तथा प्लुत कार्य, चतुर्थ पाद में 'सम्' इत्यादि शब्दों के 'स' इत्यादि अनेक प्रकीर्ण आदेश बताकर लौकिक शब्द-साधन-प्रक्रिया को यथासम्भव पूर्ण करने का प्रयास किया है।

अष्टम-अध्याय के प्रारम्भिक दो पदों में वैदिक-शब्दों की सिद्धि तथा अन्तिम दो पदों में स्वर-विधि का निरूपण किया गया है। स्वरों का विवेचन करते हुए तृतीय पाद में आचार्य ने फिट्-सूत्रों का भी पाठ किया है।

(६) सिद्धहैम व्याकरण

हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा निःसन्देह अलौकिक थी। अपने आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज के आदेश से उन्होंने इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रभाचन्द्र के 'प्रभावक-चरित्र' में हेमचन्द्र की व्याकरण-रचना की बात बड़े विस्तार से दी गई है। सिद्धराज ने मालव देश के राजा यशोवर्मा को पराजित किया और उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक पोथियाँ भी हस्तलेखों के रूप में प्राप्त हुईं। इन्हीं में से एक हस्तलेख था राजा भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' व्याकरण का। इस ग्रन्थ को देख कर उन्हें भी भोज की प्रतिस्पर्धा में एक नवीन व्याकरण ग्रन्थ की रचना कराने की अभिलाषा जगी। इस अभिलाषा की पूर्ति हेमचन्द्र ने की। इसीलिए दोनों के नामों से संवलित यह ग्रन्थ 'सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन[1]' के नाम से प्रसिद्ध है। रचनाकाल विक्रम सं० १२ वीं शती का अन्तिम दशक।

यह बड़ा ही विशद तथा साङ्गोपाङ्ग व्याकरण ग्रन्थ है। पाँचों अङ्गों से मण्डित होने के कारण पञ्चाङ्ग व्याकरण कहलाता है। इन पाँच अङ्गों में सम्मिलित है— सूत्र-पाठ, धातु-पाठ, उणादिसूत्र, गण-पाठ तथा लिङ्गानुशासन। इन पाँचों के ऊपर उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी। यह विराट साहित्य सवा लक्ष-श्लोक परिमाण में माना जाता है।

सूत्र-पाठ

हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना सूत्रों में की है। इसमें आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान यह भी अष्टाध्यायी है। समग्र सूत्रों की संख्या ४६८५ (चार हजार छः सौ पचासी) उणादि-सूत्रों की संख्या है १००६। दोनों को मिलाकर ५६९१ सूत्र हैं इस व्याकरण में। हैम अष्टाध्यायी के आरम्भिक सात अध्याय में ही संस्कृत व्याकरण का विवरण है। अन्तिम अध्याय (सूत्र संख्या १११९) में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा का विस्तृत विवरण है। प्राकृत-सूत्रों को छोड़ देने से संस्कृत व्याकरण के सूत्रों की संख्या ३५६६ (तीन हजार पाँच सौ छासठ) है। सूत्रों की रचना प्राचीन आचार्यों की शैली के अनुसार है जिनमें क्रमशः संज्ञा, सन्धि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त तथा तद्धित

---

१. लघुवृत्ति के साथ मुनि हिमाँशुविजय के सम्पादकत्व में अहमदावाद से प्रकाशित, १९५० ई०। इस संस्करण में पञ्चाङ्गों का सन्निवेश विशेष उपयोगी है।

का निरूपण किया गया है। इन सूत्रों के ऊपर अपने से प्राचीन जैन-अजैन सब व्याकरणों की कुछ न कुछ छाप है, परन्तु जैन शाकटायन का प्रभाव विशेष व्यापक-रूपेण दृष्टिगोचर होता है। सूत्रों को हेमचन्द्र ने विशद तथा व्यापक बनाया है जिनमें वार्तिक आदि का सन्निवेश पृथक्‌रूपेण न हो कर सूत्रों के भीतर किया गया है।

वृत्तियाँ

हेमचन्द्र ने इस व्याकरण पर स्वयं व्याख्या लिखी हैं जिनमें दो प्रख्यात हैं—**लघ्वी-वृत्ति** (६ हजार श्लोक) आरम्भिक अध्येताओं के लिए विशेष लाभदायक है। बृहती वृत्ति (१८ हजार श्लोक परिमाण)—यह विद्वानों के उपयोगार्थ निर्मित है और इसलिए इसमें पूर्व वैयाकरणों—जैसे पूज्यपाद, शाकटायन, दुर्गसिंह (कातन्त्र वृत्तिकार) तथा पाणिनीय सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थकार—के मतों का विवेचन किया गया है। आचार्य नेअप ने व्याकरण पर **शब्दमहार्णव न्यास** (अपर नाम **बृहन्न्यास**) नामक विवरण भी लिखा था। सुनते हैं कि इसका परिमाण नब्बे हजार श्लोक था, परन्तु आज इसका तृतीयांश ही उपलब्ध है (लगभग ३४०० श्लोक) तथा प्रकाशित भी है (आरम्भ से लेकर तृतीय अध्याय के प्रथम पाद तक ही)।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चारों खिलों पर—(१) धातुपाठ, (२) गणपाठ, (३) उणादि-सूत्र तथा (४) लिङ्गानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें उणादि-सूत्र तथा उसकी प्रमेयबहुला व्याख्या विशेष महत्त्व रखती हैं। एक तो ये उणादि-सूत्र ही संख्या में अधिक हैं (एक हजार छः) और दूसरे इसकी वृत्ति भी विस्तृत तथा नाना तथ्यों से मण्डित है। इस प्रकार हेमचन्द्र ने इतना विशाल साहित्य व्याकरण-शास्त्र का केवल एक ही वर्ष में लिखकर प्रस्तुत किया (प्रबन्ध चिन्तामणि के कथनानुसार) और विस्तृत व्याख्यायें भी निर्मित की। इतनी विस्तृत रचना के बाद अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता, तथापि इस व्याकरण की इतनी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी कि अन्य लेखकों ने अपनी व्याख्याओं से इसे मण्डित करने में अपना ही गौरव समझा। इसीलिऐ इसके विभिन्न प्रकरणों पर व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें मुख्य हैं[1]—

(क) मुनि शेखर सूरि रचित **लघुवृत्ति ढुंढिका**;

(ख) कनकप्रभ कृत **दुर्गपद व्याख्या** (लघुन्यास पर)।

(ग) विद्याधर कृत **बृहद्‌वृत्ति-दीपिका**।

---

१. द्रष्टव्य—डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (भोपाल, १९६२) पृष्ठ १८८।

(घ) धनचन्द्रकृत लघुवृत्ति अवचूरि।
(ङ) अभयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति अवचूरि।
(च) जिनसागर कृत दीपिका।

अपने व्याकरण के लिए भट्टिकाव्य के सदृश दृष्टान्त प्रस्तुत करने के निमित्त हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय महाकाव्य[1] नामक २८ सर्गों में विभक्त ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है जिसके आदिम २० सर्गों में संस्कृत व्याकरण के तथा अन्तिम ८ सर्गों में प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दिये गये है। यह महाकाव्य इनके शब्दानुशासन का वस्तुतः पूरक है।

हैम शब्दानुशासन के खिलपाठ वे ही हैं जो किसी भी शब्दानुशासन के होते हैं—धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन। इन चारों को हेमचन्द्र ने स्वयं तैयार किया और उनके ऊपर अपनी विवृति भी लिखी जिसका निर्देश किया जा चुका है।

धातुपाठ

हेमचन्द्र ने हैम धातुपारायण नामक स्वतन्त्ररूप से स्वोपज्ञ ग्रन्थ लिखा और इसके ऊपर विवृति भी स्वयं लिखी। धातु-प्रकृति को दो प्रकार की माना है—शुद्धा और प्रत्ययान्ता। शुद्धा में भू, गम, पठ आदि तथा प्रत्ययान्ता में गोपाय, कामि, जुगुप्स, कण्डूय, बोभूय, चोरि, भावि आदि परिगणित किए गये हैं। हेम ने प्रत्येक-धातु के साथ अनुबन्ध की भी चर्चा की है। अनिट् धातुओं में अनुस्वार को अनुबन्ध माना है यथा पां पाने, ब्रूं व्यक्तायां वाचि। उभयपदी धातुओं में ग् अनुबन्ध लगाया गया है जहाँ पाणिनि ञ् अनुबन्ध लगाते हैं।

धातुओं की संख्या १९८० है जो नवगणों में विभक्त हैं। यहाँ भी जुहोत्यादिगण अदादि के भीतर ही सन्निविष्ट है, पृथक् नहीं है। नये अर्थों में अनेक नई धातुओं की कल्पना भाषाशास्त्र के अध्येताओं के लिए रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है। जैसे फक्कधातु को निर्माण अर्थ में, खोड्ड को घात अर्थ में, जम, झम् तथा जिम् को भोजन अर्थ में, पूली को तृणोच्चय अर्थ में और मुटत् को आक्षेप तथा मर्दन अर्थ में, प्रस्तुत कर हेमचन्द्र ने धातुपाठ में नूतना प्रदर्शित की है। क्रियापदों का प्रयोग रोचक पद्यों में निबद्ध कर हेमचन्द्र ने इस शुष्क विषय में सरसता उत्पन्न कर दी है। एक ही पद्य दृष्टान्त के तौरपर उद्धृत है—

नीपान्दोलयत्येष प्रेङ्खोलयति मे मनः।
पवनो बीजयन्नाशा ममाशामुच्चुलुम्पति॥

---

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास अष्टम सं० ६ पृष्ठ ३११-३१२।

पाणिनि की अपेक्षा नवान तथा विलक्षण धातुओं का यहाँ संकलन किया गया है। कुछ धातुओं का स्वरूप-वैशिष्ट्य देखने योग्य है—उर्दि मान और क्रीडा अर्थ में; कर्ज व्यथने, कुत्सिण् अवक्षेपे (कुत्सयते); कूणिण संकोचने (कूणयते); मेथ संगमे (मेथति, मेथते); गुंत प्रकीषोत्सर्गे (गुवति); इसी धातु से संस्कृत का गूथ (पुरीष) तथा भोजपुरी का गूह निष्पन्न हुआ है। पिच्चण् कुट्टने (पिच्चयति) आदि।

गण-पाठ

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है। यह दो प्रकार की है—**लघुवृत्ति** और **बृहद्वृत्ति**। इस बृहद्वृत्ति में ही इस व्याकरण का गण-पाठ उपलब्ध होता है। कुछ ऐसे भी गण हैं जिनका पता बृहद्वृत्ति से नहीं लगता। अतः विजयनीति सूरि ने **'सिद्धहेम बृहत्-प्रक्रिया'** में हेम के सभी गण-पाठ दिये हैं।

उणादि-पाठ

उणादि-पाठ के ऊपर हेमचन्द्र की स्वोपज्ञ वृत्ति है जिसके आरम्भ में उन्होंने अर्हत् को प्रणाम कर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। उणादि सूत्रों के द्वारा बहुत से ऐसे शब्द निष्पन्न किये गए हैं जो भारतीय प्रान्त-भाषा विशेषतः हिन्दी तथा गुजराती के साथ अपना सम्बन्ध रखते हैं। यथा कर्कर (क्षुद्राश्मा) = काँकर या कंकड़; गर्गरी (महाकुम्भ) = गागर; दवरी (गुण) = डोरा; पटाका (वैजयन्ती) = पताका, पटाका।

लिङ्गानुशासन

हेमचन्द्रका लिङ्गानुशासन बड़ा ही विस्तृत तथा विशद है पाणिनीय लिङ्गानुशासन से तुलना करने पर। पाणिनि ने प्रायः प्रत्ययों के आधार पर लिंग-निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने अन्य उपकरणोंको भी ध्यान में रखकर लिङ्गप्रवचन किया है। हेम ने इसमें विशाल शब्दराशि का संकलन किया है। यहाँ रुचिर, ललित और कोमल शब्दों के साथ कटु और कठोर शब्दों का भी संकलन किया गया है। शब्दों का संग्रह यहाँ विभिन्न साम्यों के आधार पर किया गया है। कोष-चतुष्टय के लेखक का शब्द-ज्ञान बड़ा ही विस्तृत है। यहाँ बहुत से अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्पज्ञात शब्दों का चयन लिङ्ग निर्देश के लिए किया गया है। यह चयन अकरकोष की शैली पर किया गया है।

---

१. हेम-गणपाठ के लिए द्रष्टव्य कपिलदेव—'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा' पृष्ठ १ ४–१२६।

हेमचन्द्र का वैशिष्ट्य

अपने पूर्व-निर्मित समस्त वैयाकरण सम्प्रदायों अजैन तथा जैन-दोनों से हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को सामग्री संकलित की। भोजराज का सरस्वती कण्ठाभरण तो उनके निकट पूर्व में रचा गया था। हेमचन्द्र ने पाणिनीय, कातन्त्र तथा भोज के व्याकरणों के अतिरिक्त जैनेन्द्र तथा शाकटायन के व्याकरण ग्रन्थों से अपने लिए प्रभूत सामग्री एकत्रित की। जैनेन्द्र की अपेक्षा शाकटायन से इन्होंने बहुत कुछ लिया। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति तथा लघुवृत्ति से हेमचन्द्र ने अनेक सिद्धान्त लिये हैं, परन्तु इनमें मौलिकता की कमी नहीं है। शाकटायन का सूत्र है—नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ (१।१।३६)। इसके स्थान पर हेम का सूत्र 'नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे (३।१।१५) है, जिसमें सामान्य स्वीकृति को विशिष्ट विवाह का रूप देकर लोक में प्रयुक्त भाषा का गम्भीर विश्लेषण है। इसी प्रकार 'कणेमनः श्रद्धोच्छेदे' १।१।२८ का शाकटायन-सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'कणेमन: श्रद्धाप्रतिघाते' की छाया पर निर्मित है। अन्तर इतना ही है 'प्रतिघात' का पर्याय 'उच्छेद' दे दिया गया है, परन्तु इससे तात्पर्य की स्पष्टता नहीं होती। इसलिए हेमचन्द्र ने 'कणे मनस्तृप्तौ' (३।१।६) सूत्र लिखकर तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। 'तावत् पिबति यावत् तृप्तः' व्याख्या से 'कणेहत्य पय: पिबति' उदाहरण सुस्पष्ट बन जाता है। इस प्रकार सूत्रों में सरलता तथा विशदता लाने का हेमचन्द्र ने पूर्ण प्रयत्न किया है।

एक तथ्य और भी विचारणीय है। हेमचन्द्र के समय में प्राकृत्य साहित्य अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था तथा अपभ्रंश लोकभाषा से साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर रहा था। ऐसी दशा में इन भाषाओं का विश्लेषण न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होता। इसीलिए हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के अन्तिम (अष्टम) अध्याय में इन भाषाओं का भी व्याकरण प्रस्तुत कर संस्कृत के भाषागत विकाश को समझने के लिए आवश्यक तथा उपादेय उपकरण प्रस्तुत किया। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण को समयोपयोगी बनाने के लिऐ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण लिखा। इन्होंने अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मान लिया तथा उसका विस्तृत विवेचन किया। इस दृष्टि से हेमचन्द्र का त्रिविध भाषा-शास्त्री का रूप आलोचकों के सामने प्रकट होता है। और यह हैम व्याकरण का निजी वैशिष्ट्य है[1]।

---

१. इतर वैयाकरणों के साथ हेमचन्द्र की तुलना के लिए द्रष्टव्य डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन: एक अध्ययन' (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३)।

(७) सारस्वत-व्याकरण

सारस्वत व्याकरण व्याकरण-सम्प्रदायों में सरलतम व्याकरण है। वहाँ सूत्रों की संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा पञ्चमांश से भी न्यून है। केवल सात सौ सूत्रों की सहायता से संस्कृत-भाषा का समग्र व्याकरण निबद्ध कर देना सचमुच आश्चर्यजनक घटना है। इससे यह व्याकरण बहुत ही लोकप्रिय रहा है गुजरात आदि प्रदेश में ही नहीं, प्रत्युत पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की केन्द्रस्थली काशी के मण्डल में भी। काशी से पूरब के स्थानों में पाणिनीय व्याकरण के गाढ़ परिचय कराने से पहिले सारस्वत-चन्द्रिका का अध्यापन छात्रों को करा दिया जाता था जिससे वे भाषा के व्यावहारिक नियमों से भली-भाँति परिचित हो जाते थे।

सारस्वत व्याकरण की टीका-सम्पत्ति प्रचुर है। परन्तु इस व्याकरण के रचयिता के निर्धारण की समस्या बड़ी विषम है। प्रसिद्धि तो है कि अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने किसी पण्डित-मण्डली में अपाणिनीय 'पुंक्षु' पद का प्रयोग किया। पण्डितों के द्वारा आलोचना किये जाने पर उन्होंने अगले दिन इसकी सिद्धि दिखलाने का वचन दिया। रात में ही आराधना से सन्तुष्ट सरस्वती की महती अनुकम्पा से उन्हें सूत्रों की स्फूर्ति हुई जो सरस्वती से प्रदत्त होने से सारस्वत सूत्र के नाम से अभिहित हुये। इस किम्वदन्ती के याथातथ्य का विचार अभी भी संदिग्ध ही है। सारस्वतप्रक्रिया के आरम्भस्थ पद्य का रूप इस प्रकार है—

प्रणम्य परमात्मानं बालधी-वृद्धि-सिद्धये।
सारस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्॥

इसके प्रामाण्य पर आलोचकों का कथन है कि अनुभूति-स्वरूप ने 'सारस्वती प्रक्रिया' को ऋजु बनाया अर्थात् इधर-उधर विकीर्ण प्रक्रिया को सुव्यवस्थित किया। इस श्लोक की व्याख्या में पुञ्जराज ने 'सारस्वती प्रक्रिया' का व्युत्पत्तिलभ्य तात्पर्य 'सारस्वतसूत्र' ही बतलाया है। उनका कथन है—

सरस्वत्या प्रोक्ता या प्रक्रिया, सा सारस्वती प्रक्रिया। तत्र प्रक्रियन्ते प्रकृति-प्रत्ययादि-विभागेन व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनयेति व्युत्पत्या सारस्वती प्रक्रिया सारस्वतीयं व्याकरणमिति।

यह तो पुञ्जराज का मत हुआ कि सारस्वती प्रक्रिया सूत्रों के ही लिए प्रयुक्त है; परन्तु अन्य टीकाकार इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे सूत्रों का कर्तृत्व तो भगवती सरस्वती को देते हैं। अनुभूतिस्वरूप को केवल सूत्रों का व्याख्याता ही मानते हैं।

कहीं-कहीं नरेन्द्राचार्य और कहीं नरेन्द्र-नगरी इसके रचयिता माने गये हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने 'टिप्पण' में नरेन्द्राचार्य को ही सूत्रों का रचयिता माना है—नरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्र-टिप्पणं समाप्तम्। अमरभारती नामक वैयाकरण ने अपनी व्याख्या में नरेन्द्रनगरी को इन सूत्रों का प्रणेता माना है—

यन्नरेन्द्रनगरीप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम्।
तन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किच्चदेव कलितं स्वया धिया ॥

नरेन्द्राचार्य अज्ञात वैयाकरण नहीं हैं, प्रत्युत प्रक्रिया-कौमुदी की टीका प्रसाद में विट्ठल द्वारा बहुशः उद्धृत हैं। समस्या यह है कि नरेन्द्राचार्य तथा नरेन्द्रनगरी एक ही आचार्य का अभिधान है या विभिन्न आचार्यों का ? बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही आचार्य का अभिधान हो।

नरेन्द्रनगरी नाम तो किसी आचार्य के अभिधान के लिए प्रयुक्त होने से विचित्र लगता है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के इतिहास में इस नाम के एक आचार्य प्रसिद्ध हैं। ये अनुभूतिस्वरूचार्य के साथ सम्बद्ध थे। अनुभूतिस्वरूप के शिष्य जनार्दन ने तत्त्वालोक नामक अद्वैत वेदान्त का प्रख्यात ग्रन्थ लिखा था। इसी ग्रन्थ के ऊपर नरेन्द्रनगरी के शिष्य प्रकाशानन्द ने 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम्नी उत्कृष्ट व्याख्या की रचना की थी।

इन्हीं नरेन्द्रनगरी ने सारस्वत व्याकरण के ऊपर सम्भवतः कोई व्याख्या लिखी थी जिसमें उन्होंने अनुभूतिस्वरूपको अपना गुरु उद्घोषित किया है—

सूत्रसप्तशतीं यस्मै ददौ साक्षात् सरस्वती।
अनुभूतिस्वरूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

इस श्लोक को प्रमाण मानकर कहना पड़ता है कि प्राचीन तथा प्रतिष्ठित परम्परा यही रही है कि अनुभूतिस्वरूप को भगवती सरस्वती ने सूत्र-सप्तशती का दान दिया था और अनुभूति ने उसके ऊपर प्रक्रिया लिखी।

इन समस्त कथनों का तात्पर्य यही है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने सरस्वती की कृपा से इन सूत्रों का प्रणयन किया और इस सारस्वत प्रसाद की स्मृति में सूत्रों को 'सारस्वत' नाम्ना प्रख्यात किया। अनुभूतिस्वरूप अद्वैतवेदान्त के प्रौढ़ आचार्य थे। उन्होंने गौडपाद-रचित माण्डूक्य कारिका के शाङ्करभाष्य के ऊपर टीका लिखी है। आनन्दबोध द्वारा प्रणीत 'प्रमाण-रत्नमाला' पर भी इनकी एक टीका मिलती है। अनुभूति-स्वरूप का सबसे सुन्दर ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान, जिसका नाम प्रकटार्थ-विवरण है। ये पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ इनकी अलोकसामान्य शास्त्रीय वैदुषी के प्रमापक हैं। इन अद्वैत ग्रन्थों के रचयिता ने ही सारस्वत सूत्रों का प्रणयन तथा उनके ऊपर

स्वोपज्ञ वृत्ति का भी निर्माण किया—यही मत मानना प्रमाण-पुरःसर तथा परम्परा-निर्दिष्ट है। इनका समय १२ शती के मध्यभाग में मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है (१०२५ ई०–१०७५ ई० लगभग)। इस समय-निरूपण के लिए प्रमाण आगे उपन्यस्त किया जाता है।

समय-निरूपण

अनुभूतिस्वरूप ने अद्वैतवेदान्त में महनीय ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने **आनन्दबोध** के दो ग्रन्थों के ऊपर—प्रमाणरत्नमाला तथा न्यायदीपावली[1] पर-अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। आनन्दबोध अपने 'न्यायमकरन्द' के कारण वेदान्त के इतिहास में चिरस्मरणीय हैं और इस न्यायमकरन्द को चाण्डू पण्डित ने अपनी नैषध-टीका में (रचनाकाल १३५३ वि० सं० = १२९७ ई०) नाम्ना निर्दिष्ट किया है[2]—श्री आनन्दबोधाचार्यैरपि न्यायमकरन्दे भेदं निराकुर्वद्भिरुक्तम्। फलतः आनन्दबोध का समय १२५० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। आनन्दबोध ने प्रकाशात्मा के 'शाब्द-निर्णय' पर 'न्यायदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है और इसका निर्देश भी उन्होंने अपने 'न्यायमकरन्द' में किया है—

दिङ्मात्रमत्र सूचितं विस्तरस्तु न्यायदीपिकायामवगन्तव्यः।

इस प्रकाशात्मा के समय का ठीक पता नहीं चलता, परन्तु रामानुज ने (१०१५ ई०–११३७ ई०) प्रकाशात्मा के पञ्चावयव वाक्य का अपने ग्रन्थों में बहुशः खण्डन किया है। फलतः इनका समय १००० ई० के आस-पास होना चाहिए। इनके टीकाकार आनन्दबोध का समय १०४०–११०० ई० लगभग होना चाहिए। अनुभूति-स्वरूपाचार्य इन्हीं आनन्दबोध के दो ग्रन्थों के व्याख्याकार हैं। फलतः इनका समय ११५० ई० अर्थात् १२वीं शती का मध्य भाग मानना चाहिए।

---

१. न्यायदीपावली की टीका का नाम चन्द्रिका है। इसका हस्तलेख सरस्वती-भवन में विद्यमान है। हस्तलेख की संख्या १७५९९ है जिसके अन्त में टीका का नाम दिया गया है।

अनुभूतिस्वरूपाख्यो यतिश्चकार चन्द्रिकाम्।
व्याख्यां सामर्थ्यसत्यापि पुंसामानन्ददायिनीम्॥

यह चौखम्भा सं० सीरीज से प्रकाशित भी है।

२. नैषधचरित-अंग्रेजी अनुवाद डा० हाण्डीकुइ द्वारा, (पंजाब ओरि० सी०) पृष्ठ ४८०।

सारस्वतसूत्रों में वर्णित विषय

सारस्वत-व्याकरण तीन वृत्तियों में विभक्त है। प्रथम वृत्ति के अन्तर्गत संज्ञा-प्रकरण, स्वरादि सन्धि-प्रकरण, स्वरान्त हसान्त सुबन्त शब्द, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास एवं तद्धित प्रकरण हैं। द्वितीय वृत्ति में भ्वादि से लेकर चुरादि पर्यन्त तथा तथा नामधात्वादि का भी यथासम्भव विवेचन किया है। भ्वादि गणों में पठित धातुओं को परस्मैपद, आत्मनेपद एवं उभयपद के विभाग से उपस्थापित किया गया है। तृतीय वृत्ति में अर्थक्रम से 'अण्' इत्यादि कृत्-प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस व्याकरण में १२७४ सूत्र उपलब्ध हैं। 'पुंक्षु' शब्द की सिद्धि के लिए "असम्भवे पुंसः कक् सौ" (सारस्वत-हसन्त पुं०) सूत्र बनाया गया है। असम्भव शब्द का तात्पर्य वेदान्तैकवेद्य परमात्मा से है। क्योंकि उसका बहुत्व सिद्ध करना बुद्धि से सम्भव नहीं माना जाता। सारांश यह है कि परमपुरुष परमात्मा के ही लिए सप्तमी बहु-वचनान्त 'पुंक्षु' प्रयोग साधु होगा। अथ च लौकिक पुरुषों के लिए 'पुंसु' शब्द साधु माना जायगा।

पुंक्षु शब्द की सिद्धि का प्रकार—पुनातीति पुमान्। "पुनातेः सुक् नुम् च" इति सुप्रत्ययो नुमागमश्च, प्वादेर्ह्रस्वः। अथवा पाति त्रिवर्गमिति पुमान् "पाते ड्डुम्सुः" इति 'डुम्स्' प्रत्ययः। एवं पुंस् शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि प्रत्यये, कगागमे कृते 'पुंस् क् सु' इत्यत्र सकारस्य संयोगादिलोपे, सुप् प्रत्ययावयवसकारस्य षकारे 'क् ष्' संयोगेन क्षकारे कृते 'पुंक्षु' इति रूपमुपपद्यते।

संज्ञाप्रकरण में समान, सवर्ण, सन्ध्यक्षर, नामी, व्यञ्जन, इत्, लोप, संयोग, वर्ग, गुण, वृद्धि, टि, उपधा, लघु, गुरु, अनुनासिक, निरनुनासिक, विसर्जनीय तथा अनुस्वार संज्ञाएँ की हैं। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि वर्णसमाम्नाय में पढ़े गए वर्णों का क्रम अत्यन्त भिन्न (अप्रसिद्ध) है। यहाँ पाणिनीय वर्णसमाम्नाय की तरह दो बार हकार का पाठ नहीं किया गया है। प्रत्याहारों को बनाने के लिए अनुबन्धों का पाठ नहीं किया गया है। अतः अन्तिम वर्णों से ही निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न होता है। वर्णसमाम्नाय इस प्रकार है—"अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ, ह य व र ल, ञ ण न ङ म, झ ढ ध घ भ, ज ड द ग ब छ ठ थ ख फ च ट त क प, श ष स"।

संज्ञाप्रकरण के अन्त में उद्धृत—

> "गजकुम्भाकृतिर्वर्ण ऋवर्णः स प्रकीर्तितः,
> एवं वर्णा द्विपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः।"

श्लोक में ५२ वर्णों को स्वीकार किया गया है। श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य के "प्रत्याहाराणां संख्यानियमस्तु नास्ति" इस वचन की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि 'संख्यानियम' शब्द में 'संख्या अनियम' ऐसा पद-विच्छेद करना चाहिए

जिससे प्रत्याहारों की संख्या निश्चित कही जा सकती है, अनिश्चित नहीं। उन्होंने 'हस' इत्यादि २० प्रत्याहार गिनाए हैं। यहाँ व्यञ्जनों को 'हस' माना जाता है। महर्षि पाणिनि ने पदान्त नकार का शकार परे रहते तुगागम करके 'संच्छम्भुः' इत्यादि रूपों की निष्पत्ति की है, परन्तु सारस्वत में सीधे 'चक्' का ही आगम किया गया है।

वृक्षच्छाया, तवच्छत्रम्' इत्यादि पदों में कोई आगम न करके छकार का द्वित्व तथा पूर्व छकार का चकार किया गया है। कातन्त्र में भी यही बात कही गई है। 'श-ष-स-ह' तथा रेफ के परे रहते अनुस्वार का 'ँ' यह आदेश किया गया है, जैसे— 'सामयजूँ षि, देवानाँ राजा' इत्यादि। इस 'ग्वं' रूप अनुस्वारादेश का उच्चारण लोक में न किए जाने से यह सिद्ध होता है कि इसमें वैदिक शब्दों के लिए भी कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है। स्यादि-त्यादि रूप दो प्रकार की विभक्तियाँ मानी गई हैं। पाणिनि ने जिन शब्दों को प्रातिपदिक कहा है उनको यहाँ 'नाम' संज्ञा दी गई है। सख्युः पत्युः शब्दों की सिद्धि के लिए सखि, पति शब्दों का ऋगागम करके ङसि, ङस् प्रत्ययों के अकार का उकार तथा उस उकार का डिद्भाव किया गया है। यहाँ प्रक्रिया में गौरव स्पष्ट परिलक्षित होता है। चादि गण के शब्दों की 'निपात' संज्ञा की गई है। **"किमः सामान्ये चिदादिः"** (अव्यय १३) इस सूत्र पर कहे गए—**"सर्वविभक्तान्तात् किंशब्दात् सामान्येऽर्थे चित् चन च इत्येते प्रत्यया भवन्ति"** इस वचन में, चित् एवं चन दो ही प्रत्ययों का विधान किए जाने पर बहुवचन निर्देश चिन्त्य कहा जा सकता है। उपसर्गसंज्ञक प्रादि गण में पाणिनि-अभिमत २२ उपसर्गों के अतिरिक्त श्रत्, अन्तर् तथा आविर् इन तीन शब्दों को और पढ़ा गया है। कारक-प्रकरण में 'कर्ता' इत्यादि संज्ञाओं को बिना किए ही उनमें प्रथमादि विभक्तियों का विधान किया गया है। औपश्लेषिक, सामीप्यक, अभिव्यापक, वैषयिक, नैमित्तिक तथा औपचारिक भेदों से अधिकरण को छः प्रकार का माना गया है। क्रमशः औपश्लेषिक आदि भेदों के उदाहरणों का उपन्यास श्लोक द्वारा इस प्रकार किया गया है—

> "कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते।
> तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्॥
> युद्धे संनह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणां शतम्।"

वेद में स्यादि विभक्तियों के व्यत्यय को **"छन्दसि स्यादिः सर्वत्र"** (कारक प्र०) सूत्र से कहा है। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, द्विगु, बहुव्रीहि तथा कर्मधारय—ये छः समास बताए गए हैं। 'तद्धित' संज्ञा-विधायक कोई सूत्र तो नहीं किया गया है तथापि चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि समास का अथवा सभी नाम शब्दों के (अनेक अर्थों के निर्वचन से) हित करने वाले को 'तद्धित' कहते हैं।

आख्यात-प्रकरण में आत्मनेपद को 'आत्' तथा परस्मैपद को 'प' कहा गया है। काल का विभाग करते हुए तिप्, तस्, अन्ति इत्यादि प्रत्ययों को सूत्र-द्वारा गिनाया गया है। भ्वादि गण में 'अप्' विकरण किया जाता है जिसका अदादि तथा जुहोत्यादि में लुक् हो जाता है। दिवादि गण में 'य' विकरण का उपयोग किया गया है। 'णश्' अदर्शने धातु से ङ परे रहते विकल्प से अकार का एकार करके 'अनेशत्, अनशत्' यह दो रूप बनाए हैं (पाणिनीय लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, तिप् प्रत्यय)। इनमें 'अनेशत्' रूप अपाणिनीय है। स्वादिगण में 'नु', रुधादि में 'नम्', तनादि में 'उप्', तुदादि में 'अ', क्र्यादि में 'ना', तथा चुरादि में 'ञि', विकरण का विधान देखा जाता है। पाणिनीय 'सन्' के लिए 'स' का प्रयोग हुआ है। अन्त में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रयोग दृष्ट्या धातुओं की अनन्तता को बताते हुए उसका सर्वाङ्गीण प्रवचन नहीं किया जा सकता—ऐसा कहकर इस प्रकरण को पूर्ण किया है।

कहा है—

"धातूनामप्यमन्तत्वान्नानार्थत्वाच्च सर्वथा।
अभिधातुमशक्यत्वादाख्यातख्यापनैरलम् ॥"

कृत-प्रकरण में 'क्त, क्तवतु' प्रत्ययों की 'निष्ठा' संज्ञा और 'घ्यण्, क्यप्, तव्य, 'अनीय'तथा 'य' इन पाँच प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा की गई है। कृत्यसंज्ञक तथा स्त्रीत्वार्थ में किए गए 'क्ति' प्रत्यय को कातन्त्रानुसारी समझना चाहिए।

ग्रन्थ के अन्त में आचार्य ने इस व्याकरण में जिन शब्दों की सिद्धि नहीं बताई गई है उनकी सिद्धि अन्य व्याकरणों से करनी चाहिए; ऐसा सूत्र द्वारा निर्देश किया है—

"लोकाच्छेषस्य सिद्धिर्यथा मातरादेः;' (क्त्वाधिकार प्रक्रिया)। यहाँ 'लोक' शब्द से व्याकरणान्तर ही अभीष्ट है। तदनन्तर आचार्य ने अपना नाम, परिचय एवं मङ्गलाचरण उपस्थापित कर ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

सारस्वत की व्याख्या-सम्पत्ति

सारस्वत व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। दो व्याकरण ग्रन्थों का आपस में संमिश्रण हो गया है। सारस्वत-चन्द्रिका मूल सारस्वत सूत्रों से परिमाण में डेढ़ गुना अधिक है तथा सूत्रों से अपनी पृथक् स्थिति धारण करती है। सारस्वत प्रक्रिया के कतिपय टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) चन्द्रकीर्ति—ये जैन ग्रन्थकार थे। नागपुरतपागच्छ के भट्टारक थे। इनकी टीका का नाम है सुबोधिका, दीपिका[1] या चन्द्रकीर्ति। इन्होंने पद्मचन्द्र उपाध्याय की

---

१. तैरियं पद्मचन्द्राख्योपाध्यायाभ्यर्थनात् कृता।
शुभा सुबोधिका नाम्नी श्री सारस्वतदीपिका ॥

अभ्यर्थना को मानकर इस टीका का प्रणयन किया। चन्द्रकीर्ति के ही शिष्य हर्षकीर्ति ने इस टीका का आदर्श प्रस्तुत किया। टीका सुबोध तथा सुन्दर है[1]।

(ख) पुञ्जराज—इन्होंने दो अलङ्कार ग्रन्थों—ध्वनिप्रदीप तथा काव्यालङ्कार-शिशुप्रबोध—की रचना के साथ ही साथ सारस्वतप्रक्रिया की टीका का प्रणयन किया। इस टीका का सबसे प्राचीन हस्तलेख भाण्डारकार शोध संस्थान में है और उसका काल है १६१२ संवत् (=१५५६ ईस्वी)। इस टीका के आरम्भ में पुञ्जराज ने अपने वंश का विस्तृत विवरण दिया है जिसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। इसमें उन्होंने अपने सप्तम पूर्वज से लेकर अपने तक के पुरुषों का नाम दिया है। इनके पिता जीवन तथा पितृव्य मेघ दोनों ही मालवा के सुल्तान गियासउद्दीन खिलजी के मन्त्री थे[2]। यह गियासुद्दीन-शाह १५ शती के अन्तिम चरण में राज्य करता था मालवा के ऊपर (लगभग १४७५ ई०–१५०१ ई०)। वह विष देकर मार डाला गया। तब नासिर-उद्दीन खिलजी वहाँ का शासक बना और अपनी मृत्यु (१५११ ई०) तक राज्य करता रहा। इन्हीं दोनों बादशाहों के मन्त्री होने के कारण पुञ्जराज के पिता तथा पितृव्य दोनों का मन्त्रित्व काल १४७५ ई०–१५१० ई० तक मानना चाहिये; पुञ्जराज का समय १४७५ ई०–१५२० ई० तक मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा। पुञ्जराज ने अपने को 'पुञ्जराजो नरेन्द्रः' कहा है। तो क्या ये नरेन्द्र के पद पर भी असीन हुये थे? इस प्रश्न की मीमांसा अभी अपने समाधान के लिए अधिक प्रमाण चाहती है। मालवा के खिलजी शासकों का अन्त १५३५ ई० में हो गया जब बादशाह हुमायूँ ने नासिर के उत्तराधिकारी महमूद खिलजी की १५३१ ई० में हत्या के अनन्तर मालवा को जीत लिया। फलतः सारस्वत प्रक्रिया की इस व्याख्या का प्रणयन काल १६ वीं शती का प्रथम चरण मानना सर्वथा न्याय्य है।

(ग) अमर भारती—विमल सरस्वती के शिष्य अमरभारती ने सारस्वत-सूत्रों पर व्याख्या लिखी है जिसमें नरेन्द्र-नगरी को ही वे इनका लेखक मानते हैं। इस विषय की समीक्षा ऊपर की गई है कि नरेन्द्र-नगरी अनुभूतिस्वरूपाचार्य के शिष्य प्रतीत होते हैं। फलतः वे मूल लेखक नहीं हैं। टीका का नाम था सुबोधिनी। इस टीका का प्राचीनतम हस्तलेख १५५४ सं (= १४९७ ई०) का है। फलतः इनका समय इससे प्राचीन है।

---

१. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित, १९६७।

२. श्री विलासवति मण्डपदुर्गे स्वामिनः खलचि साहिगयासान्।
प्राप्य मन्त्रिपदवीं भुवि याभ्यामर्जिताऽर्जितपरोपकृतिः श्रीः॥
—सारस्वतटीका, श्लोक ९।

(घ) **वासुदेव भट्ट**—इन्होंने सारस्वत प्रक्रिया के ऊपर 'सारस्वत प्रसाद' नामक व्याख्यान लिखा है। ये बड़े ही प्रौढ पण्डित थे न्याय तथा पाणिनीय व्याकरण के और इन दोनों का उपयोग उन्होंने अपने व्याख्यान में भूयसा किया है। टीका विस्तृत तथा विशदार्थ-बोधिनी है। इनके देश का पता नहीं चलता, परन्तु ग्रन्थ की रचना का काल[1] उन्होंने स्वयं १६३४ वि० सं० (= १५७७ ईस्वी) दिया है जिससे प्रसाद[2] का निर्माण पुञ्जराज की पूर्व निर्दिष्ट व्याख्या के लगभग अर्ध शताब्दी के अनन्तर सिद्ध होता है। दोनों ही १६ वीं शती के व्याख्याकार हैं।

(ङ) **भट्ट धनेश्वर**—भट्ट धनेश्वर से पहिले क्षेमेन्द्र ने सारस्वतप्रक्रिया पर 'टिप्पण' नाम से लघुवृत्ति लिखी थी। इनका देशकाल अज्ञात है। यह क्षेमेन्द्र हरिभद्र या हरिभट्ट के पुत्र कृष्ण शर्मा का शिष्य था। फलतः वह अभिनवगुप्त के शिष्य काश्मीरी महाकवि क्षेमेन्द्र से नितान्त भिन्न व्यक्ति है। इसी टिप्पण के खण्डन के लिए धनेश्वर भट्ट ने अपना ग्रन्थ—सारस्वत-प्रदीप—निबद्ध किया था। ये अपने को 'वैयाकरणगजेन्द्रसिंह' तथा 'न्यायशास्त्र-पारंगत' की उपाधि से विभूषित करते हैं। इनका वैयाकरणत्व तो इस ग्रन्थ में पदे-पदे सिद्ध हो रहा है। न्यायशास्त्र के भी ये प्रवीण विद्वान् थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में 'चिन्तामणि अनुमान खण्ड' के 'पक्षधर्मतावाद' का उल्लेख इन्होंने किया है। यह चिन्तामणि निश्चयेन गंगेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' से अभिन्न है (र० का० १२०० ई०)। इस 'सारस्वत-प्रदीप' का अपर नाम 'क्षेमेन्द्र-खण्डन' है जिससे इसकी रचना का उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन आचार्यों के मतों का स्थान-स्थान पर संकेत है जिनमें काल निरूपण की दृष्टि से रामचन्द्राचार्य तथा प्रसादकार का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। रामचन्द्राचार्य तो प्रक्रिया-कौमुदी के विश्रुत प्रणेता हैं तथा प्रसादकार उनके ही पौत्र, प्रक्रिया-प्रसाद के प्रख्यात रचयिता, विट्ठल हैं। विट्ठल का अविर्भावकाल १५ शती का मध्यकाल (लगभग १४५० ई०) माना जाता है। सारस्वत प्रसाद का उपलब्ध एकमात्र हस्तलेख भण्डारकर शोध-संस्थान (पूना) के पुस्तकालय में है। उसका समय है १६५३ वि० सं० (= अर्थात् १५९६ ई०)। प्रसादकार विट्ठल के उल्लेख से तथा हस्तलेख के लिपिकाल से इनका समय १४७५ ई० से लेकर १५२० ई० तक लगभग होना चाहिए। अर्थात् धनेश्वरभट्ट का आविर्भावकाल १६वीं शती का प्रथम चरण मानना नितान्त उपयुक्त है। भट्ट धनेश्वर प्रौढ वैयाकरण हैं—सारस्वती प्रक्रिया

---

१. संवत्सरे वेद-वन्हि-रसभूमि-समन्विते।
शुचौ कृष्णद्वितीयायां प्रसादोऽयं निरूपितः॥

२. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से मूल के साथ प्रकाशित, १९६७।

में ही निष्णात नहीं, प्रत्युत महाभाष्य के भी प्रौढ मर्मज्ञ। वे स्वयं कहते हैं कि पातञ्जल-महाभाष्य पर 'चिन्तामणि' नामक व्याख्या उन्होंने स्वयं लिखी थी[1]।

उन्होंने 'पीताम्बर' नामक वैयाकरण का मत अपने ग्रन्थ में दिया है। पीताम्बर शर्मा नामक लेखक के दो व्याकरण ग्रन्थों को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी का सूचीपत्र निर्दिष्ट करता है—

(१) **सारसंग्रह**—क्रमदीश्वर के 'संक्षिप्त सार' का यह संग्रह बालकों के शिक्षा के निमित्त निबद्ध आरम्भिक ग्रन्थ है।

(२) **छात्रव्युत्पत्ति**—नवसर्गों में रामायण की कथा का श्लोकबद्ध सारांश, जिसमें 'सारसंग्रह' के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भट्टधनेश्वर ने यह भी लिखा है कि पीताम्बर के किसी शिष्यने 'सारस्वत प्रदीप[2]' का हस्तलेख स्वयं प्रस्तुत किया था। फलतः पीताम्बर धनेश्वर के ज्येष्ठ समसामयिक प्रतीत होते हैं लगभग १५०० ई० में वर्तमान।

सिद्धान्त-चन्द्रिका

सारस्वत प्रक्रिया से अतिरिक्त भी सारस्वत व्याकरण के व्याख्याताओं का एक पृथक् सम्प्रदाय है। रामचन्द्राश्रम अथवा रामाश्रम नामक वैयाकरण ने मूल सारस्वत व्याकरण को पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्तर पर लाने के लिए एक नवीन ग्रन्थ लिखा **सिद्धान्त-चन्द्रिका**[3]। इसमें केवल नवीन सूत्रों का ही प्रणयन अष्टाध्यायी के आधार पर नहीं है, प्रत्युत अन्य विशिष्टतायें भी यहाँ लक्षित होती हैं। सूत्रों की संख्या पूर्णतः

---

१. श्री युधिष्ठिर मीमांसक 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (संशोधित सं०) के पृष्ठ ३७६ तथा ५७१ पर दो स्थानों में भट्टधनेश्वर को वोपदेव का गुरु मानते हैं। यह उनकी भूल है। उन्होंने नामसाम्य को ही लक्ष्य कर यह भूल की है। वोपदेव के गुरु का नाम धनेश था, भट्ट धनेश्वर नहीं। वोपदेव (१२५०–१२८० ई०) के गुरु होने से धनेश का समय १३वीं शती का पूर्वार्ध निश्चयेन है, जब भट्ट धनेश्वर का समय १५ शती का अन्त है। फलतः काल-बाधित होने से यह समीकरण नितान्त अयुक्त है।

२. इस हस्तलेख के विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य डा० पी० के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्टरी भाग २ पृष्ठ १५–१८।

३. लोकेशकर की तत्त्वदीपिका तथा सदानन्द गणि रचित सुबोधिनी के साथ सिद्धान्त चन्द्रिका का प्रकाशन चौखम्भा कार्यालय ने दो जिल्दों में किया है सं० १९९०, वाराणसी।

२२३७ (दो हजार दो सौ सैंतीस) है। सिद्धान्त-प्रक्रिया की अपेक्षा इसमें नवीन संज्ञाओं तथा गणों का भी उल्लेख पाया जाता है। यहाँ केवल १५ परिभाषाओं का व्याख्यानरूप स्वतन्त्ररूप से परिभाषा-प्रकरण भी उपलब्ध है। जहाँ प्रक्रिया में उणादि सूत्र केवल ३३ हैं, वहाँ चन्द्रिका में पाँच पादों में विभक्त ३८१ सूत्र हैं। इन सूत्रों को को पाणिनितन्त्र की पञ्चपादी के सूत्रों से तुलना करने पर पता लगता है कि इन सूत्रों में कितना परिवर्तन है और कितना अक्षरशः गृहीत है। फलतः मूल से यहाँ इतने विशिष्ट परिवर्तन-परिवर्धन हैं कि इसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानना ही उचित प्रतीत होता है। सिद्धान्त चन्द्रिका में दो भाग हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। इसमें पूर्वार्ध तो प्रक्रिया से प्रायः मिलता है। उत्तरार्ध प्रक्रिया की अपेक्षा भिन्न तथा परिबृंहित है। इसलिए काशीमण्डल में सारस्वत प्रक्रिया के पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका के उत्तरार्ध पढ़ने की प्राचीन परिपाटी थी। यह सिद्धान्त-चन्द्रिका ही 'सारस्वत चन्द्रिका' के नाम से अभिहित की जाती थी। किसी समय इसकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि सिद्धान्त-कौमुदी के अध्ययन से पूर्व इस चन्द्रिका का पठन नितान्त आवश्यक माना जाता था।

इसके रचयिता का नाम था—रामचन्द्राश्रम या रामाश्रम। इनके देशकाल का स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध तथ्य है कि भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का संन्यास दशा का नाम 'रामाश्रम' था। फलतः कुछ लोग इन्हें ही इस वृत्ति का—अन्ततोगत्वा चन्द्रिका वृत्ति ही तो है—प्रणेता मानते हैं। इस ग्रन्थ की लोकेशकरकृत टीका का रचना-काल १७४१ सं०[1] (= १६८४ ई०) है। अतः मूल ग्रन्थ को इतः प्राचीन होना चाहिए। भानुजिदीक्षित का समय मैंने पहिले १६०० ई०–१६५० ई० प्रमाणों से निश्चित किया है (पृष्ठ ३४५)। फलतः चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र रामाश्रम एक ही समय के व्यक्ति हैं, तथापि इस अभिन्नता की सिद्धि के लिए पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। इन्होंने अपनी टीका का एक संक्षिप्त रूप लघुसिद्धान्त-चन्द्रिका के नाम से भी लिखा है। इसके ऊपर वरद-राज की लघुसिद्धान्त कौमुदी का कुछ प्रभाव पड़ा है क्या ?

इसके ऊपर दो प्रख्यात प्रकाशित व्याख्यायें उपलब्ध हैं—

(१) लोकेशकर-तत्त्वदीपिका। श्रीनाथकर के पौत्र[2] तथा क्षेमकर के पुत्र थे। टीका का रचनाकाल है १७४१ विक्रमी (= १६८४ ई०)। ये प्रकरणों के अन्त में अपने को

---

१. चन्द्र-वेद हयभूमि-संयुते वत्सरे नभसि मासि शोभने।
शुक्लपक्षदशमीतिथावियं दीपिका बुधप्रदीपिका कृता॥

२. श्रीनाथकर-पौत्रेण लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकायां द्विरुक्तव्याकृतिर्गता॥

(पूर्वार्ध वृत्ति, पृष्ठ ३८४)।

'श्रीविद्यानगरस्थायी' लिखते हैं[1]। परन्तु इस नगर का यथार्थ परिचय नहीं है। विजय-नगर साम्राज्य की राजधानी 'विद्यानगर' के नाम से प्रख्यात थी, परन्तु इन दोनों के ऐक्य मानने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। 'कर' उपनाम उत्कलदेशीय ब्राह्मणों में पाया जाता है। अतः सम्भव है कि लोकेशकर उत्कल के ही ब्राह्मण हो तथा 'श्रीविद्यानगर' भी उत्कल में ही किसी प्रख्यात नगर का अभिधान हो। तत्त्वदीपिका नाम्नी यह टीका बड़ी विस्तृत है तथा पदार्थों का विश्लेषण विस्तार के साथ करती है। इसमें लघुभाष्य का संकेत तथा उसके मत का खण्डन बहुशः मिलता है जिससे लघुभाष्य के लेखक रघुनाथ का समय १७ शती के पूर्वार्ध से प्राचीन ही प्रतीत होता है। लघुभाष्य सारस्वत-प्रक्रिया पर महाभाष्यानुसारी भाष्य है (वेंकटेश्वर मुद्राणालय, बम्बई से प्रकाशित)। लोकेशने अमर, रत्नमणि नामक कोषकार तथा गणरत्नमहोदधि के लेखक का मत स्थान-स्थान पर दिया है तथा अपनी समन्वय बुद्धि को भी प्रदर्शित किया है[2]। फलतः चन्द्रिका के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(२) **सदानन्द**—सदानन्द की टीका का नाम सुबोधिनी है। इसके आरम्भ में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का विशद विवरण दिया है। यह गुरु-परम्परा खरतर आम्नाय के जिनभक्तिसूरि से आरम्भ होकर भक्तिविनय सूरि तक चली आती है। इन्हीं भक्तिविनय के शिष्य थे ये सदानन्दगणि जो जैन धर्मावलम्बी थे। ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने गुरु की बड़ी उदात्त प्रशस्ति लिखी है जहाँ रचनाकाल १७९९ वि० सं० भी उल्लिखित है[3]। फलतः इस सुबोधिनी का प्रणयन इस संवत् में किया गया (= १७४३ ई०)। यह वृत्ति पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों पर है और प्राचीनकाल के अनेक वैयाकरणों तथा कवियों के उल्लेख से मण्डित है। सदानन्द व्याकरण के बहुज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अमर, पतञ्जलि, पराशर, हरदत्त, माघ, भट्टि, श्रीहर्ष के उल्लेख के साथ में किसी लघुभाष्य कर्ता का भी निर्देश किया है (इति लघुभाष्यकर्तु-रपि प्रयासो व्यर्थ एव)। यह निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विनायक के पुत्र रघुनाथ ने पातञ्जल महाभाष्य के अनुकरण पर सारस्वत सूत्रों पर इस 'लघुभाष्य' का प्रणयन किया। सुबोधिनी में निर्दिष्ट होने से रघुनाथ का समय इतः पूर्व होना

---

१. श्रीविद्यानगर-स्थायि-लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकायां पुंलिंगोऽगात् स्वरान्तकः॥ (वही पृष्ठ ११७)।

२. द्रष्टव्य 'क्रोडा' शब्द पर उनकी मीमांसा, पृष्ठ २२५ (पूर्वार्ध)।

३. निधि-नन्दार्वभूवर्षे सदानन्दः सुधी मुदे।
सिद्धान्त चन्द्रिका वृत्तिं कृदन्ते चक्रवानृजुम्॥

चाहिए। यह स्वतन्त्र काल-निर्देश इन्हें भट्टोजिदीक्षित से अवान्तरकालीन तो अवश्य सिद्ध करता है, परन्तु इनके भट्टोजि के शिष्य होने की बात[1] प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यह टीका प्रमाणित करती है कि १८ शती में भी जैन विद्वानों की दृष्टि व्याकरण की ओर आकृष्ट थी और वे हेमचन्द्र की परम्परा का यथाविधि पालन करते थे। सिद्धान्त चन्द्रिका के ऊपर इस सुबोधिनी से अतिरिक्त दो टीकायें और भी मिलती हैं—(१) चन्द्रकीर्ति[2] द्वारा टिप्पण। तथा (२) अज्ञात नाम्नी व्याख्या। इन तीनों टीकाओं का उल्लेख प्रो० वेलणकर ने अपने जिनरत्नकोष[3] में किया है। फलतः जैन विद्वानों की दृष्टि सारस्वत व्याकरण पर वृत्ति लिखकर सुबोध बनाने की ओर विशेषतः आकृष्ट थी—यह मानना ही पड़ता है।

चन्द्रकीर्ति की यह व्याख्या बड़ी विस्तृत तथा विशद हैं। लोकेशकर की वृत्ति में अव्याख्यात अंशों की इन्होंने सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। अव्ययों के अर्थ दिखलाने में इनकी प्रौढ़ि उपलब्ध होती है। मेरी जानकारी में चन्द्रकीर्ति की इस अव्ययवृत्ति के समान ऐसी टीका प्रायः दुर्लभ है[4]। लोकेशकर की वृत्ति में यह अंश व्याख्या-विरहित ही है। 'उपगु' शब्द की उद्धव के किसी पूर्वज की संज्ञा मानने के लिए भागवत का यह अंश उद्घृत है—उद्धवः प्रकृत्यौपगविर्जगाम। उणादि प्रक्रिया की बड़ी ही विशद व्यख्या इसे विशेष महत्त्वशालिनी सिद्ध कर रही है।

सारस्वत व्याकरण के विकास की दशा इन ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट अभिव्यक्त हो रही है। आरम्भ तो हुआ सात सौ सूत्रों से ही, परन्तु उन्हें अपर्याप्त मानकर सारस्वत-प्रक्रिया में उनकी संख्या १२७४ तक पहुँच गई। सारस्वत प्रक्रिया में

---

१. डा० बेलवेकर ने ऐसा ही उल्लेख किया है—सिसटम्स आफ संस्कृत ग्रामर में।

२. ये चन्द्रकीर्ति कौन थे? ये सारस्वत प्रक्रिया पर सुबोधिका या दीपिका टीका के कर्ता हैं (समय १५५० ई०) और उन्होंने ही चन्द्रिका पर भी सुबोधिनी व्याख्या लिखी—ऐसी मान्यता डा० पी० के० गोडे का है (स्टडीज भाग १ पृष्ठ १००)। यदि यह कथन यथार्थ हो, तो सिद्धान्त-चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम भट्टोजि दीक्षित (१५७५ ई०–१६२० ई०) के पुत्र रामाश्रम से भिन्न व्यक्ति ठहरते हैं, क्योंकि उनका समम १५५० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिए। परन्तु दोनों चन्द्रकीर्ति की अभिन्नता के लिए प्रमाण की पूरी आवश्यकता है।

३. भण्डारकार शोध-संस्थान (पूना) से प्रकाशित।

४. द्रष्टव्य—सिद्धान्तचन्द्रिका पूर्वार्ध पृ० १९६–२०५।

शब्दों के रूपों की सिद्धि सूत्रानुसार की गई है जिससे बालकों को इन रूपों के जानने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' में सूत्रों की संख्या बढ़कर २२३७ तक पहुँच गई है। सिद्धान्त-चन्द्रिका के प्रणेता रामचन्द्राश्रम के हृदय में सारस्वत तन्त्र को भी पाणिनीय तन्त्र के समान स्तर पर पहुँचाने की अभिलाषा ही इस संख्या-वृद्धि में जागरूक दृष्टिगोचर होती है। इसमें विषयों का भी इतना परिबृंहण है कि इसे सारस्वत व्याकरण से पृथक् नवीन धारा में प्रवाहित होने वाला तन्त्र मान सकते हैं। इस व्याकरण की टीका-सम्पत्ति पर्याप्त रूपेण विस्तृत है, परन्तु उसके प्रकाशित न होने के कारण विद्वानों की दृष्टि इसके अनुशीलन की ओर आज भी उतनी आकृष्ट नहीं है जितनी उसे होना चाहिए।

(८) मुग्धबोध व्याकरण

प्रसिद्ध विद्वान् वोपदेव ने संस्कृतशिक्षण की दृष्टि से अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ही लिखा जिसका नाम है **मुग्धबोध**। वोपदेव के पिता का नाम केशव था जो आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा जिन्होंने **सिद्धमन्त्र** नामक वैद्यक ग्रन्थ का प्रणयन किया। वोपदेव ने अपने पिता के इस सिद्धमन्त्र के ऊपर प्रकाशिका नाम्नी व्याख्या लिखी। केशव देवगिरि के यादववंशीय नरेश **सिंघण** (या सिंहराज—शासनकाल १२१० ई०–१२४७ ई०) के सभापण्डित थे। यादव-नरेश महादेव (१२६० ई०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०६ ई०) के धर्माध्यक्ष हेमाद्रि (जिनका लोक प्रचलित नाथ हेमाड पन्त था) के आश्राय में रह कर वोपदेव ने नाना शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। फलतः वोपदेव का समय १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

वोपदेव ने 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण का प्रणयन किया। इन्होंने **कविकल्पद्रुम** नाम से पद्यबद्ध धातुपाठ की रचना की तथा उसके ऊपर **कविकामधेनु** नामक स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी। यह व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय हुआ विशेषतः बंगाल में, जहाँ इसका पठन-पाठन आज भी खूब है। इसकी लोकप्रियता का पता इसकी विपुल टीकासम्पत्ति से लगता है। इसके परिशिष्टों तथा व्याख्या की रचना नन्दकिशोर भट्ट ने १३२० शक सं० (= १३९८ ईस्वी) में की। परन्तु दुर्गादास विद्यावागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है। दुर्गादास के पिता का नाम वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य है जो बहुत सम्भव है चैतन्यदेव के (१४८६ ई०–१५३३ ई०) समकालीन वासुदेव सार्वभौम से भिन्न नहीं हैं। दुर्गादास का समय १६ शती का उत्तरार्ध होना चाहिए[1]।

---

१. अन्य टीकाकारों के लिए द्रष्टव्य—डा० बेलवेलकरका 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर।'

(९) क्रमदीश्वर अथवा जौमर व्याकरण

क्रमदीश्वर नामक वैयाकरण ने बालबोध के निमित्त **संक्षिप्तसार** नामक एक व्याकरण रचा जिसके मुख्य भाग में तो संस्कृतभाषा का व्याकरण है और अन्तिम परिच्छेद में प्राकृत का भी व्याकरण है। फलतः क्रमदीश्वर ने हेमचन्द्र को व्याकरण लिखने में आदर्श माना। जैसे नाम से पता चलता है यह पाणिनीय व्याकरण का ही संक्षेप प्रस्तुत करता है। इन्होंने सात पादों में पाणिनीय की ही सामग्री का नये ढंग से व्यवस्थापन किया। क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण ग्रन्थ पर स्वोपज्ञवृत्ति का भी निर्माण किया जो **रसवती** नाम से प्रख्यात है। इनका समय १२५० ई० के आसपास है।

जुमरनन्दी ने रसवती का शोधन किया। इस व्याकरण के परिष्कार के लिए जुमरनन्दी का प्रयास इतना श्लाघनीय माना जाता है कि यह व्याकरण सम्प्रदाय ही उन्हीं के नाम से जौमर के अभिधान से विश्रुत हो गया। रसवती की पुष्पिका बतलाती है कि जुमरनन्दी महाराजाधिराज थे, परन्तु कब तथा कहाँ ? इस प्रश्न का उत्तर उपलब्ध नहीं है।

गोयीचन्द्र (समय १४५० ई० लगभग)—इस व्याकरण-सम्प्रदाय के मुख्य टीकाकार तथा परिशिष्टकार हैं। इन्होंने सूत्रपाठ, उणादि तथा परिभाषा पाठ पर व्याख्यायें लिखी हैं। इनकी सूत्रपाठ की वृत्ति नितान्त प्रख्यात है और उसका उल्लेख मान्य वैयाकरणों ने किया है।

पीताम्बर शर्मा (समय १५०० ई०–१५२५ ई० लगभग) ने 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें क्रमदीश्वर के व्याकरण का सार बालकों के आरम्भिक शिक्षण के लिए उपन्यस्त किया गया। पीताम्बर अपने युग के प्रख्यात वैयाकरण थे, क्योंकि इनके मत का उल्लेख भट्टधनेश्वर ने अपने टीकाग्रन्थ-सारस्वत-प्रदीप—में किया है। इस ग्रन्थ का हस्तलेख इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के सूचीपत्र में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त डा० बेलवेलकर ने इन ग्रन्थकारों को गोयीचन्द्र की व्याख्या पर टीकाकर्ता बतलाया है—

न्याय पञ्चानन, तारक पञ्चानन, चन्द्रशेखर विद्यालंकार, वंशीवादन, हरिराम तथा गोपाल चक्रवर्ती (कोलब्रूक के द्वारा उल्लिखित होने से इनका ससय १९ शती का प्रथम चरण होना चाहिए) यह व्याकरण आजकल बंगाल में ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। प्राचीनकाल में इसकी स्थिति क्या थी ? कहा नहीं जा सकता।

(१०) सुपद्म व्याकरण

पद्मनाभदत्त ने 'सुपद्म' नामक संक्षिप्त व्याकरण का प्रणयन किया। ये मैथिल ब्राह्मण थे। ये उणादि-पाठ की वृत्ति में अपना 'सुपद्मनाभ' तथा अपने पिता का

नाम दामोदरदत्त देते हैं[1]। व्याकरण का नाम ग्रन्थकार के नाम्ना अभिधीयमान सुपद्म ही है। इनका समय १४ शती का अन्तिम चरण है। इन्होंने पाणिनि-प्रक्रिया को पुनः व्यवस्थित तथा पुनर्वर्गीकृत किया है। इन्होंने पाणिनीय पारिभाषिक शब्दों तथा तत्सम्बद्ध अन्य नामों का भूरिशः प्रयोग किया है। इन्होंने परिभाषावृत्ति के अन्त में स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिससे इनका व्याकरण तथा काव्यकला में निष्णात होना सिद्ध होता है। इनके व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ ये हैं—(१) सुपद्म-पञ्जिका (यह इनकी व्याकरण पर स्वोपज्ञ वृत्ति है) (२) प्रयोगदीपिका (३) धातु कौमुदी, (४) उणादिवृत्ति, (५) परिभाषावृत्ति, (६) यङ्लुग्वृत्ति। इतर ग्रन्थों का नाम यह है—(७) भूरिप्रयोग कोश; (८) आचार-चन्द्रिका (धर्म-शास्त्र); (९) छन्दोरत्न (छन्दःशास्त्र), (१०) आनन्दलहरी (माघ काव्य की टीका) तथा (११) गोपाल चरित (काव्य)। ये परम वैष्णव थे। उणादिवृत्ति के आरम्भ में गोपीजन-वल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण को इन्होंने प्रणाम किया है जिससे इनकी वैष्णवता स्पष्टतया अनुमेय है।

इस सम्प्रदाय के कतिपय ग्रन्थकारों का भी परिचय मिलता है। विष्णुमिश्र, श्रीधरचक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा काशीश्वर सूत्रपाठ के टीकाकार हैं जिनमें विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द नाम्नी टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। रामनाथ सिद्धान्त ने सुपद्म की परिभाषावृत्ति पर अपनी टीका लिखी थी। अनेक ग्रन्थ अभी तक हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं, अभी प्रकाशित होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं है। इस सम्प्रदाय का प्रचलन बंगाल के ही किन्हीं भागों में सीमित है। फलतः प्रान्तीय प्रख्याति से अधिक इस सम्प्रदाय को प्रसिद्धि नहीं हो सकी।

गौडीय वैष्णवों तथा शैवों ने स्वसम्प्रदायानुसारी व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। इनमें रूपगोस्वामी (१६ शती) ने हरिलीलामृत व्याकरण का निर्माण किया जिसमें समग्र पारिभाषिक शब्दावली कृष्णमत से सम्बद्ध है। जैसे 'स्वर' के लिए कृष्ण नाम का प्रयोग यहाँ किया गया है। प्रबोधप्रकाश (१५ शती) नामक वैयाकरण ने अपने व्याकरण ग्रन्थ में शैवधर्म से सम्बद्ध नामावली का प्रयोग किया। इस प्रकार धार्मिक परिवेश में संस्कृत के शिक्षण का यह समुद्योग अपनी शैली में नितरां अनुपम है।

---

१. बुधैरुणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो
मनीषि-दामोदरदत्त-सूनुना।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं
विधिः समग्रः सुगमं समस्यते॥

ऊपर हमने भोज-व्याकरण के नाम से एक नवीन व्याकरण-सम्प्रदाय की चर्चा की है, वस्तुतः उस व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। परन्तु भोज-व्याकरण के नाम से भी संस्कृत का एक नवीन व्याकरण ग्रन्थ लिखा गया था। लेखक का नाम है विनयसागर उपाध्याय जो अंचलगच्छाधिराज कल्याणसागर सूरीश्वर के शिष्य थे। विनयसागर ने अपने आश्रयदाता, सौराष्ट्र की राजधानी भुजनगर (भुज) के स्वामी, भारमल्ल के पुत्र, राजा भोज की तुष्टि के लिए लिखा इसे था। भोजराज की आज्ञा से ही यह नवीन व्याकरण लिखा गया था[1]। यह राजा सौराष्ट्र पर १६३१ ई० से १६४५ ई० तक शासन करता था और इसी काल के बीच 'भोज-व्याकरण' का निर्माण किया गया। भोजराज विद्वानों के आश्रयदाता थे और इन्हीं के परामर्श से अनेक विद्वानों की मण्डली ने धर्मप्रदीप नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। यह एक मान्य निबन्ध-ग्रन्थ है। भोज-व्याकरण की विशिष्टता का संकेत विनयसागर उपाध्याय ने नीचे के पद्य में किया है। इन्होंने जहाँगीर के शासन-काल में १६११ ई० में एक हस्तलेख की प्रतिलिपि की थी।

सकल - समीहित - तरणं
हरणं दुःखस्य कोविदाभरणम्।
श्री भोज - व्याकरणं
पठन्तु तस्मात् प्रयत्नेन ॥

---

१. श्री भारमल्लतनयो भुवि भोजराजो
राज्यं प्रशास्ति रिपुवर्जितमिन्द्रवन्द्यः।
तस्याज्ञया विनयसागर-पाठकेन
सत्यप्रबन्धरचिता सुतृतीयवृत्तिः ॥
—ग्रन्थ के हस्तलेख का अन्तिम पद्य।

सप्तम खण्ड

पालि तथा प्राकृत व्याकरण

(क) पालि-व्याकरण के सम्प्रदाय

यह असम्भव था कि संस्कृत-भाषा की विपुल वैयाकरण चिन्ता का प्रभाव पालिभाषा को अछूता रख सके। फलतः संस्कृत-व्याकरणों के द्वारा प्रभावित तथा वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर पालिभाषा के लिए भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण प्राचीन-काल में ही होने लगा। उद्देश्य था तथागत के वचनों का यथार्थ तात्पर्य हृदयंगम करना। और व्याकरण के साहाय्य के अभाव में यह सम्भव न था। पालि के व्याकरण ने भी 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' को अपने लिए भी मुख्य तात्पर्य स्वीकार किया। पालि व्याकरणों की यह विशेषता बड़े महत्त्व की है कि वहाँ व्याकरण के पाँच सम्प्रदाय थे—(१) बोधिसत व्याकरण, (२) कच्चायन व्याकरण, (३) सब्बगुणाकर व्याकरण, (४) मोग्गलायन व्याकरण तथा (५) सद्दनीति व्याकरण। मेरी दृष्टि में यह क्रमिक विन्यास ऐतिहासिक क्रम को लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रथम तथा तृतीय सम्प्रदाय तो सर्वदा के लिए लुप्त हो गये हैं। अवशिष्ट तीन सम्प्रदाय भारत, सिंघल तथा बर्मा में क्रमशः उद्भूत तथा पल्लवित हुए हैं। इनमें प्राचीनता तथा ग्रन्थसम्पत्ति की दृष्टि से कच्चायन व्याकरण ही सर्वाधिक महत्त्वशाली है।

कच्चायन—व्यक्तित्व

कच्चायन (संस्कृत कात्यायन) का व्यक्तित्व धुँधले अतीत को पार कर आज तक विशद आलोक में नहीं आया। कच्चायन नामधारी अनेक आचार्यों का परिचय पालि-साहित्य में मिलता है। प्राचीन परम्परा बुद्ध के मुख्य शिष्यों में से अन्यतम **महाकच्चायन** थेर को ही इस व्याकरण के रचयिता के रूप में मानती आती है। ये सिद्धान्तों के बड़े व्याख्याता तथा उत्तम वैयाकरण के रूप में नितान्त प्रसिद्ध हैं। फलतः नाम की समता के द्वारा भी पुष्ट होकर महाकच्चायन ही इस व्याकरण के मूल निर्माता माने जाते हैं। परन्तु इस परम्परा के पोषक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। बुद्धघोष ने 'मनोरथपूरणी' में कच्चायन का पूर्ववृत्तान्त वितरशः वर्णित किया है, परन्तु व्याकरण ग्रन्थ के लेखन का कहीं उल्लेख नहीं है। यदि महान् कच्चायन के द्वारा इसे निर्मित होने का तथ्य यथार्थ होता, तो यहाँ उल्लेख अवश्य-

म्भावी था। अट्ठकथा (पालि त्रिपिटक की टीका) में व्याकरण-सम्बद्ध प्रसंगों की न्यूनता नहीं है जिनमें इस शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दों का विधिवत् निर्देश है। सन्धि, व्यञ्जन, आमेण्डित (आम्रेडित), उपसग्ग, निपात आदि अनेक पारिभाषिक संज्ञायें अट्ठकथायों में उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनका संकेत इस व्याकरण की ओर न होकर किसी इतर व्याकरण-सम्प्रदाय की ओर है। पाणिनिसम्मत अनेक तथ्यों की उपलब्धि यहाँ बहुशः होती है। बुद्धघोष के द्वारा प्रदर्शित 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति अष्टाध्यायी (५।२।९३) को स्पष्ट लक्षित करती है[1]। अन्यत्र 'भगवा' शब्द की व्युत्पत्ति 'भाग्यवा' से बतला कर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० ६।३।१०९) पाणिनि सूत्र को स्पष्ट उद्धृत किया गया है[2]। फलतः अट्ठकथा का निर्देश कच्चायन व्याकरण की ओर कथमपि नहीं माना जा सकता। इसलिए इस व्याकरण के लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध महाकच्चायन थेर के साथ स्थापित करना कथमपि न्याय्य तथा सुसंगत नहीं है। न तो ये पाणिनि-सम्प्रदाय के वार्तिककार वररुचि-कात्यायन के साथ भी तादात्म्य रखते हैं। काल की भिन्नता इसमें प्रधान बाधिका है। वार्तिककार का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक है। इस तादात्म्य को मानने पर अट्ठकथा की स्थिति अव्याख्यात ही रह जाती है। फलतः इन दोनों प्रख्यात आचार्यों से कच्चायन का व्यक्तित्व कथमपि साम्य अथवा तादात्म्य धारण नहीं कर सकता।

कच्चायन व्याकरण

पालि का सर्व-प्राचीन यह व्याकरण सूत्रबद्ध है। इसके सूत्रों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। 'न्यास' में सूत्रों की संख्या ७१० बतायी गई है, परन्तु कच्चायन व्याकरण के सभी प्रामाणिक संस्करणों में सूत्रों की संख्या ६७५ दी गई है। 'न्यास' की सूत्रसंख्या सूत्रों के योगविभाग से तथा वार्तिकों के योग से निष्पन्न मानी जा सकती है। इस व्याकरण के दो नाम और मिलते हैं—(१) कच्चायनगन्ध और (२) सुसन्धिकप्प। इस द्वितीय नाम की पुष्टि ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोक से भी होती है—"वक्खामि सुत्तहितमेत्थ सुसन्धिकप्पम्"। इसके तीन अवयव हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण जिनकी रचना के विषय में प्राचीन परम्परा यों बोलती है—

> कच्चानेन कतो योगो, वुत्ति च सङ्घनन्दिनो।
> पयोगो ब्रह्मदत्तेन, न्यासो विमलबुद्धिना॥

१–२. द्रष्टव्य—कच्चायन व्याकरण की भूमिका, पृ० ५३, (काशी सं० सन् १९६२)।

फलतः कच्चायन-रचित सूत्र, (योग), सङ्घनन्दि की वृत्ति तथा ब्रह्मदत्त-निर्मित उदाहरणों से सम्पन्न इस व्याकरण ग्रन्थ पर कालान्तर में विमलबुद्धि ने 'न्यास' नामक भाष्य लिखा।

इस व्याकरण के चार भाग हैं और प्रतिभाग में अनेक काण्ड हैं। सन्धिकप्पो, नामकप्पो, आख्यात कप्पो, किब्बिधान कप्पो—इन चार भागों में काण्ड हैं क्रमशः पाँच, आठ, चार तथा छः। इस प्रकार २३ काण्डों में विभक्त यह ग्रन्थ पालि के समग्र व्याकरण को एकत्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। नामकप्पो में कारक, समास और तद्धित का विवरण एक-एक काण्ड में क्रमशः है। अन्तिम खण्ड में कृत् प्रत्ययों का विशेष विधान उपलब्ध है। 'धातु मंजूषा' जिसमें पालि के धातुओं का गणानुसारी वर्गीकरण तथा संकलन है इसका सहायक ग्रन्थ है। संस्कृत का कौन व्याकरणसम्प्रदाय इसका प्रेरक है? इन प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् पाणिनि का ही इस पर विशेष भाव मानते हैं, परन्तु कतिपय सूत्रों को प्रभावित करने के अतिरिक्त पाणिनि का महत्त्व यहाँ अधिक नहीं है। कातन्त्र व्याकरण का सार्वभौम प्रभाव यहाँ निःसन्देह अधिकतर तथा व्यापक है। यह प्रभाव दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—प्रकरणों के निर्माण में तथा सूत्रों के स्वरूप में। कातन्त्र व्याकरण के चार प्रकरणों के आधार पर ही यहाँ प्रकरण-चतुष्टय का तद्वत् विषयानुसारी सन्निवेश है। सूत्रों का साम्य तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कातन्त्र-व्याकरण के सैकड़ों सूत्रों की छाया लेकर कात्यायन ने अपने पालिसूत्रों का प्रणयन किया है[1]। दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे। कच्चायन ने 'रक्खणत्थानमिच्छितं' (सूत्र संख्या २७५) सूत्रद्वारा अपादान का तथा 'कालभावेसु च' (सूत्र संख्या ३१५) सूत्र के द्वारा सप्तमी का विधान किया है। ये सूत्र क्रमशः कातन्त्र के 'इप्सितं च रक्षार्थानाम्' (२।४।६) तथा 'कालभावयोः सप्तमी' (२।४।३४) सूत्रों के अक्षरशः अनुवाद हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में संस्कृत व्याकरण का शास्त्रीय विवेचन है, कातन्त्र में व्याहारिक संस्कृत का ही विवरण है। फलतः कच्चायन ने व्यवहारानुकूल कातन्त्र को ही अपना आदर्श मान कर उसका ही आश्रयण किया है।

काल—इस व्याकरण का रचनाकाल अनुमानतः साध्य है। बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धर्मपाल के द्वारा अट्ठकथाओं में उल्लेखाभाव से यह षष्ठ शतक से पूर्ववर्ती कथमपि नहीं हो सकता। इस व्याकरण के ऊपर कालान्तर में निर्मित भाष्यरूप न्यास की व्याख्या न्यासप्रदीप में की गई है जिसे बर्मा के प्रख्यात भिक्षु 'छपद' ने १२वीं

---

१. विशेष द्रष्टव्य कच्चायन व्याकरण (पृ० ४४३–४४७) काशी संस्करण १९६२।

शती के अन्त में निबद्ध की थी। फलतः 'न्यास' का समय दशमशती मानना उचित है। अतएव बुद्धघोष तथा न्यास के मध्यवर्ती काल में इसको रचना सम्पन्न हुई थी—लगभग सप्तम शती में। काशिका वृत्ति के द्वारा प्रभावित होने पर भी समय के इस निरूपण में कथमपि विप्रपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, क्योंकि काशिका की रचना का काल षष्ठशती का प्रारम्भ ऊपर निश्चित किया गया है।

कच्चायन सम्प्रदाय के ग्रन्थ

संस्कृत व्याकरण की टीका-प्रटीका वाली शैली पालि साहित्य में भी विद्यमान है। इस सम्प्रदाय में विपुल ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा व्याख्या-ग्रन्थों का ही बाहुल्य है। प्रसिद्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(क) कच्चायन न्यास—इसके प्रणेता विमलबुद्धि के देशकाल का इदमित्थं निर्देश उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् इन्हें सिंघली मानते हैं, तो अन्य बर्मी। इसकी न्यासप्रदीप नाम्नी व्याख्या बर्मी भिक्षु छपद ने लिखी १२ वीं शती के अन्त में। फलतः विमलबुद्धि का समय सप्तम तथा एकादश शतियों के मध्य में कभी मानना चाहिए। यह बड़ी ही प्रामाणिक, प्रमेयबहुल तथा मर्मोद्घाटिनी व्याख्या मानी जाती है। सूत्रों का रहस्य विस्तार से यहाँ विवृत तथा विवेचित है।

(ख) सुत्तनिद्देश—मूल सूत्रों की टीका। लेखक वही बर्मी भिक्षु छपद। रचना का काल ११८१ ई० निश्चित है।

(ग) रूपसिद्धि—इसको हम कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय की 'सिद्धान्त-कौमुदी' कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ कच्चायन सूत्रों का भिन्नक्रम से प्रक्रियानुसारी संकलन है। इसके लेखक हैं बुद्धप्पिय-दीपंकर जो चोल देश के निवासी होने के कारण 'चोलिय दीपंकर' नाम्ना प्रख्यात हैं। इसकी महत्ता दिखलाने के लिए 'महारूप-सिद्धि' नाम से भी यह पुकारा जाता है। भाषा तथा शैली की दृष्टि से यह अतिगम्भीर और पूर्ण विकसित व्याकरण ग्रन्थ है। समय है १३ शती का अन्तिम भाग।

(घ) बालावतार—कच्चायन का लघु संक्षिप्त रूप। इसे सम्प्रदाय की 'लघु-कौमुदी' कहना नितान्त उपयुक्त है। लेखक हैं धम्मकित्ति तथा समय है १४ शती।

(ङ) कच्चायन वण्णना—कात्यायन सूत्रों की प्रौढ़ टीका। शैली भाष्य के समान है। सूत्रों पर सन्देह उठाकर प्रथमतः पूर्वपक्ष की प्रस्तावना है। तदनन्तर उसका विस्तृत समाधान है। बर्मा के प्रख्यात भिक्षु महाविजितावी ने १७वीं शती के आरम्भ में इसका प्रणयन किया। सूत्रों के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(च) **धातु-मंजूषा**—इसके रचयिता सीलबंस ने पालि की धातुओं का पद्यबद्ध संकलन किया हैं जो आख्यातों का स्वरूप-निर्देशक होने से विशेष उपयोग रखता है।

इस व्याकरण में बहुत-सी एकाक्षरी पारिभाषिक संज्ञायें निर्दिष्ट हैं जिनके आधार खोजने की आवश्यकता है। यथा सम्बोधन के अर्थ में सि (प्रथमा) विभक्ति की 'ग' संज्ञा होती है (सू० ५७); इवर्ण तथा उवर्ण की क्रमशः झ और ल संज्ञायें होती हैं (सू० ५८); इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की प संज्ञा होती है (सू० ५९) आदि-आदि। इस प्रकार पारिभाषिक संज्ञाओं की कल्पना से लघ्वक्षर सूत्रों के स्वरूप की पूर्ण रक्षा हो जाती है और इसीलिए ये मान्य हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भी सत्ता इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

(छ) **सम्बन्ध चिन्ता**—पदों के पुञ्ज को वाक्य कहते है जिसमें आने वाले पदों का पारस्परिक सम्बन्ध रहता है। क्रिया-कारक के इन सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया। इसके रचयिता है संघरक्षित थेर। इसका रचनाकाल सुत्तनिद्देस के समय में अर्थात् १२ वीं शती के उत्तरार्ध के आसपास माना जाता है। इस गद्य-पद्यमय ग्रन्थ में गद्यभाग ही पद्यभाग की अपेक्षा अधिक है।

(ज) **कारिका**—धम्म सेनापति ने बरमा के राजा अनोरत के पुत्र के शासन-काल में 'कारिका' नामक इस व्याकरणग्रन्थ का निर्माण किया। रचना का समय ११ वीं शती है। इन कारिकाओं का आधार कच्चायन का व्याकरण है। कारिकाओं की संख्या ५६८ है। ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने व्याकरण से सम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों का भी संकलन किया है जैसे शब्द-विविश्चय, शब्दानुशासन-विनिश्चय आदि। लेखक ने इसके ऊपर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है।

(झ) **सद्दत्थभेदचिन्ता**—(= शब्दार्थभेदचिन्ता)। ग्रन्थ के लेखक हैं बरमा के थेर सद्धम्मसिरि जो १२ शताब्दी के अन्तिम चरण में वर्तमान माने जाते हैं। ग्रन्थ का मुख्य विषय है शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन। इस प्रकार यह ग्रन्थ 'सम्बन्धचिन्ता' का पूरक ग्रन्थ माना जा सकता है। दोनों का रचनाकाल भी प्रायः समसामयिक है।

इससे लगभग दो शताब्दी पीछे लिखा गया ग्रन्थ (ञ) **सद्द-सारत्थ-जालिनी** विषय की दृष्टि से और भी प्रौढ तथा विशद विवरण प्रस्तुत करता है। ५१६ कारिकाओं में निर्मित इस ग्रन्थ में व्याकरण के तात्त्विक विषयों के विवेचन के संग में शब्द, अर्थ, सन्धि, तद्धित, आख्यात आदि जैसे पारिभाषिक शब्दों का भी विवरण उपलब्ध होता है। फलतः पालिव्याकरण की समग्रता की दृष्टि से यह निःसन्देह महत्त्वशाली है। रचयिता है भदन्त 'नागित' थेर तथा रचना का काल है १४ शती। इसी युग के (ट) **कच्चायन भेद** की ख्याति कम नहीं है। बरमा के भिक्षु महायस की यह रचना आधारित है

कच्चायन के व्याकरण पर ही, परन्तु सूत्रबद्ध न होकर कारिकाबद्ध है। १७८ कारिकायों में निबद्ध इस ग्रन्थ पर सारत्थ-विकासिनी तथा कच्चायनभेद-महाटीका नाम्नी टीकायें अत्यन्त विश्रुत हैं। इतना ही नहीं, महायस ने ही कच्चायन के सार-संकलन निमित्त (ठ) कच्चायनसार नामक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन किया। कारिकाओं की संख्या केवल बहत्तर ७२ ही है, परन्तु इतने ही में कच्चायन के विषयों का सार प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें बालावतार, रूपसिद्धि, तथा सम्बन्ध-चिन्ता आदि ग्रन्थों से उद्धरण वर्तमान हैं। ग्रन्थकार ने इसे स्वोपज्ञ टीका से भी विभूषित किया जो आजकल उपलब्ध 'कच्चायनसार-पोराणटीका' से अभिन्न मानी जाती है (डा० गाइगर के मत से)। इस पर एक दूसरी व्याख्या भी है 'सम्मोह-विनाशिनी' नाम्नी भिक्षु सद्धम्मविलास की रचना, जिससे ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि थाटोन (बरमा) के निवासी महायस का पालि-व्याकरण को लोकप्रिय बनाने में विशेष हाथ रहा है।

इनके अतिरिक्त छोटे-मोटे ग्रन्थों की भी उपलब्धि होती है। जैसे बरमा के किसी राजा द्वारा रचित सद्दबिन्दु (२० कारिकाओं में), महाविजितावी रचित वाचकोपदेश (गद्यपद्य मिश्रित ग्रन्थ) तथा सिरि सद्धम्मालंकारकृत 'अभिनवचूल निरुत्ति' (कच्चायन-सूत्रों के अपवाद का विवरण)। परन्तु कच्चायनवण्णना की प्रौढता तथा विशदता का दर्शन कम ही ग्रन्थों में होता है। शैली इसकी भाष्यानुसारिणी है जिसमें पूर्वपक्ष का विन्यास तथा समाधान देकर सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन है। लेखक की जागरूकता तथा वैदुषी की यह पहिचान है कि वह स्वसम्प्रदायी 'न्यास' तथा 'रूप सिद्धि' के मतों पर ही विमर्श नहीं करता, प्रत्युत परसम्प्रदायी 'सद्दनीति' के सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है। ग्रन्थ के आरम्भ में कच्चायन व्याकरण की उत्पत्ति तथा ग्रन्थ के प्रणेता कच्चायन पर भी विवेचना कर लेखक ने अपने व्यापक दृष्टि का प्रमाण उपस्थित किया है।

(२) मोग्गलान व्याकरण

पालि के प्रौढ व्याकरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक होने की दृष्टि से मोग्गलान पालि-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सिंहल के राजा पराक्रम बाहु (११५३ ई०–११८६ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। मोग्गलान महाथेर अपने समय के संघराज थे। ये लंका के प्रख्यात नगर अनुराधपुर के थूपाराम विहार में रहते थे और सम्भवतः यह व्याकरण वहीं लिखा गया होगा—यह अनुमान करना स्वाभाविक है। यह व्याकरण सूत्रों में निबद्ध है और सूत्रों की संख्या ८१७ है। यह पूर्ण पञ्चाङ्ग व्याकरण है अर्थात् सूत्रों के अतिरिक्त, धातुपाठ, गणपाठ, ण्वादि

(उणादि-पाठ) तथा नामलिङ्गानुशासन भी उपलब्ध होता है। इस समग्रता का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में लेखक द्वारा किया गया है—

सुत्त-धातु-गणो-ण्वादि-नामलिङ्गानुसासनं,
यस्स तिट्ठति जिह्वग्गे सो व्याकरणकेसरी।

सूत्रपाठ ६ काण्डों में विभक्त है—सञ्ञादिकण्डो, स्यादिकण्डो, समासकण्डो, णादिकण्डो, खादिकण्डो तथा त्यादिकण्डो। केवल ८१७ सूत्रों के द्वारा पालिभाषा का विशद व्याकरण प्रस्तुत करना सचमुच ही श्लाघनीय व्यापार है। धातुओं की संख्या साढ़े पाँच सौ के लगभग है। वे नवगणों में विभक्त हैं, परन्तु इन गणों का क्रम पाणिनीय पद्धति से भिन्न तथा पृथक् है। यहाँ स्वीकृत नवगणों के नाम हैं—(१) भ्वादि, (२) रुधादि, (३) दिवादि, (४) तुदादि, (५) ज्यादि, (६) क्यादि, (७) स्वादि, (८) तनादि तथा (९) चुरादि। पाणिनीय क्रम से कुछ भिन्नता यहाँ रखी गई है। गणपाठ तथा उणादि पाठों की सत्ता इस व्याकरण के वैशद्य का सूचक है[1]।

ग्रन्थ-सम्पत्ति

(१) मोग्गलान ने सूत्रों के ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी और इस वृत्ति पर अपनी पंचिका (व्याख्या) भी[2]। वृत्ति तो पहले ही उपलब्ध थी, परन्तु 'पञ्चिका' का उद्धार सिंहल के धर्मानन्द महास्थविर ने अभी हाल में ही किया है। ताडपत्र पर लिखी एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर अश्रान्त परिश्रम कर उन्होंने इस महनीय ग्रन्थ का वैज्ञानिक तथा विशद संस्करण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मूल लेखक के

---

१. इन पाँचों अंगों के लिए द्रष्टव्य जगदीश काश्यप रचित पालि-महाव्याकरण (द्वितीय सं०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३) यह महाव्याकरण मोग्गलान के सूत्रों को लेकर निर्मित है। फलतः मोग्गलान के ज्ञान के लिए विशेष उपयोगी है।

२. वृत्ति तथा पंजिका के भीतर विद्यमान पार्थक्य को राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में दिखलाया है। सूत्राणां सकलसार-विवरणं वृत्तिः। विषमपद-भञ्जिका पञ्जिका (द्वितीय अध्याय) वृत्ति में सूत्रों के सार-संकलन पर आग्रह होता है। और पञ्जिका में विषम पदों को तोड़कर अलग कर देने पर निष्ठा होती है। वृत्ति अर्थ के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त होती है, तो पञ्चिका विषम पदों के अर्थ-प्रतिपादन के लिए अग्रसर होती हैं। फलतः पञ्जिका आकार मे विपुल तथा अर्थ-विवरण में गम्भीर होती है।

द्वारा ही स्वोपज्ञ वृत्ति तथा पञ्चिका के निर्माण के कारण यह व्याकरण इतना पुष्ट तथा पूर्ण है। मोग्गलान ने पाणिनि तथा कातन्त्र के अतिरिक्त चन्द्रगोमी से भी पर्याप्त सहायता ली है जिससे ग्रन्थ में इतनी प्रौढि आ गई है।

(२) **पद-साधन**—मोग्गलान के ही शिष्य पियदस्सी (प्रियदर्शी) ने इसकी रचना की है जो कच्चायन-मतानुसारी 'बालावतार' की भाँति मोग्गलान व्याकरण का संक्षेप है।

(३) **प्रयोगसिद्धि**—प्रयोगों को ध्यान में रखकर वनरतन महाथेर ने इसका निर्माण किया कच्चायन सम्प्रदायी रूपसिद्धि के समान ही। समय १३ शती के लगभग।

(४) **पञ्जिका-प्रदीप**—यह ग्रन्थ मोग्गलान की 'पञ्चिका' की ही सिंहलीभाषा में अत्यन्त प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। 'पञ्चिका' के प्रकाशन से पूर्व यही ग्रन्थरत्न शास्त्रीय विवरणों का प्रतिपादक एकमात्र ग्रन्थ था। आज पंजिका प्रकाशित है, तथापि इस प्रदीप का महत्त्व कथमपि न्यून नहीं है। प्रदीप के रचयिता राहुल 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। वे 'षड्भाषा-परमेश्वर' की उदात्त पदवी से भी सम्मानित हैं। फलतः उनका यह सिंहली ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, गम्भीर तथा व्याकरणतत्त्वों का विशिष्ट प्रतिपादक है। प्रदीप का रचनाकाल १४५७ ई० माना जाता है। इन्होंने बुद्धिप्पसादनी टीका भी निर्मित की थी।

इनके अतिरिक्त पालि-व्याकरण से सम्बद्ध महनीय ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—संघराज श्री सारिपुत्र रचित 'पदावतार'; संघराज संघरक्खित महाथेर कृत सुसद्दसिद्धि; सम्बन्ध-चिन्ता; तथा सारत्थविलासिनी। यह ग्रन्थसम्पत्ति पालि-व्याकरण के महत्त्व की पर्याप्त परिचायिका है।

(३) सद्दनीति व्याकरण

सद्दनीति व्याकरण को हम पालिभाषा का तृतीय तथा सर्वापेक्षया परिबृंहित सम्प्रदाय मानते हैं। इस ग्रन्थ की रचना मोग्गल्लान व्याकरण के समकालीन है। यह बर्मा के बौद्ध पाण्डित्य का अप्रतिम निदर्शन है। बर्मी भिक्षु अग्गवंस ने ११५४ ई० में इसका निर्माण किया। ये बर्मा के प्रभावशाली राजा 'नरपति सिथु' के गुरु थे। अग्गवंस बर्मा के ही मूल निवासी थे। इस व्याकरण की रचना कर उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की अवतारणा की जो आज भी बर्मी पाण्डिय का निकष-ग्रावा है। आधारित है यह कच्चायन पर ही, परन्तु अपने वैशद्य तथा विस्तार के कारण यह 'थेरवाद के अक्षय भण्डार' की उपाधि से मण्डित किया जाता है। यह

ग्रन्थ पूर्व दोनों सम्प्रदायों से विशेष समृद्ध तथा पूर्ण माना जाता है। और यह प्रसिद्धि नितान्त यथार्थ है। इसके तीन भाग हैं—(क) 'पदमाला' (विवरण है पदों का), (ख) धातुमाला (धातु तथा तन्निष्पन्न शब्द), (ग) सुत्तमाला (समस्त पालि-व्याकरण का व्याख्यान)। सुत्तमाला में १३९१ (एक सहस्र तीन सौ एकानबे) सूत्र है जो पूर्ववर्ती दोनों व्याकरण के सम्मिलित सूत्रों की संख्या के बराबर है। यह व्याकरण सिंघली सम्प्रदाय से पूर्ण स्वतन्त्र रह कर अपनी विशिष्ट शैली पर विकसित हुआ है जिसमें बर्मा के पालि-पाण्डित्य का निदर्शन पदे-पदे उपलब्ध होता है। इस सम्प्रदायकी धातुओं का संकलन पद्यों में किया गया है। इसके रचयिता बरमी भिक्षु 'हिंगुलवल जिनरतन' हैं। ग्रन्थ का नाम धात्वत्थदीपनी है।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण से प्रेरणा तथा उत्साह ग्रहण कर पालि का यह व्याकरण-सम्प्रदाय अपने दृष्टिकोण तथा व्यापक पाण्डित्य के लिए सर्वदा स्मरणीय रहेगा[1]।

(ख) प्राकृत-व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के आधार पर प्राकृत भाषा के नियमों के परिज्ञान के निमित्त प्राकृत व्याकरणों का निर्माण हुआ। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति है 'प्रकृति से निष्पन्न भाषा' और यहाँ प्रकृति से तात्पर्य संस्कृत-भाषा से है। फलतः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' यह कथन प्रत्येक व्याकरणकर्ता को मान्य था, चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे जैन। जैन-धर्म के मूल ग्रन्थों को आर्ष प्राकृत में निबद्ध होने पर भी प्राकृतज्ञ जैन विद्वान् संस्कृत को प्राकृत के मूल मानने में पूर्ण आस्था रखता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तीन प्रकार ही विशेष रूप से उपलब्ध हैं—महाराष्ट्री (पद्यों में), शौरसेनी (गद्य में) तथा मागधी (नीच पात्रों के भाषण में)। इनके अतिरिक्त पैशाची-भाषा की भी स्थिति मानी जाती है। महावीर स्वामी के उपदेश 'अर्धमागधी' में निबद्ध हैं जिन्हें 'आर्ष प्राकृत' की भी संज्ञा प्राप्त है। प्राकृत की 'विभाषा' भी अनेक हैं जिनमें आवन्ती, टाक्की, शकारी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ये नाटकों के विभिन्न पात्रों के लिए ही स्वीकृत की गई हैं। 'विभाषा' का अर्थ शिथिल नियमों से सम्पन्न प्राकृत भी

---

१. 'कच्चायन व्याकरण' का बड़ा ही वैज्ञानिक संस्करण पण्डित लक्ष्मीनारायण तिवारी ने परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है (प्र० तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६२)। इसके आरम्भ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना पर ऊपर का विवरण आधारित है जिसके लिए यह लेखक उनका विशेष आभार मानता है।

माना जाता है। अनेक विभाषाओं का प्रयोग 'मृच्छकटिक' प्रकरण में विशेषरूप से मिलता है।

प्राकृत भाषा के विभिन्न भेदों के वर्णन के लिए हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में बड़ी उपयोगी सामग्री दी है। देश भर में राष्ट्र-भाषा के रूप में व्याप्त होने वाली प्राकृत निःसन्देह महाराष्ट्री ही थी। 'महाराष्ट्री' का अर्थ कुछ पण्डित लोग महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा न मानकर पूरे भारत के महान् राष्ट्र की भाषा मानते हैं। इसीलिए महाराष्ट्री का विवरण विस्तार से प्रत्येक प्राकृत व्याकरण में मिलना स्वाभाविक है। हेमचन्द्र ने शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका-पैशाची के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया है। **मार्कण्डेय कवीन्द्र** का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने भाषा के साथ विभाषाओं का भी वर्णन किया है। भाषायें तो हेमचन्द्र-सम्मत ही हैं। विभाषाओं में नवीनता है। प्राच्या, आवन्ती तथा अर्धमागधी का उल्लेख भाषा के प्रसंग में है। शकारी, चाण्डाली, आभीरी तथा औड्री के साथ शाबरी, टाक्की, नागर तथा उपनागर अपभ्रंश तथा पैशाची का भी विवरण दिया गया है। विभाषाओं के लिए उदाहरण 'मृच्छकटिक' से अधिकतर दिया गया है। पता नहीं चलता कि इनके लिए मार्कण्डेय के पास कोई इतर ग्रन्थ भी प्रस्तुत था या नहीं। प्रतीत यही होता है कि मार्कण्डेय एक बुद्धिमान् संग्रहकर्ता थे। मृच्छकटिक की ही भाषा का विश्लेषण कर उन्होंने नई विभाषाओं की भी कल्पना प्रस्तुत की है। जैसे शकार जैसा पात्र तो इस प्रकरण से अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः 'शकारी' का क्षेत्र नितान्त संकुचित है। 'पैशाची' के लक्षण का तो हमें परिचय मिलता है, परन्तु उसके उदाहरणों की यथार्थता में हमें पूरा सन्देह है।

प्राकृत वैयाकरणों में दो ही मुख्य हैं—**वररुचि** तथा **हेमचन्द्र**, परन्तु वररुचि से पूर्व काल में तथा हेमचन्द्र से अवान्तर काल में भी अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। प्राकृत व्याकरणों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ का नाम है **प्राकृतलक्षण**[1] जिसे चण्ड (या चन्द्र) ने प्रस्तुत किया था। यह ९९ या १०३ सूत्रों में निबद्ध है और इस प्रकार उपलब्ध व्याकरणों में संक्षिप्ततम है। ग्रन्थ के आदि में वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम तथा उदाहरणों में अर्हन्त (सूत्र २४ और ४६) तथा जिनवर (सू० ४८) का उल्लेख लेखक को जैन सिद्ध करता है। इसमें सामान्य प्राकृत का निरूपण किया गया है जो अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा वर्णित प्राकृत के मध्ययुग की बोली थी। वह अश्वघोष तथा भास के प्राकृत से साम्य

---

१. डा० हानर्ले द्वारा बिब्लिओथिका इण्डिया (कलकत्ता) में प्रकाशित १८८० तथा नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा हिन्दी अनुवाद से युक्त 'आर्ष, प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रकाशित, १९१३।

रखती है। इसीलिए इसका समय ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नहीं। प्राकृत-लक्षण चार पादों में विभक्त है जिनके द्वारा वर्ण-परिवर्तन, रूपसिद्धि आदि का संक्षिप्त विवरण है। अन्त में चार सूत्र मिलते हैं जिनमें क्रमशः अपभ्रंश, पैशाची, मागधिका तथा शौरसेनी का मुख्य लक्षण एक-एक सूत्र में दिया गया है। इसमें वर्णित सामान्य प्राकृत को अनेक विद्वान् जैन धर्म ग्रन्थों को भाषा स्वीकार करते हैं।

वररुचि

चण्ड के लगभग दो शताब्दियों के अनन्तर **वररुचि** ने अपने **प्राकृतप्रकाश** की रचना की जो प्राकृत-भाषा का सर्वोत्तम लोकप्रिय व्याकरण ग्रन्थ है। प्रख्यात आलंकारिक भामह (५ शती) द्वारा वृत्ति (मनोरमा) लिखने के कारण प्राकृत-प्रकाश का रचनाकाल चतुर्थशती में मानना उचित प्रतीत होता है। इसमें १२ परिच्छद हैं जिनमें आरम्भिक नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का (यद्यपि यह नाम ग्रन्थ में निर्दिष्ट नहीं है), दसवें में पैशाची का, इग्यारहवें में मागधी का और अन्तिम बारहवें में शौरसेनी का व्याकरण वर्णित है। वररुचि के अनुसार मूल प्राकृत महाराष्ट्री ही है और इसीलिए उसका व्याकरण—स्वरविधान, व्यञ्जन परिवर्तन, सुबन्त तथा तिङन्त-साङ्गोपाङ्गरूपेण विवृत किया गया है। अन्य प्राकृतों का परिचय नितान्त सामान्य है। प्राकृतप्रकाश में वर्णित भाषा की परीक्षा उसे पौरस्त्य सम्प्रदाय (पूर्वी प्राकृत स्कूल) से सम्बद्ध सिद्ध करती है। फलतः इसके लेखक वररुचि संस्कृत के वार्तिककार कात्यायन-वररुचि से सर्वथा भिन्न हैं जो दाक्षिणात्य माने जाते हैं। प्राकृतप्रकाश की अनेक टीकाओं से मण्डित होने का श्रेय हैं जिनमें भामह का **मनोरमा**[१] वृत्ति (गद्यमयी), कात्यायन की **मञ्जरी**[१] वृत्ति (पद्यमयी), सञ्जीवनी[२] तथा सुबोधिनी[२] मुख्य है। इस टीका-सम्पत्ति से भी ग्रन्थ की महिमा और लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

पौरस्त्य प्राकृत व्याकरण की परम्परा के अन्तर्गत अनेक वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। लंकेश्वर या रावण नामक किसी व्यक्ति ने **प्राकृतकामधेनु** की रचना की, जिसका मंगलश्लोक इसे किसी विस्तृत ग्रन्थ का संक्षेप बतलाता है।

---

१. मनोरमा तथा मंजरी के साथ प्राकृतप्रकाश का सम्पादन कलकत्ते से हुआ है। सम्पादक वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय; प्रकाशक एस० के० लाहिरी कम्पनी, कलकत्ता १९१४ (बँगला अनुवाद के साथ)।

२. संजीवनी तथा सुबोधिनी का सम्पादन पं० बटुकनाथशर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने किया है। —सरस्वती भवन सीरीज, काशी १९२५। इस ग्रन्थ का परिवर्धित संस्करण अभी उसी सीरीजमें पं० बलदेव उपाध्याय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है (१९६९)।

यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है केवल ३४ सूत्रों का, जिनमें बहुत से सूत्र अस्पष्ट तथा दुरूह हैं। ११ वाँ सूत्र अ के स्थान पर उ का परिवर्तन बतला कर अपभ्रंश की ओर संकेत कर रहा है। समय का निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता। इस सम्प्रदाय का द्वितीय ग्रन्थ बंगाल के निवासी पुरुषोत्तम का **प्राकृतानुशासन** १२ वीं शती की रचना माना जाता है। आरम्भ के दो अध्यायों का अभाव है। तृतीय अध्याय अपूर्ण है। ग्रन्थ २० अध्यायों में समाप्त होता है। नवम अध्याय में शौरसेनी, दशम में प्राच्या, ११वें में अवन्ती, १२वें में विवृत मागधी-भाषायें हैं। विभाषाओं में शकारी, चाण्डाली, शाबरी और टाक्की के नियम दिये गये हैं। अनन्तर अपभ्रंश में नागरक, व्राचड, उपनागर के विवेचन के अनन्तर कैकेय पैशाचिक तथा शौरसेन पैशाचिक के लक्षण दिए गये हैं। इस ग्रन्थ का मूल्य विभाषा तथा अपभ्रंश के विविध प्रकारों के प्रतिपादन में हैं। इसी पर आधारित है रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य का प्राकृत-कल्पतरु[1]। पुरुषोत्तम के समान ये भी बंगाल के निवासी थे। समय लगभग १७वीं शती। प्राकृतकल्पतरु के तीन अध्यायों (शाखाओं) में प्राकृत की भाषा, विभाषा तथा अपभ्रंश के विविध भेदों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। प्रथम शाखा (दश स्तबक) में महाराष्ट्री का साङ्गोपांग विवरण दिया गया है। द्वितीय शाखा (तीन स्तवक) में शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, बाह्लीकी, मागधी, अर्धमागधी तथा दाक्षिणात्या का विवेचन है। तृतीय शाखा में नागर अपभ्रंश व्राचड अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है। यहाँ पैशाचिक के अत्यन्त विचित्र भेद देशों के आधार पर कल्पित किए गये हैं जैसे कैकय, शौरसेन, पञ्चाल, गौड, मागध तथा व्राचड पैशाचिक। रामशर्मा का यह प्राकृत व्याकरण कल्पना के ऊपर खड़ा किया गया प्रतीत होता है। सब नियम लक्ष्य ग्रन्थों के ही आधार पर निर्मित किए गये हैं—ऐसा कहना संशय से शून्य नहीं है।

प्राकृतसर्वस्व

इस परम्परा में मार्कण्डेय कवीन्द्र का **प्राकृतसर्वस्व**[2] बड़ा ही लोकप्रिय, उपादेय तथा आकर्षक ग्रन्थ है। उडीसा के निवासी मार्कण्डेय राजा मुकुन्ददेव के समय में

---

१. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९५४) साथ में प्राकृतकामधेनु तथा प्राकृतानुशासन भी प्रकाशित हैं।

२. भट्टनाथ स्वामी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ प्रदर्शिनी सीरीज में प्रकाशित (विजगापट्टम, १९२७)। ग्रन्थ का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण आज भी अपेक्षित है।

वर्तमान थे, १७ वीं शती में। ग्रन्थ के आरम्भ में आधारभूत वैयाकरणों में शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि; भामह तथा वसन्तराज के नामों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की विशिष्टता है भाषा, विभाषा, अपभ्रंश तथा पैशाची के नाना भेदों का विशद विवेचन। ये समस्त भेद १६ हैं जिनमें भाषा है ५ प्रकार की (महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती तथा मागधी); विभाषा भी ५ प्रकार की (शकारी, चाण्डाली, शाबरी, औड्रा, टाक्की), अपभ्रंश होते हैं तीन (नागर, व्राचड तथा उपनागर) तथा पैशाची भी होती है तीन प्रकार की (कैकय, शौरसेनी तथा पाञ्चाल)। प्राकृत-सर्वस्व का प्राकृतकल्पतरु के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से प्राकृत के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का आकलन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राकृत के ये नाना भेद इन दोनों ग्रन्थों का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ये प्रभेद हेमचन्द्र के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। मेरी दृष्टि में ये समस्त भेदोपभेद 'मृच्छकटिक' को ही लक्ष्य कर निर्मित तथा व्याख्यात हैं।

क्रमदीश्वर ने अपने संस्कृत व्याकरण के अन्तर्गत प्राकृत भाषा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भी इसी सम्प्रदाय की मान्यताओं का अनुसरण करता है। लंकेश्वर या रावण के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने शेषनाग के **प्राकृत व्याकरण सूत्र** पर एक वृत्ति लिखी थी, परन्तु मूल ग्रन्थों के हस्तलेख उपलब्ध न होने से रावण का ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रमाणतः पुष्ट नहीं होता।

हेमचन्द्र

प्राकृत के पश्चिमी सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वमान्य ग्रन्थ हेमचन्द्रका प्राकृत व्याकरण है, जो उनके **'शब्दानुशासन'** का अन्तिम अध्याय है। हेमचन्द्र ने अष्टाध्यायी की प्रतिस्पर्धा में अपने 'शब्दानुशासन' को आठ अध्यायों में विभक्त किया है जिनमें आदि के सात अध्याय तो संस्कृत-भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करते हैं और अन्तिम (आठवाँ) अध्याय प्राकृत तथा अपभ्रंश का व्याकरण। हेमचन्द्र का व्याकरण[1] प्राकृत भाषाओं के परिज्ञान के लिए नितान्त उपयुक्त, विपुलतर तथा सुव्यवस्थित है। व्यवस्था तथा वैशद्य की दृष्टि से यह निःसन्देह अनुपम है। इसमें चार पाद हैं। प्रथम पाद (२७१ सूत्र) में सन्धि, व्यञ्जनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, स्वरव्यत्यय तथा व्यञ्जन-व्यत्यय का क्रमशः निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद (२१८ सूत्र) में संयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-

१. हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण डा० पी० एल० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक मोतीलाल लाढजी, पूना, १९२८। पिशेलकृत जर्मन अनुवाद, हाल्ले १८७७–८०। ढुंढिका टीका, भावनगर सं० १९६० विक्रमी।

विपर्यय, तद्धित, निपात तथा अव्यय का क्रमशः विवरण है। तृतीय पाद (१८२ सूत्र) में कारक विभक्तियों तथा क्रिया रचना सम्बन्धी नियम बतलाये गये हैं। चतुर्थ पाद (४४८ सूत्र) के आदि के २५९ सूत्रों में धात्वादेश और फिर शेष में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अन्त में अपभ्रंश भाषा के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। इस ग्रन्थ पर हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है जिसमें सूत्र के अर्थ तथा तदनुसारी उदाहरण दिये गये हैं।

हेमचन्द्र के इस व्याकरण का वैशिष्ट्य ध्यातव्य है। उन्होंने प्राकृत के प्रकारों में वृद्धि कर दी है। प्राकृत-प्रकाशाभिमत चार प्राकृत तो हैं ही, साथ ही साथ आर्ष-प्राकृत का भी वर्णन है, जिनमें जैन आगम की रचना की गई है और जो अर्धमागधी नाम से मुख्यतः प्रख्यात है। कवियों की सामान्य महाराष्ट्री के साथ-साथ वे जैन-महाराष्ट्री पर भी विचार करते हैं; पैशाची के साथ वे 'चूलिका पैशाची' को भी स्थान देते हैं। महाराष्ट्री के उदाहरण वे हाल सत्तसइ तथा सेतुबन्ध से देते हैं। अपभ्रंश का निरूपण तो अपने वैशद्य तथा विस्तार के लिए पण्डितों के विशेष सम्मान का भाजन है। हेमचन्द्र ही एकमात्र प्राकृत वैयाकरण हैं जो अपभ्रंश का विश्लेषण करते हैं तथा उस युग की अज्ञात काव्यपुस्तकों से महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। ये गाथायें उस युग के उत्कृष्ट अपभ्रंश-साहित्य के समुत्कर्ष की निःसन्देह परिचायिकायें हैं जिससे उस समय के साहित्य के सौन्दर्य तथा अस्तित्व का हम भली भाँति अनुमान कर सकते हैं। यह वर्णन अन्तिम ११८ सूत्रों में है और पर्याप्तरूपेण विशद तथा प्रामाणिक है।

इसी सम्प्रदाय के अन्य प्राकृत सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जिन पर त्रिविक्रम ने **प्राकृत-शब्दानुशासन**[1], लक्ष्मीधर ने **षड्भाषा चन्द्रिका**[2] तथा सिंहराज ने **प्राकृत रूपावतार**[3] का निर्माण किया है। इन तीनों ग्रन्थकारों ने एक ही सूत्रों को अपने विभिन्न ग्रन्थों का आधार बनाया है, परन्तु एक ही क्रम से नहीं। त्रिविक्रम के ग्रन्थ में सूत्रों की संख्या १०८५ है। उन्होंने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से विशद टीका है जो पाणिनीय सम्प्रदाय की 'काशिका वृत्ति' के समान प्रामाणिक मानी जाती है। त्रिविक्रम के विषय में हम निश्चितरूप से कुछ नहीं कह सकते। इतना ही कह सकते हैं कि वे

---

१. चौखम्भा संस्कृत-सीरीज में काशी से तथा शोलापुर से डा० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित, १९५४ ई०।

२. श्री के० पी० त्रिवेदी द्वारा बाम्बे संस्कृत सीरीज में सम्पादित।

३. डा० हुल्श ने रायल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन से सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

हेमचन्द्र के पश्चात् तथा मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी से पूर्ववर्ती है अर्थात् १४ शती से ये अर्वाचीन नहीं हो सकते। लक्ष्मीधर अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' को त्रिविक्रम वृत्ति की व्याख्या मानते हैं। यह ग्रन्थ पूरे १०८५ सूत्रों का व्याख्यान करता है, परन्तु भिन्न क्रम से। सूत्रों का यह क्रम निर्देश प्रक्रिया (अर्थात् रूपसिद्धि) को दृष्टि में रखकर किया गया है और इसीलिए यह 'सिद्धान्त कौमुदी' के समान ही प्रक्रियानुसारी प्राकृत व्याकरण है। प्रतीत होता है कि लक्ष्मीधर विजयनगर के तृतीय राज वंश के राजा तिरुमलराज के आश्रित थे जो १६ वीं शती के मध्यभाग में विद्यमान थे। त्रिविक्रम के पश्चाद्वर्ती तथा अप्पय दीक्षित से (जिन्होंने अपने प्राकृत-मणिदीप में इनका नाम निर्देश किया है) पूर्ववर्ती होने से भी इस समय की पुष्टि होती है। फलतः लक्ष्मीधर का समय १६ वीं शती का मध्यभाग मानना उचित होगा (१५३० ई०—१५६० ई०)। सिंहराज ने मूल सूत्रों में से ५७५ सूत्रों को चुनकर इन पर संक्षिप्त टीका लिखी है। इसलिए इसकी तुलना मध्य-कौमुदी अथवा लघु-कौमुदी से दी जा सकती है। इनका समय यथावत् निर्णीत नहीं है। 'प्राकृत रूपावतार' के सम्पादक डा० हुल्श का कहना है कि इस ग्रन्थ में भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी और नागोजिभट्ट के परिभाषेन्दु शेखर से साम्य मिलते हैं। अतएव इनका समय १८वीं शती का अन्तिम काल होना चाहिये।

वाल्मीकि प्राकृत-सूत्र

अब विचारणीय है इन तीनों ग्रन्थकारों द्वारा व्याख्यात मूल सूत्रों का रचयिता कौन है? इसके विषय में पर्याप्त मतभेद है। एक पक्ष त्रिविक्रम को ही इन सूत्रों का निर्माता मानता है और द्वितीय परम्परानुसारी पक्ष वाल्मीकि को इनका रचयिता अङ्गीकार करता है। प्रथममत के पक्षपाती श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी का कहना[2] है कि त्रिविक्रम ने ही इन सूत्रों का निर्माण किया था, क्योंकि ग्रन्थ के अन्त से इसकी सूचना मिलती[3] है तथा ग्रन्थ के आरम्भ में प्राप्त श्लोक से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. 'षड्भाषा' के भीतर प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची तथा अपभ्रंश की गणना की जाती है। यह विभाजन हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में किया जिसका अनुगमन अनेक ग्रन्थकारों ने किया। द्रष्टव्य—डा० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ६४६–६४७)।

२. द्रष्टव्य उनका 'त्रिविक्रम एण्ड हिज फालोवर्स' शीर्षक लेख—इण्डियन एंटिक्वेरी, भाग ४० (१९११ ई०)।

३. शब्दानुशासनमिदं प्रगुणप्रयोगं, त्रैविक्रमं जपत मन्त्रमिवार्थसिद्ध्यै।

इस श्लोक का 'प्रचक्ष्महे' पद इसे ही सिद्ध करता है[1]। त्रिविक्रम ने ही स्वयं अपने ग्रन्थ के स्वरूप का निर्देश इस पद्य में किया है—

तद्भव-तत्सम-देश्य-प्राकृतरूपाणि पश्यतां विदुषाम् ।
दर्पणतयेयमवनौ वृत्तिस् त्रैविक्रमी जयति ॥

यहाँ यह ग्रन्थ 'वृत्ति' ही कहा गया है और यही इसका यथार्थ रूप है। फलतः त्रिविक्रम वृत्तिकार ही, सूत्रकार नहीं। सूत्रों के रचयिता का नामोल्लेख लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषा चन्द्रिका' में इस प्रकार किया है—

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत् ।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना ॥

'वाल्मीकि' मूलसूत्रों के रचयिता है। परम्परा से ये वे ही वाल्मीकि हैं जिन्होंने रामायण का निर्माण किया था। 'शम्भुरहस्य' ग्रन्थ से इसी परम्परा की पुष्टि होती है, परन्तु सूत्रों के स्वरूप का विवेचन उन्हें बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं कर रहा है। श्री त्रिवेदी का मत है कि ये सूत्र हेमचन्द्र के सूत्रों की अपेक्षा छोटे तथा सुव्यवस्थित हैं जिससे इनकी पश्चाद्भाविता सिद्ध होती है। तथ्य यही प्रतीत होता है कि वाल्मीकि नामक किसी व्यक्ति में हेमचन्द्र के पश्चात् त्रयोदश शती में इनकी रचना की, परन्तु नामसाम्य के कारण इनकी रचना रामायणकर्ता के ऊपर आरोपित की गई प्रतीत होती है। 'शम्भु रहस्य'[2] ने तो दोनों के ऐक्य का स्पष्ट संकेत किया है।

---

१. प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानात् सिद्धाच्च यद् भवेत् ।
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥

२. 'शम्भुरहस्य' एक प्राचीन प्रचण्ड ग्रन्थ है जिसके पूरे २६८वें अध्याय में प्राकृत की प्रशस्त प्रशंसा की गई है—

को विनिन्देदिमां भाषां (प्राकृतीं) भारतीमुग्धभाषितम् ।
यस्याः प्रचेतसः पुत्रो व्याकर्ता भगवान् ऋषिः ॥
पाणिन्याद्यैः शिक्षितत्वात् संस्कृती स्यात् यथोत्तमा ।
प्राचेतस-व्याकृतत्वात् प्राकृत्यपि तथोत्तमा ॥

विशेष के लिए द्रष्टव्य, मेरा लेख—'वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र' (नागरी प्र० पत्रिका भाग ७, सं० १९८३; पृष्ठ १०३–१११)।

षोडश-सप्तदश शतक में प्राकृत व्याकरण के निर्माण की कला आगे बढ़ती गई। इस युग में जैन तथा अजैन उभय ग्रन्थकारों ने प्राकृत-भाषा का व्याकरण बनाया। अजैन ग्रन्थकारों में संस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के ख्यातनामा विद्वानों को प्राकृत व्याकरण का निर्माण करते देख आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। ऐसे विद्वानों में वैयाकरणकेसरी शेष श्रीकृष्ण ने (१७ श०) 'प्राकृत चन्द्रिका' की तथा दार्शनिक-शिरोमणि श्री अप्पयदीक्षित (१५५३ सन्–१६३६ ई०) ने प्राकृत-मणिदीप की रचना कर इस विभाग में ब्राह्मण लेखकों के सहयोग का रूप परिष्कृत किया। ज्योतिर्विद् सरस के पुत्र पण्डित रघुनाथ ने ४१९ सूत्रों में प्राकृतानन्द का निर्माण किया जिसमें प्राकृत-प्रकाश के ही सूत्र प्रक्रियानुसारी क्रम से व्यवस्थित किये गये है। जैन ग्रन्थकारों में शुभचन्द्र ने 'शब्दचिन्तामणि' का, श्रुतसागर ने 'औदार्य-चिन्तामणि' का, समन्त-भद्र ने प्राकृत व्याकरण और देवसुन्दर ने प्राकृत-युक्ति का निर्माण किया। इससे स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने अपनी धार्मिक भाषा मानकर प्राकृत भाषा के विश्लेषण में बड़ा मनोयोग दिया। इन ग्रन्थों के पीछे हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अवश्यमेव प्रेरणास्रोत का काम करता था। इधर के ग्रन्थों में जैन-सिद्धान्त कौमुदी का नाम निर्दिष्ट किया जा सकता है जिसमें अर्धमागधी का व्याकरण[1] विस्तार के साथ दिया गया है। अवश्यमेव इस ग्रन्थ का आदर्श 'सिद्धान्त कौमुदी' है, परन्तु आवश्यक नियमों के एकत्र संकलन के हेतु यह ग्रन्थ अपनी उपयोगिता रखता है।

उन्नीसवीं शती में यूरोपियन विद्वानों की दृष्टि जैन के आगम ग्रन्थों की ओर आकृष्ट हुई जिससे उन्होंने प्राकृत का विशेष अनुशीलन वैज्ञानिक पद्धति पर करना शुरू किया। ऐसे विद्वानों में याकोबी, ग्रियर्सन तथा पिशल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। याकोबी ने जैन महाराष्ट्री के अनुशीलन पर आग्रह किया। ग्रियर्सन ने विभाषा तथा पैशाची के विश्लेषण पर मनोयोग लगाया। पिशल का काम सब की अपेक्षा विशद, विस्तृत तथा विशाल सिद्ध हुआ। इन्होंने जर्मन भाषा में 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन'[३]

---

१. ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों के उपलब्धि-स्थल के निमित्त द्रष्टव्य डा० जगदीशचन्द्र जैन रचित 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ६४७–६४९ (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१)।

२. प्रकाश मेहरचन्द लछमनदास, लाहौर, १९३७।

३. इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० सुभद्र झा ने किया है तथा मोतीलाल बनारसी दास ने प्रकाशित किया है (वाराणसी, १९६० ई०)। हिन्दी अनुवाद डा० हेमचन्द्र जोशी ने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नाम से किया है (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।

(१९०० ई० में प्रकाशित) नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखकर विपुल कीर्ति अर्जित की। यह प्राकृत भाषाओं के स्वरूप-विश्लेषण के लिए निर्मित्त वस्तुतः एक विश्वसनीय विश्वकोश है जिसमें प्राकृत की भाषा तथा विभाषाओं के रूपों का वैज्ञानिक विवरण है। यह उपलब्ध लक्ष्य तथा लक्षण-ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर ग्रथित हैं और अर्धशताब्दी से अधिक समय बीतने पर भी आज भी उपयोगी तथा प्रामाणिक है।